राष्ट्रभाषा

डा० राम विलास शर्मा

अक्षर प्रकाशन प्रा० लिमिटेड
२/३६, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

प्रकाशक अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०
२/३६, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

●

मूल्य बारह रुपये

प्रथम संस्करण दिसम्बर, १९६५

●

आवरण

नरेन्द्र श्रीवास्तव

●

मुद्रक

हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस

विद्याश्रम, क्वींस रोड,

दिल्ली

●

पुस्तक-बंध

विजय बुक बाइंडिंग हाउस, दिल्ली

भूमिका

भाषा की समस्या मूलत. जातीय समस्या का ही एक अंग है। इस देश में अनेक भाषाएँ बोलनेवाली जातियाँ रहती हैं। इनसे मिलकर भारत राष्ट्र बना है। इस राष्ट्र में जातियों की सम्पर्क भाषा क्या हो, एक ही सम्पर्क भाषा हो या अनेक हों—यह समस्या का एक पक्ष है। कुछ लोग इस देश को उपमहाद्वीप कहते हैं; उनका मत है कि राष्ट्रीयता का भाव अंग्रेजों का विरोध करने से पैदा हुआ ; वास्तव मे यह देश राष्ट्र नही है क्योंकि यहाँ एक भाषा के बदले अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। इस तरह राष्ट्रभाषा की समस्या का विवेचन करते हुए राष्ट्र की व्याख्या करना आवश्यक हो जाता है, विशेषकर भारतीय राष्ट्रीयता के ऐतिहासिक विकास पर कुछ कहना आवश्यक हो जाता है। राष्ट्रभाषा की समस्या विशुद्ध भाषा-विज्ञान की समस्या न होकर बहुजातीय राष्ट्र के गठन और विकास की ऐतिहासिक-राजनीतिक समस्या बन जाती है।

भारत की जातियों में हिन्दी-भाषी जाति सख्या की दृष्टि से सबसे बड़ी है। कुछ लोग इस जाति के अस्तित्व से ही इन्कार करते हैं। वे कहते हैं कि उत्तर भारत के पुराने जनपदो में रहनेवाले लोग स्वतन्त्र जातियाँ हैं; बुन्देलखण्डी, अवधी, ब्रजभाषा आदि हिन्दी की बोलियाँ नही हैं, वे हिन्दी से स्वतन्त्र भाषाएँ है। हिन्दी क्षेत्र में भाषा और बोलियों की यह समस्या हिन्दीभाषी जाति के विकास की समस्या बन जाती है। इस विकास को समझे बिना भाषा और बोली के प्रश्नों का उत्तर नही दिया जा सकता। भाषा-समस्या का यह दूसरा पक्ष है।

इसी हिन्दी प्रदेश में बोलचाल की भाषा के आधार पर साहित्यिक भाषा के दो रूप—हिन्दी और उर्दू—विकसित हुए। उर्दू मुसलमानो की भाषा है या हिन्दुओं और मुसलमानों के मिलने से बनी, भारत में जो मुसलमान आये वे एक क़ौम के थे या कई क़ौमों के, उनकी एक भाषा थी या वे कई भाषाएँ बोलते थे, क्या हिन्दी का विकास हिन्दू राष्ट्रवाद के अभ्युत्थान के कारण हुआ, क्या मुसलमानों की अलग क़ौम है, उर्दू को क्षेत्रीय भाषा बनाया जाय या नहीं—ये सभी प्रश्न हिन्दी-भाषी जाति के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के साथ जुड़े हुए है। भाषा-समस्या का यह तीसरा पक्ष हुआ।

भारतीय जनता के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने बहुजातीय राष्ट्र की विशेषताएँ पहचानें, इस राष्ट्र में हिन्दी-भाषी जाति की भूमिका पहचानें। इस दृष्टि से भारत की भाषा-समस्या का व्यापक महत्त्व है, इसमें

प्रकाशक अमर प्रकाशन प्रा० लि०
२/३६, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

●

मूल्य बारह रुपये

प्रथम संस्करण दिसम्बर, १९६५

●

आवरण
नरेन्द्र श्रीवास्तव

●

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
विद्यालय, क्वींस रोड,
दिल्ली

●

पुस्तक-बंध
विजय बुक बाइंडिंग हाउस, दिल्ली

भूमिका

भाषा की समस्या मूलतः जातीय समस्या का ही एक अंग है। इस देश में अनेक भाषाएँ बोलनेवाली जातियाँ रहती हैं। इनसे मिलकर भारत राष्ट्र बना है। इस राष्ट्र में जातियों की सम्पर्क भाषा क्या हो, एक ही सम्पर्क भाषा हो या अनेक हों—यह समस्या का एक पक्ष है। कुछ लोग इस देश को उपमहाद्वीप कहते हैं; उनका मत है कि राष्ट्रीयता का भाव अंग्रेजों का विरोध करने से पैदा हुआ ; वास्तव में यह देश राष्ट्र नहीं है क्योंकि यहाँ एक भाषा के बदले अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। इस तरह राष्ट्रभाषा की समस्या का विवेचन करते हुए राष्ट्र की व्याख्या करना आवश्यक हो जाता है, विशेषकर भारतीय राष्ट्रीयता के ऐतिहासिक विकास पर कुछ कहना आवश्यक हो जाता है। राष्ट्रभाषा की समस्या विशुद्ध भाषा-विज्ञान की समस्या न होकर बहुजातीय राष्ट्र के गठन और विकास की ऐतिहासिक-राजनीतिक समस्या बन जाती है।

भारत की जातियों में हिन्दी-भाषी जाति संख्या की दृष्टि से सबसे बड़ी है। कुछ लोग इस जाति के अस्तित्व से ही इन्कार करते हैं। वे कहते हैं कि उत्तर भारत के पुराने जनपदों मे रहनेवाले लोग स्वतन्त्र जातियाँ हैं; बुन्देलखण्डी, अवधी, व्रजभाषा आदि हिन्दी की बोलियाँ नहीं हैं, वे हिन्दी से स्वतन्त्र भाषाएँ हैं। हिन्दी क्षेत्र में भाषा और बोलियों की यह समस्या हिन्दीभाषी जाति के विकास की समस्या बन जाती है। इस विकास को समझे बिना भाषा और बोली के प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जा सकता। भाषा-समस्या का यह दूसरा पक्ष है।

इसी हिन्दी प्रदेश में बोलचाल की भाषा के आधार पर साहित्यिक भाषा के दो रूप—हिन्दी और उर्दू—विकसित हुए। उर्दू मुसलमानों की भाषा है या हिन्दुओं और मुसलमानों के मिलने से बनी, भारत में जो मुसलमान आये वे एक क़ौम के थे या कई क़ौमों के, उनकी एक भाषा थी या वे कई भाषाएँ बोलते थे, क्या हिन्दी का विकास हिन्दू राष्ट्रवाद के अभ्युत्थान के कारण हुआ, क्या मुसलमानों की अलग क़ौम है, उर्दू को क्षेत्रीय भाषा बनाया जाय या नहीं—ये सभी प्रश्न हिन्दी-भाषी जाति के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के साथ जुड़े हुए हैं। भाषा-समस्या का यह तीसरा पक्ष हुआ।

भारतीय जनता के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने बहुजातीय राष्ट्र की विशेषताएँ पहचानें, इस राष्ट्र में हिन्दी-भाषी जाति की भूमिका पहचानें। इस दृष्टि से भारत की भाषा-समस्या का व्यापक महत्त्व है, इसमे

किसी को सन्देह न होना चाहिए।

इस पुस्तक में पिछले तीस वर्षों में भाषा-समस्या पर लिखे हुए मेरे अधिकांश निबंधों का संग्रह है। इसमें पाठक देख सकेंगे कि इस अवधि में भाषा-समस्या के कौन से पक्ष, किस समय एक हिन्दी लेखक के मन को आन्दोलित करते रहे। इन वर्षों में मेरे विचार बदले हैं। भाषा समस्या के विभिन्न पक्षों पर अलग-अलग समय पर कम-ज्यादा जोर दिया गया है किन्तु मेरी तीन बुनियादी मान्यताओं में कोई अन्तर नहीं आया। पहली यह कि अंग्रेजी भारत की सभी भाषाओं पर साम्राज्यवादियों द्वारा लादी हुई भाषा है और उसका प्रभुत्व जल्दी से-जल्दी खत्म करना चाहिए। दूसरी यह कि हिन्दी और उर्दू मूलतः एक ही भाषा हैं और आगे चलकर दोनों घुल मिलकर एक होंगी, बोलचाल की भाषा के आधार पर एक ही साहित्यिक भाषा का विकास होगा। तीसरी यह कि बुन्देल-खण्डी, ब्रज अवधी आदि हिन्दी की बोलियाँ हैं स्वतन्त्र भाषाएँ नहीं हैं।

भारत की बहुजातीय राष्ट्रीयता के बारे में, हिन्दी भाषी जाति के विकास के बारे में हिन्दी-उर्दू की बुनियादी एकता और हिन्दी और जनपदीय बोलियों के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में मेरी मान्यताओं में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

भारतीय संविधान के अनुसार सन् '६५ में केन्द्र के राजकीय काम-काज में अंग्रेजी का व्यवहार समाप्त हो जाना चाहिए था। स्वभावतः इस बीच मैंने जो लेख लिखे हैं उनका सम्बन्ध अंग्रेजी हिन्दी अथवा अंग्रेजी बनाम भारतीय भाषाओं वाले विवाद से अधिक है। मेरे कुछ मित्रों ने मुझे याद दिलाया है कि सन् '४६ में मैं अनिवार्य राजभाषा का विरोधी था, अब हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनवाने के लिए अन्य राष्ट्रवादियों की तरह दूसरों पर जोर-जबरदस्ती से हिन्दी लादने का आन्दोलन कर रहा हूँ।

इन मित्रों की सेवा में निवेदन है कि जैसे मैं अनिवार्य राजभाषा का विरोधी सन् '४६ में था, वैसे ही आज भी हूँ। मैं किसी भी भाषा पर हिन्दी लादने का विरोध करता हूँ। मैं हिन्दी को सम्पर्क-भाषा बनाने के पक्ष में हूँ, दूसरी भाषाओं के क्षेत्र में राजकीय और शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों में हिन्दी के व्यवहार के पक्ष में नहीं हूँ। सम्पर्क-भाषा को भी कुछ लोग हिन्दी का लादा जाना समझते हैं। मैं किसी भी प्रदेश की इच्छा के विरुद्ध उसके लिए हिन्दी को सम्पर्क भाषा बनाने का भी समर्थन नहीं करता। लेकिन मैं यह भी कहता हूँ, अंग्रेजी प्रेमियों को हिन्दीभाषी प्रदेशों पर अंग्रेजी लादने का कोई अधिकार नहीं है। अहिन्दी भाषी प्रदेशों के नेता नहीं चाहते कि केन्द्र में अंग्रेजी की जगह हिन्दी का चलन हो, उनकी इच्छा। वे केन्द्र में हिन्दी के अलावा अन्य भाषाओं का चलन कर सकते हैं। इसमें उन्हें अराजकता दिखायी देती हो तो अंग्रेजी ही चलायें लेकिन वे हिन्दीभाषियों को बाध्य नहीं कर सकते कि लोकसभा राज्यसभा तथा केन्द्रीय राजकाज में वे भी अंग्रेजी का व्यवहार करें।

हिन्दी भाषी जाति भारत की सबसे बड़ी जाति है। वह केन्द्र में अपने प्रतिनिधियों को हिन्दी लिखने-बोलने के लिए बाध्य करके अंग्रेजी का प्रभुत्व खत्म कर सकती है।

१४ मार्च, सन्'६५ के 'धर्मयुग' में इस आशय का सुझाव देखकर कम्युनिस्ट नेता श्री योगीन्द्र शर्मा ने लिखा था कि यह गृहयुद्ध की ललकार है।

मई, सन् '५८ के 'समालोचक' में मैंने लिखा था, "यदि हिन्दी-भाषी जनता संगठित हो, यदि वह अपने प्रदेश में हिन्दी को पूर्ण रूप से राजकाज की भाषा बनाये तो यह असम्भव है कि यह विशाल प्रदेश और उसकी बहुसंख्यक जनता सारे देश को अपने साथ खींचकर न ले चल सके।"

६ जनवरी, सन् '६३ के 'धर्मयुग' में मैंने लिखा था, "यदि समस्त हिन्दी-भाषी प्रदेश में शिक्षा-संस्थाओं, न्यायालयों, राजकीय कार्यों मे हर स्तर पर हिन्दी का व्यवहार होने लगे, यदि विधान-परिषदों के सदस्य प्रतिज्ञा करें कि वे अपना सार्वजनिक कार्य हिन्दी में ही करेंगे, यदि लोकसभा के सदस्य तय कर लें कि वे राजभाषा के रूप में हिन्दी का ही व्यवहार करेंगे, तो क्या इसमें किसी को सन्देह हो सकता है कि समूचे राष्ट्र का वातावरण बदल जायेगा और हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाते जरा भी देर न लगेगी।"

योगीन्द्र शर्माजी नोट कर ले, जिसे वह गृहयुद्ध की ललकार कहते हैं, वह बात काफ़ी पुरानी है।

इस संग्रह में काफ़ी लेख ऐसे हैं जो कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों और मार्क्सवादी लेखकों में आपसी बहस के लिए लिखे गये थे। सन् '४६ में जो लेख 'कम्युनिस्ट' पत्रिका में छपा था, उसके ऊपर लिखा था, 'बहस के लिए लेख'। सितम्बर, सन् '६४ के 'न्यूएज' (मासिक) में हिन्दी और राष्ट्रीय एकता पर मेरा जो लेख छपा था, उस पर भी लिखा था, 'बहस के लिए लेख'। यह बताना इसलिए आवश्यक है कि पाठकों को यह भ्रम न हो कि मैंने अपने लेखों में जो बातें कही हैं, वे कम्युनिस्ट पार्टी की स्वीकृत मान्यताएँ हैं।

यद्यपि मैंने हिन्दी-उर्दू समस्या तथा हिन्दी क्षेत्र में भाषा और बोलियों के प्रश्न पर अनेक बार और काफ़ी विस्तार से लिखा है, किन्तु मेरी स्थापनाओं का विरोध करने-वालों ने कही भी मेरे तर्कों का खण्डन नही किया। इसके बदले वे मुँहज़बानी मेरे बारे में अफ़वाहें फैलाते रहे हैं। इधर जब से अंग्रेज़ी को लेकर संघर्ष तेज़ हुआ है, वे उन अफ़-वाहों को छापे के हरूफ़ों में प्रकाशित भी करने लगे हैं। इन मित्रो से निवेदन है कि फ़तवे देने से भाषा-समस्या का समाधान नहीं हो सकता। तर्क का उत्तर तर्क से ही दीजिए।

भाषा-समस्या का घनिष्ठ सम्बन्ध राष्ट्रीय एकता से है, यह बात किसी से छिपी नहीं है। जिस राष्ट्र में जितनी ही आन्तरिक दृढ़ता होगी उतना ही वह हर तरह के तनाव और बोझ सह लेने की स्थिति में होगा। जिस देश की फ़ौज और जनता में दृढ़ भाईचारा होता है; जिस फ़ौज में नायकों और सैनिकों के बीच दृढ़ भाईचारा होता है, जिस देश की राज्यसत्ता के पीछे संगठित जनता की शक्ति होती है वह देश अपराजेय होता है। भाषा-समस्या का सही समाधान राष्ट्रीय एकता को दृढ़ करके उसे अजेय बना सकता है; भाषा-समस्या का ग़लत समाधान लोगों में असन्तोष पैदा करके राष्ट्रीय एकता को कमजोर कर सकता है। इस तरह का असन्तोष हर अवस्था में विघटनकारी

होता है। दीर्घकालीन युद्ध की परिस्थितियों में वह विशेष रूप से खतरनाक साबित हो सकता है। हमारी राष्ट्रीय एकता हर परिस्थिति में हर तरह का तनाव बर्दाश्त करके अटूट बनी रहे, हमें यही प्रयत्न करना चाहिए।

इस संग्रह के कुछ लेख अंग्रेज़ी में प्रकाशित हुए थे, उनका यहाँ अनुवाद दिया गया है। 'भाषा और साहित्य में पाकिस्तान' लखनऊ की एक बँगला पत्रिका में प्रकाशित हुआ था, उसका भी अनुवाद दिया गया है। अधिकांश लेख हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं और यहाँ पहली बार संकलित किये गये हैं। कुछ लेख मेरे अन्य निबन्ध-संग्रहों में आ चुके हैं। अन्तिम तीन लेख इस संग्रह में पहली बार प्रकाशित हो रहे हैं। कुछ लेखों के अनावश्यक अंश काट दिये गये हैं किन्तु उनकी कोई मुख्य स्थापना न बदले भले ही दृष्टि में आज वह सही हो या गलत, इसका मैंने ध्यान रखा है। सन् '४६ वाले निबन्ध में मैंने अनिवार्य केन्द्रीय राजभाषा का विरोध किया था और कहा था कि हिन्दी को केन्द्रीय राजभाषा बनाने में बड़े पूँजीपतियों को लाभ होगा। यह स्थापना उस निबन्ध में रहने दी है यद्यपि बड़े पूँजीपतियों की भूमिका और केन्द्रीय राजभाषा के बारे में मेरे विचार वही नहीं हैं। मैं केन्द्रीय राजभाषा को अनिवार्य बना देने वाली दूसरों की इच्छा के विरुद्ध उन पर लादने का विरोधी हूँ किन्तु इस बात को आवश्यक और वांछनीय समझता हूँ कि भारत के विभिन्न दल हिन्दी को केन्द्रीय राजभाषा बनाने के लिए प्रयत्न करें। इन दलों के नेता ही जनमत के प्रतिनिधि बनते हैं, वे अपनी पार्टियों के केन्द्रीय दफ्तरों से अंग्रेज़ी निकालें तो उन्हें अखिल भारतीय सम्पर्क के लिए पहले अपनी पार्टी में, फिर शासन व्यवस्था में हिन्दी के व्यवहार की उपयोगिता दिखायी देने लगे।

भारत की राजनीतिक पार्टियों में मेरा सम्बन्ध कम्युनिस्ट पार्टी से रहा है। मैंने यह आवश्यक समझा कि खुद कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर अंग्रेज़ी का व्यवहार खत्म करने के लिए आन्दोलन किया जाय। इस आशय से कुछ बातें मैंने सितम्बर, सन् '६४ की 'न्यू एज' पत्रिका में लिखी थीं। यह पत्रिका भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का मुखपत्र है। 'भाषा की समस्या—अति आवश्यक' और 'भाषा की समस्या और राष्ट्रीय विघटन' लेख 'जनशक्ति' में प्रकाशित हुए। जनशक्ति भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की बिहार शाखा का मुखपत्र है। इसमें श्री योगीन्द्र शर्मा ने मेरी मान्यताओं का खण्डन करते हुए दो लेख लिखे। 'भाषा की समस्या और मज़दूर वर्ग' तथा 'भारत की राजभाषा अंग्रेज़ी और राष्ट्रीय जनतांत्रिक मोर्चा' उनके लेखों के प्रत्युत्तर हैं। ये भी 'जनशक्ति' में प्रकाशित हुए थे।

मैं 'जनशक्ति' के सम्पादकों का कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी के एक अखिल भारतीय नेता के विरुद्ध मेरे तीव्र खण्डनात्मक लेख छापे।

मेरे अनेक भाषा-सम्बन्धी लेख धर्मयुग में प्रकाशित हुए हैं जिससे मेरी बात

हजारों ऐसे पाठकों तक पहुँची है जो मेरी पुस्तकों और लेखों से एकदम अपरिचित थे। इसके लिए मैं 'धर्मयुग' के सम्पादकों का कृतज्ञ हूँ। 'धर्मयुग' ने अंग्रेज़ी-विरोधी आन्दोलन में सक्रिय भाग लेकर सराहनीय कार्य किया है। उसका बीटनिक-प्रेम थोड़ा कम हो जाय तो वह हिन्दी भाषा और साहित्य की और भी सेवा करे।

५ अक्तूबर, '६५

—रामविलास शर्मा

अनुक्रम

परिशिष्ट—१

परिशिष्ट— २

परिशिष्ट—१

परिशिष्ट— २

राष्ट्रभाषा की समस्या

१

स्वदेशी भाषा और अहिंसावादी साहित्य

हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के अनेक पदाधिकारी इस बार अपनी असाहित्यिकता के कारण एक विशेषता लिये हैं। साहित्य में जितने भी जन अधिक संख्या में दिलचस्पी लें, हमें उससे प्रसन्न होना चाहिए। परन्तु ये मेधावी हिन्दी-साहित्य के पास विद्यार्थी के रूप में नहीं आए। उसे जानने-पहचानने की उन्होंने चेष्टा नहीं की। राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करनेवाली अपनी प्रकृति के अनुसार उन्होंने हिन्दी-साहित्यिकों को तरह-तरह के उपदेश दिए हैं। यदि वे हमारे साहित्य का सहृदयतापूर्वक अनुशीलन कर उसकी त्रुटियाँ साहित्यिकों को बताते तो उनके कार्य पर सबको हर्ष होता। पर उनकी असाहित्यिकता और साहित्य के अज्ञान का घोष उनके उपदेश की मधुर वाणी से मेल नहीं खाता।

सम्मेलन के सभापति ने, शायद अपने पूर्व राष्ट्रपति होने का स्मरण कर कहा है—"सुविधा के विचार से हिन्दी को राष्ट्रभाषा हमने माना है।" फिर इस सुविधा के मार्ग में जो अड़चन आएँ, उन्हें क्यों न हटाया जाए? आप कहते हैं—"हिन्दुस्तान में हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, सिख बसते हैं और तो भी वह हिन्दुस्तान है। उसी प्रकार हिन्दी में सभी भाषाओं से उत्तम शब्द हम लेंगे और तो भी वह हिन्दी ही रहेगी।" जैसे कांग्रेस, राष्ट्र की एकता का प्रतीक, अपने भीतर सभी प्रान्तों के प्रतिनिधि रखती है, वैसे हिन्दी तब तक राष्ट्रभाषा न होगी, जब तक उसमें सभी भाषाओं के प्रतिनिधि शब्द न होंगे। सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष श्री व्रजलाल वियाणी ने इस बात को भली-भाँति समझा है और उसे सबसे अधिक स्पष्ट रूप में कहा है—"हिन्दी-भाषा के प्रचार तथा सर्वप्रियता के लिए आवश्यक है कि उसका शब्द-भण्डार सब भाषाओं से लिए हुए शब्दों से भरा हो। हरेक प्रान्तवासी में हिन्दी के लिए ममत्व पैदा होने के लिए हिन्दी के शब्द-कोश में उसका भी हिस्सा होना आवश्यक है।" जब तक यह शब्दकोश न बने, तब तक इस भाषा की कल्पना करना कठिन है। अभी अन्य प्रान्तों के भिन्न भाषा-भाषी हिन्दी ही सीखते थे, अब वे उसके साथ थोड़ी-थोड़ी सभी प्रान्तीय भाषाएँ सीखेंगे। हिन्दी बोलनेवाले, जिन्हें तमिल, कन्नड़, बँगला, मराठी, गुजराती आदि का ज्ञान नहीं—कोश देखकर शुद्ध हिन्दी बोलेंगे। यह भाषा हिन्दी होगी या और कुछ, इसे काका साहब श्री कालेलकर ने अच्छी तरह समझा है। इस भाषा का अपना नामकरण करते हुए उन्होंने

चाहता था कि उसीके अनुकूल आचरण करने के भाव पाठक या श्रोता के मन में उत्पन्न हों। आधुनिक साहित्य में कलात्मक आनन्द की ओर अधिक ध्यान है। किसी ख़ूनी का चित्रण कर कवि हमें ख़ूनी बनने के लिए नहीं कहता। संसार के बड़े-से-बड़े साहित्यिकों ने पाप को अपना विषय बनाकर अद्भुत कृतियों को जन्म दिया है। अस्तु, यदि स्त्री-पुरुष के पारस्परिक मनोभावों और आकर्षण-प्रत्याकर्षण का स्वस्थ वर्णन हो तो वह साहित्य भी समाज को उठानेवाला होगा।

काका कालेलकर को साहित्य-नियन्त्रण के सम्बन्ध में और किसी से कम चिन्ता नहीं। आज साहित्य पर न राजसत्ता का नियन्त्रण है, न धर्माचार्यों का। "जो लोग साहित्य का रस जानते है और समाज का हित चाहते हैं, इतिहास और आदर्श, दोनो की दृष्टि रखकर जो लोग समाज की प्रगति में मदद कर सकते है, ऐसे पुरुषो का ही नियन्त्रण साहित्य पर रहना चाहिए। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमारे साहित्याचार्यों ने अपना यह कर्तव्य छोड़-सा दिया है और साहित्य-जगत् में मनमानी मचाने की ठान ली है।" हमे काका साहब से सहानुभूति प्रकट करने की आवश्यकता नही, हमारे यहाँ आचार्य लोग अब भी अधिकांश प्यूरिटन प्रवृत्ति के है। यह सभी जानते हैं कि अश्लीलता का कही आभास पाते ही वे धरती सिर पर उठा लेते है। परन्तु काका साहब को इन पर विश्वास नही। उन्हें आशा है, एक दिन साहित्यिक शासन की बागडोर उनके हाथों में आएगी; तब वह इन उच्छृङ्खल व्यक्तियों को गिन-गिनकर फाँसी पर लटकाएँगे।—"भारतीय साहित्य परिषद् जब पूर्ण रूप से विकसित होगी, तब साहित्य-शुद्धि सँभालने की ज़िम्मेवारी क़ानून या धर्मतन्त्र के हाथों में नहीं रहेगी, साहित्य ही अपने क्षेत्र को सँभाल लेगा।"

आदर्श साहित्य-निर्माण के लिए गांधीजी, बाबू राजेन्द्रप्रसाद, काका साहब आदि सभी ने उपदेश दिए हैं। इन्हें देखकर कोई अपरिचित यही समझेगा कि हिन्दी में एकदम पतित और समाज का अहित करनेवाला साहित्य रचा जा रहा है। इसका उत्तर एक लेख में देना सम्भव नहीं। साहित्यिकों के नाम गिनाने की अपेक्षा उनकी कृतियों का सुचारु विवेचन अधिक श्रेयस्कर होगा। तब तक अपने नेताओं की शुभ-कामनाओं के लिए अनुगृहीत होते हुए हम यही आशा करते हैं कि यदि उनका हमारे साहित्य से कुछ दिन और सम्पर्क रहा तो वे उसमें अपने अनेक सिद्धान्तों को कार्य-रूप मे परिणत पाएँगे। (१९३६)

कहा है—"स्वदेशी भाषा में हम बोलेंगे।"

भाषा सस्कार के साथ इन हिन्दी के शुभेच्छुकों को हमारे साहित्य की उन्नति का भी ध्यान है। राजनीतिक सुविधाओं के लिए हिन्दी की आवश्यकता नही। बाबू राजेन्द्रप्रसाद के अनुसार 'राष्ट्र का प्राण साहित्य होता है और उस साहित्य का निर्माणकर्ता समाज का बहुत बडा सेवक होता है।' तब हिन्दी-साहित्य की त्रुटियाँ दूर होनी ही चाहिएँ। काका कालेलकर के अनुसार आधुनिक साहित्य का पूर्व भाग दूसरो की नकल का फल है। "इस जमाने का हमारा प्रारम्भिक साहित्य अनुकरणरूप ही था और अनुकरण तो निष्प्राण ही हो सकता है।" 'हमारे साहित्य' में किन किन साहित्यों की गणना है, नही मालूम यदि हिन्दी की है तो उसके साथ अन्याय है। 'इस जमाने का हमारा प्रारम्भिक साहित्य' एक ऐसा गोल वाक्य है कि समय ठीक से निर्धारित नही हो सकता। फिर भी भारतेन्दु से लेकर आज तक जो नये युग का जीवन है, उसमे उत्थान किसी भाग के साहित्य पर ऊपर का आक्षेप लागू नही होता। अन्य साहित्यिक जागृतियो की भाँति हमारे यहाँ बाहरी साहित्यो के सम्पर्क से विचारो मे नवीनता आई है, पुरानी रूढियो का ध्वस और नई धाराओ का निर्माण हुआ है। यदि यह अनुकरण है तो कोई भी जीवित साहित्य उससे नही बचा।

"पिछले थोडे वर्षों मे हिन्दी ने बँगला, मराठी, गुजराती आदि प्रान्तीय साहित्यों से अपना साहित्य कम समृद्ध नही किया है। आदान-प्रदान मे हिन्दी सिद्ध हो चुकी है। हम हिन्दी को जो कुछ देते हैं, वह उसे सशोधित कर देश के कोने-कोने मे पहुँचा देती है।" किसी नवजाग्रत भाषा व साहित्य की ऊँचाई जल्दी आँकना आसान नही। जो कृतियाँ शीघ्र प्रसिद्धि पाती हैं, वे बहुधा पाठकों की पूर्व-निश्चित धारणाओं के बहुत-कुछ अनुकूल तथा कुछ-कुछ पुरानी रूढियो का अवलम्ब लिये होती हैं। हिन्दी में अब भी इतने रूढिवादी हैं कि पक्के क्रान्तिकारियो को उचित श्रेय या विज्ञापन नही मिला। जो हमारे यहाँ का वास्तविक मौलिक साहित्य है, उसकी समुचित छानबीन धीरे-धीरे ही सम्भव है। परन्तु वैसा करना उसकी ओर से आँख मूदकर राय देने से सम्भव नही, उसके लिए अध्ययन करना पडेगा।

हिन्दी भाषा मे अरबी फारसी के प्रचलित शब्दो के बहिष्कार के समान हमारे नेताओं ने हिन्दी साहित्य मे अश्लीलता का दुःस्वप्न भी देखा है। गाधीजी का वश चले तो वह साहित्य-सम्मेलन में उस रस को त्याज्य ही मनवा दें। वश चले तो गाधीजी ब्रह्मचर्य द्वारा सबसे सन्तति निग्रह करवा दें। परन्तु वश चले तो भी यह हानिकर होगा। समयानुकूल प्रकृति की पुकारों को न मानने से बुरा फल मिलता है। असाधारणों का नियम सब पर लागू नहीं हो सकता। यदि साहित्य का सम्पर्क जीवन से रहेगा तो उसमे शृगारी वर्णन अवश्य आएँगे। क्या हिन्दी, क्या सस्कृत, बडे-बडे सन्तो ने अपने साहित्य में जीवन का पूर्ण चित्र उतारने के लिए शृगार का बहिष्कार नहीं किया। देखना केवल यह होता है कि यह शृगार पतित मनोभावो का परिचायक तो नहीं है। हिन्दी के गुजर साहित्य के लिए यह आक्षेप सही हो सकता है। तब कवि जिस रस का वर्णन करता था,

सिर झुका देते तो आज का रूसी-साहित्य कहाँ होता? हमारे देश में भी अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग करके लोग अपनी शिक्षा का परिचय देना आवश्यक समझते है। जा बाबूवर्ग इंग्लिस्तानी में बातचीत करता है, वह इसलिए कि अपनी भाषा में विचार करने की उसमें अक्षमता है। उसकी भाषा तीन कौड़ी की होती है और भाव दो कौड़ी के। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए कुछ लोगों ने अंग्रेज़ी, अरबी, फारसी—सभी से शब्द भर लेने की सलाह दी है। जहाँ नये-नये अर्थों के शब्द खोजने पड़ें, वहाँ संस्कृत से न लेकर उन्होंने अंग्रेजी से लेने को कहा है। मानो अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्द खुद उसके घर के हों, उसने उन्हें लैटिन और ग्रीक से उधार न लिया हो। ग्रीक और लैटिन के शब्द अंग्रेजी की चलनी में छनते हुए हिन्दी में आएँ, उन्हें स्वीकार है; संस्कृत से हम शब्द लें, उन्हे स्वीकार नहीं।

जो भारत की जलवायु में पला है, उसे भारत की भाषा और संस्कृति अपनानी होगी, उसे भारत की ही महत्ता का स्वप्न देखना पड़ेगा। भारतीय भाषाओं को अभारतीय ढाँचे में ढालने की चेष्टा पुरानी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का एक अवशिष्ट चिह्न है, हम उससे किसी प्रकार समझौता नहीं कर सकते। जिस तरह हम भारत की भूमि से अन्न-जल ग्रहण करते है, उसी तरह उसकी भाषा भी। जब हम देश से प्रेम करना सीखेंगे, तब उसकी भाषा से भी प्रेम करेंगे। न हम देश-प्रेम में किसी से समझौता करना चाहते हैं, न भाषा-प्रेम में। देश-प्रेम और भाषा-प्रेम दो अलग वस्तुएँ नहीं, एक हैं। (१९३९)

२

राजनीतिक नेता और हिन्दी

राजनीतिक नेता लोग साहित्य पढ़ेंगे, इसकी आशा करना व्यर्थ जान पड़ता है। फिर भी साहित्य राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। नेताओं की राजनीति गँदली होने पर उसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ सकता है, विशेषकर जब थोड़ा-बहुत शासनाधिकार हाथ में होने से वे बालकों और नवयुवकों की शिक्षा के लिए उत्तरदायी भी हों। ऐसी दशा में शिक्षा और भाषा में हस्तक्षेप करने के पहले उन्हें साहित्य के विकास और उसकी मूलधारा का ज्ञान होना आवश्यक है। आज की भारतीय राजनीति समझौते पर निर्भर है। यह समझौता कभी इंडिया एक्ट के लिए अंग्रेज सरकार से कुछ शर्तें मनवाकर होता है, कभी केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासन में बँटवारा करने के लिए श्री जिन्ना से महात्मा गांधी और श्री जवाहरलाल नेहरू की बातचीत के रूप में प्रकट होता है। हमने हिन्दी साहित्य में समझौता करना नहीं सीखा। हम समझौता नहीं, एका करने में विश्वास रखते हैं और यह एका एक स्वतन्त्र अविभाजित राष्ट्र की भूमि पर ही हो सकता है। जो प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता लेकर आगे बढ़ता है, वह राष्ट्रीयता का द्रोही है, उससे एक राष्ट्र-प्रेमी समझौता कैसे कर सकता है? इस उग्र राष्ट्रीयता की भावना में राजनीतिज्ञ हिन्दी-साहित्य से शिक्षा ले सकते हैं। हमारे साहित्य का उद्भव ही एक विदेशी साम्राज्यवाद के प्रति विरोध से हुआ था और सदियों तक देश की भाषा और संस्कृति की रक्षा के लिए हमारे साहित्यिकों ने इस विदेशी साम्राज्यवाद से मोर्चा लिया है। यह मोर्चा नये ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध भी जारी रहा है। इस दासता में भी हमने अंग्रेजी को क्यों नहीं अपनाया? इसलिए कि हमारी भाषा हमारी राष्ट्रीय चेतना की प्रतीक है। अरबी और फारसी के विरुद्ध इसी तरह तुलसीदास और भूषण ने हिन्दी की पताका ऊँची रखी, इसलिए कि समाज के जीवित रहने का अर्थ हिन्दी का जीवित रहना भी था। यद्यपि हिन्दी का रूप बदलता रहा है लेकिन उसकी एकता नष्ट नहीं हुई। गुलाम दशा की यह मनोवृत्ति रही है कि वे विदेशी संस्कृति और भाषा को जल्दी अपना लेते हैं क्योंकि उनका अपना सामाजिक जीवन नहीं के बराबर होता है। क्रान्ति के पूर्व के रूस में वहाँ के शिक्षित और धनी वर्गों में इसी प्रकार फ्रेंच भाषा का बोलबाला था। रूसी भाषा को लोग गँवारू और अर्थ-गाम्भीर्य से हीन समझते थे। यदि वहाँ के साहित्यिक इस कुत्सित मनोवृत्ति के सामने

सिर झुका देते तो आज का रूसी-साहित्य कहाँ होता ? हमारे देश में भी अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग करके लोग अपनी शिक्षा का परिचय देना आवश्यक समझते हैं। जो बाबूवर्ग इंग्लिस्तानी में बातचीत करता है, वह इसलिए कि अपनी भाषा में विचार करने की उसमें अक्षमता है। उसकी भाषा तीन कौड़ी की होती है और भाव दो कौड़ी के। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए कुछ लोगो ने अंग्रेजी, अरबी, फारसी--सभी से शब्द भर लेने की सलाह दी है। जहाँ नये-नये अर्थों के शब्द खोजने पड़ें, वहाँ संस्कृत से न लेकर उन्होने अंग्रेजी से लेने को कहा है। मानो अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्द खुद उसके घर के हों, उसने उन्हें लैटिन और ग्रीक से उधार न लिया हो। ग्रीक और लैटिन के शब्द अंग्रेजी की चलनी में छनते हुए हिन्दी में आएँ, उन्हे स्वीकार है; संस्कृत से हम शब्द ले, उन्हे स्वीकार नहीं।

जो भारत की जलवायु में पला है, उसे भारत की भाषा और संस्कृति अपनानी होगी, उसे भारत की ही महत्ता का स्वप्न देखना पड़ेगा। भारतीय भाषाओं को अभारतीय ढाँचे में ढालने की चेष्टा पुरानी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का एक अवशिष्ट चिह्न है, हम उससे किसी प्रकार समझौता नहीं कर सकते। जिस तरह हम भारत की भूमि से अन्न-जल ग्रहण करते हैं, उसी तरह उसकी भाषा भी। जब हम देश से प्रेम करना सीखेंगे, तब उसकी भाषा से भी प्रेम करेंगे। न हम देश-प्रेम में किसी से समझौता करना चाहते हैं, न भाषा-प्रेम में। देश-प्रेम और भाषा-प्रेम दो अलग वस्तुएँ नहीं, एक हैं। (१९३९)

३

भाषा और राष्ट्रीयता

इसी मास अभी आरम्भ के महीने में श्री रवीन्द्रनाथ टाकुर ने कलकत्ता में महाजाति सदन का शिलान्यास करते हुए बताया है कि बंगाल ने भारतवर्ष के नये अभ्युत्थान में किस प्रकार योग दिया है। बंगाली भाषा, साहित्य, कला और संगीत—सभी का उन्होंने उल्लेख किया। इसके साथ ही उन्होंने इस बात पर भी अभिमान प्रकट किया कि विदेशी सभ्यता का स्वागत करने में बंगाल सर्वप्रथम था। अंग्रेजी समाचारपत्रों में उनका वाक्य इस प्रकार छपा था— Bengal led India in welcoming European culture to her heart." यूरोप की सभ्यता अपनाने में बंगाल भारत का अग्रणी था। विदेशी सभ्यता विदेशी शासन के ही साथ हमारे देश में आई है। स्वाभाविक था कि राष्ट्र-प्रेमी व्यक्तियों ने विदेशी शासन के समान उस सभ्यता से भी अपने-आपको दूर रखा। परन्तु बंगाल में ऐसे ख्यातनामा व्यक्ति थे, जिन्होंने अपने उत्थान के लिए अंग्रेजी शिक्षा को आवश्यक समझा। उस शिक्षा के प्रसार के साथ बंगाल के नये साहित्य का उद्भव भी हुआ। इसलिए अनेक बंगाली अपने साहित्य पर गर्व करते हुए उस शिक्षा पर भी गर्व करते हैं। फिर भी गुलामी गुलामी है उस पर अभिमान करना किसी को शोभा नहीं देता।

बंगाली विद्वानों के हृदय में विदेशी शिक्षा और सभ्यता के प्रति यह भावना कितनी दृढ़ता से घर कर गई है, इसका एक और प्रमाण देखिए। बंग-साहित्य-सम्मेलन के सभापति सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने इसी बात का उल्लेख कर कहा था— उनविंश शतके इंग्रेजेर अनुगामी बंगाली इंग्रेजी शिखिया भारतेर गुरुस्थानीय छिल। और ऐसा नहीं कि केवल घटनाचक्र में पड़कर अंग्रेज के अनुगामी बंगाली को अंग्रेजी सीखनी पड़ी हो, भारत के अन्यतम भाषातत्त्वविद् डा० चटर्जी ने उसी शिक्षा की आवश्यकता बतलाते हुए कहा है— 'इंग्रेजी के बाद दिया अन्य कोन भाषा के ताहार स्थाने बसाइले तो आमादेर मानसिक क्षति घटिबे।' इतना बड़ा चढ़ा अंग्रेजी के प्रति उनका प्रेम है कि उसके स्थान पर अन्य किसी भाषा को रखने से मानसिक क्षति की सम्भावना है। ऐसे शब्द उसी व्यक्ति के मुह से निकल सकते हैं जिसकी परमुखापेक्षिता चरम सीमा को पहुँच चुकी हो।

(१९३६)

४

भाषा और साहित्य में पाकिस्तान

राष्ट्रभाषा को लेकर बहुत दिनों से विवाद चल रहा है। हिन्दीभाषी कहते हैं कि हिन्दी राष्ट्रभाषा होगी। बंगाली लोग बंगला को राष्ट्रभाषा बनाने मे लगे हुए हैं। उर्दू-भाषी लोग उर्दू को भारत की 'आमफहम' और 'मुश्तर्का ज़बान' मानते हैं। कांग्रेस के नेता कहते हैं, देश की 'कॉमन लैंग्वेज' हिन्दुस्तानी है। हिन्दुस्तानी नाम की कोई भाषा है या उस भाषा को अभी जन्म लेना है, यह स्पष्ट नहीं है।

राष्ट्रभाषा के बारे में इतनी बातें सुनकर लगता है कि हमारा भी एक राष्ट्र है। राष्ट्र के गठन के रास्ते में कोई अड़चन नहीं है, इसीलिए राष्ट्रभाषा की समस्या इतनी महत्त्वपूर्ण हो गई है। किन्तु कुछ दिन से देश में एक 'पाकिस्तान' की चर्चा होने लगी है। अखबारों को देखने से लगता है कि 'पाकिस्तान' हास-परिहास का विषय बना हुआ है। आश्चर्य की बात यह है कि जिन्होंने देश के अन्दर एक नये पाकिस्तान की कल्पना की है, वे उर्दू को भी राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।

मुस्लिम लीग के नेता यह आन्दोलन करते हैं कि कांग्रेसी नेता उर्दू के शत्रु हैं और उनका उद्देश्य केवल हिन्दी-प्रचार करना है। इससे पहले मुस्लिम लीग के यही नेता कहते थे कि देश की राष्ट्रभाषा उर्दू है। अब उर्दू-प्रचार में अड़चनें देखकर या अड़चनों की कल्पना करके उन्होंने तय कर लिया है कि उनकी भाषा राष्ट्रभाषा न होगी, इसलिए राष्ट्र भी कायम न रहेगा! तब यह पाकिस्तान की चर्चा कोरा राजनीतिक आन्दोलन है या उसका और भी कोई आन्तरिक महत्त्व है? पाकिस्तान का 'गुल' खिलते देखकर अनेक मुसलमानों का चित्त चंचल हो उठा है। इस भारत-उद्यान में यह 'गुल' क्या अत्यन्त तुच्छ और निकृष्ट खाद्य पाकर ही नहीं खिला है? साहित्य और भाषा में मुसलमानों ने जो आन्दोलन छेड़ दिया है, उसे देखकर लगता है कि इस विषवृक्ष की जड़ें धरती में बहुत गहरी चली गई है।

मध्य भारत में बहुत दिनों से हिन्दी और उर्दू का विवाद चलता रहा है। लखनऊ और दिल्ली को मुस्लिम संस्कृति का केन्द्र कहा जाता है। इस कारण देश के इस भाग में दरबारी संस्कृति के साथ भारत की एक अन्य व्यापक और अधिक प्राचीन संस्कृति का संघर्ष स्वाभाविक हो गया। किन्तु हिन्दीभाषी समझते हैं कि इस तरह का संघर्ष उन्हीं के साहित्य

में पाया जाता है, अन्य प्रान्तों में भाषा-सम्बन्धी कोई समस्या है, ऐसा उन्हें नहीं मालूम होता। किन्तु वर्तमान काल में अन्य प्रान्तों में भी भाषा को लेकर संघर्ष चल रहा है, वह संघर्ष चाहे तेज हो, चाहे धीमा हो, उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। बँगला के हास्य रसात्मक पत्रों में भाषा को उर्दू का नया लिबास पहनाने की बात लेकर अनेक व्यंग्य प्रकाशित हुए हैं। किन्तु मौलवी फजलुलहक का मन्त्रिमण्डल कायम होने के बाद बँगला भाषा को विकृत करने की चेष्टा और जोरों से होने लगी है। अब यह चर्चा हास-परिहास का विषय नहीं रह गई। देश में आन्दोलन द्वारा उसका प्रतिकार आवश्यक हो गया है।

बंगीय-साहित्य-सम्मेलन में डॉ० सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय ने इस बारे में कई बातें कही हैं। उन सब पर विचार करने से भाषा समस्या की गम्भीरता समझ में आ जाती है। आजकल के अरबी-फारसी प्रेमी अनेक मुस्लिम नेताओं की तुलना में भारत के आदि-मुस्लिम आक्रमणकारी भी इतने साम्प्रदायिक नहीं थे। डा० चट्टोपाध्याय ने कहा है, "वे बुतशिकन या मूर्तिध्वंसी थे, किन्तु जबान-शिकन या भाषा-ध्वंसी वे नहीं थे।" उन्होंने कलमा मूल भाषा में प्रकाशित न करके उसका अनुवाद देशी भाषाओं में प्रकाशित किया था। किन्तु आज साम्प्रदायिकता इतनी प्रबल हो गई है कि कलमा तो दरकिनार, साहित्य को कलमे की भाषा में लिखने का प्रयत्न हो रहा है।

तुर्की से अरबी-फारसी शब्दों का बहिष्कार हुआ, फारसी से अरबी शब्दों का बहिष्कार हुआ, यह सब साम्प्रदायिक मुस्लिम नेताओं को दिखाई नहीं देता। वे 'पॅन इस्लामिज्म' की बातें करते हैं। किन्तु अन्य मुस्लिम देशों की राह छोड़कर उन्होंने अपनी नई राह पकड़ी है, यह बात वे भूल जाते हैं। भाषा के अलावा भावों में भी साम्य होता है। भारत के साम्प्रदायिक नेता भाव और भाषा दोनों ही क्षेत्रों में, अन्य स्वाधीन मुस्लिम राष्ट्रों से एकदम अपरिचित हैं। डा० चट्टोपाध्याय ने बंगाल में यह भाषा ध्वंसी कुचेष्टा देखकर सखेद कहा है, "पश्चिम के मुसलमान लेखकों में अंधाधुंध भाषा में अरबी-फारसी शब्द भरने की प्रवृत्ति को रोकने की बात चली है। क्या केवल बँगला भाषा में उस रीति को नया रूप देकर ग्रहण किया जायगा और पांच करोड़ से ऊपर जनता की दुर्लभ भाषागत एकता को स्वेच्छा से विनष्ट कर दिया जायगा ?"

मध्य भारत में उर्दू को सहज और सरल बनाने के लिए, उसे अरबी-फारसी के शब्द-जाल से मुक्त करने के लिए आन्दोलन हो रहा है। इस आन्दोलन के सूत्रधारों में अनेक प्रगतिशील लेखक हैं। वे कोशिश कर रहे हैं कि साहित्य यथासम्भव जन साधारण के लिए बोधगम्य हो। लोकप्रिय सुबोध साहित्य रचने के लिए उसे अरबी-फारसी के कठिन शब्द-जाल से मुक्त करना ही होगा। सभी लोग प्रयत्न करते हैं कि उनकी भाषा का प्रचार और प्रसार हो। किन्तु अन्ध साम्प्रदायिकता का जाल अरबी-फारसी के शब्द समेटकर बहुसंख्यक जनता के लिए भाषा को दुर्बोध बना देना है। इस तरह का प्रयत्न मुस्लिम साम्राज्य के वैभव के दिनों में न हुआ था। आज यह प्रयत्न इतना समर्थ क्यों

हो गया है ?

मुस्लिम साम्राज्य में पुराने हिन्दी-साहित्य का चरम विकास हुआ था। तुलसीदास, सूरदास आदि कवि उसी युग में हुए थे। और उस युग के साहित्यिक थे रहीम, रसखान जैसे मुसलमान कवि। वे हमारे देश के, हमारी भाषा के कवि हैं। क्या उनकी ख्याति किसी भी मुसलमान लेखक के चाहने योग्य नहीं है ? सर इकबाल का हम नाम सुनते हैं। रहीम के दोहे और रसखान के छन्द गाँवों के हिन्दू और मुसलमान दोनों के ही कंठ में बसे हुए हैं। क्या वह लोकप्रियता पाकिस्तान के जन्मदाता के लिए दुष्प्राप्य नहीं है ? मुस्लिम साम्राज्यकाल में मुस्लिम साहित्यकार अपनी भाषा में अपना कोई स्मृति-चिह्न न चाहते थे। साम्राज्य का नाश होने पर अनेक लोगों के हृदय में यह इच्छा हुई कि बीते वैभव का एक सांस्कृतिक चिह्न सुरक्षित कर लिया जाय। उर्दू भाषा का विकास तभी सम्भव हुआ जब मुस्लिम साम्राज्य का अधःपतन आरम्भ हो गया। उस युग के साहित्य में सामाजिक और राजनीतिक पतन के अनेक लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हैं। जन-साधारण की भाषा छोड़कर दरबारी साहित्यकारों ने एक नई दरबारी भाषा का आविष्कार किया। उसे खूब मार्जित करके उन्होंने उसे अपना सांस्कृतिक चिह्न मान लिया। भाषा में ऊपरी चमक-दमक थी। किन्तु उस भाषा में देश के प्राणों की गूँज नहीं थी। कविता का प्रधान गुण हो गया चमत्कार-प्रदर्शन। उस चमत्कार-प्रदर्शन की भाषा हुई उर्दू। इस चमत्कार-प्रियता ने ही सर्वनाश की राह दिखाई। इस सर्वनाश से कोई भी 'चमत्कार' उनका उद्धार न करेगा, यह बात उनके दिमाग में नहीं आई। ईरान की पतन-कालीन साहित्यिक परम्परा को अपनाकर मुसलमान दरबारी कवियों ने अपने साहित्य का विकास किया। आज अरबी-फारसी शब्दों का मोह त्यागने की बात आने पर उन्हें लगता है कि उनके गौरव का इतिहास नष्ट हो जायगा। मुस्लिम साम्राज्य के वैभवकाल में मुसलमान साहित्यकारों ने लोकभाषा का व्यवहार करके कितनी शक्ति प्राप्त की, यह बात इनके दिमाग में पैठती ही नहीं।

देश में जो लोग पाकिस्तान चाहते हैं, वे पाकिस्तान लेकर भी सन्तुष्ट न होंगे। वे अब भी विगत साम्राज्य की मधुर स्मृति में निमग्न हैं। उनकी समझ में उस स्मृति के साथ अरबी-फारसी शब्दों से लदी हुई भाषा का कोई आध्यात्मिक सम्बन्ध है। इसलिए राजनीति में जो पाकिस्तान के समर्थक हैं वे भाषा का भी विभाजन करने को तैयार हैं। वे सोचते है कि उनकी नई भाषा समय बीतने पर देश की अन्य भाषाओं पर अपना आधिपत्य कायम कर लेगी। इसीलिए अरबी-फारसी संस्कृति को आधार बनाकर उन्होंने भारत की अनेक भाषाओं में विध्वंस-कार्य आरम्भ कर दिया है।

हमने अरबी, फारसी या अन्य विदेशी शब्दों का बहिष्कार किया हो, ऐसा नहीं है। हिन्दी-साहित्य की लोकप्रिय और धर्मग्रन्थ के समान पूजनीय पुस्तक रामायण में अनेक विदेशी शब्द हैं। हिन्दी के किसी भी उत्तरदायी साहित्यकार ने कभी भी यह नहीं कहा कि हमारी भाषा केवल संस्कृत शब्द लेकर समर्थ बनेगी। लेकिन अस्वाभाविक रूप से

हिन्दी मे अपरिचित शब्द भरने से विकासक्रम भंग होगा, यह बात भूलना न चाहिए। भारत की अधिकांश भाषाओं का एक सामान्य सांस्कृतिक आधार है। थोड़े परिश्रम से लोग हिन्दी, बंगला, मराठी आदि भाषाएँ समझ लेते हैं, कारण यह कि इन भाषाओं मे बहुत से शब्द सामान्य हैं। देश को एकता के सूत्र मे बांधने के लिए भाषा की यह एकता प्रधान साधन है। अपनी कुचेष्टा से अनेक जन इस एकता पर आघात कर रहे हैं किन्तु जितना आघात करेंगे, उतना ही देश की भाषाओं का परस्पर साम्य-बोध और भी दृढ़ होगा। सभी देशवासी इस राष्ट्रघातक प्रयत्न को समूल नष्ट कर देंगे। (१९५१)

५

हिन्दी गद्य-शैली पर कुछ विचार

आज से लगभग सत्तर वर्ष पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नये हिन्दी गद्य की नींव डाली थी। वैसे ब्रजभाषा से भिन्न नई हिन्दी लिखने का प्रयास और भी पहले आरम्भ हो गया था। इसलिए हम कह सकते हैं कि अब तक नये हिन्दी गद्य के सौ वर्ष बीत चुके हैं और अब इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि साधारण गद्य के लिए हम एक साफ़-सुथरी शैली बना सके हैं या नही। हिन्दी गद्य के विकास मे जो दो-तीन मार्ग-चिह्न स्पष्ट दिखाई देते हैं, उनमें सबसे पहले तो आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगियों ने ही हिन्दी गद्य-शैली पर एक अमिट छाप डाली है। इस शैली पर विचार करते हुए दो बातें सभी आलोचक मानते हैं। पहली तो यह कि इसमें एक ऐसी *ज़िन्दादिली है जो बाद के गद्य में प्रायः नही मिलती।* दूसरी *यह* कि इस भाषा में परिष्कार की ज़रूरत है और अपने तात्कालिक रूप में वह शैली आज ग्रहण नही की जा सकती।

इन दोनों बातों पर कुछ ठहरकर विचार करना आवश्यक है। भारतेन्दु-युग के लेखकों की शैली में ज़िन्दादिली क्यों है और बाद के गद्य से वह लोप क्यों हो गई? इसका कारण कुछ लोग यह बतलाते हैं कि भारतेन्दु और उनके सहयोगी बहुत गम्भीर चीज़ें नही लिखते थे। इसलिए उनकी शैली में हँसी-मजाक की गुंजाइश ज्यादा रहती थी। आगे चलकर हमारी शैली में भाव-गाम्भीर्य आया और इसलिए यह ज़रूरी हो गया कि इस गहराई में ज़िन्दादिली डूब जाय। एक बात ध्यान देने की यह है कि भारतेन्दु-युग के लेखक इस पीढ़ी के लेखकों की तुलना में संस्कृत के अधिक निकट थे। उनके सामने हिन्दी गद्य की कोई विकसित परम्परा न थी और इसलिए होना तो यह चाहिए था कि संस्कृत के शब्दों की भरमार से उनकी शैली बोझिल बन जाती, लेकिन हुआ इसका उल्टा ही। इसके सिवाय यह बात भी सही नही है कि उस युग में गम्भीर आलोचना नही लिखी गई। उस युग के मासिक पत्रों की जिल्दों में सैकड़ों सुन्दर आलोचनात्मक निबन्ध आज भी सुरक्षित हैं। (यानी जहाँ उन्हें रद्दी में बेच नही डाला गया या जिल्दों में दीमक नही लग गया।) उनका संकलन करके अब तक किसी ने उन्हें प्रकाशित नही किया, इसका बहुत बड़ा श्रेय हमारे प्रकाशकों को है। इन निबन्धों से आज के बहुत ही मामूली आलोचनात्मक निबन्धों की

विज्ञान के आचार्य हिन्दी के चाहे जिस रूप की कल्पना करें, भारत के इतिहास ने उसके दूसरे ही रूप की रचना और सँवारना शुरू कर दिया है। अभी तक हम हिन्दी को जनता की भाषा कहते आये थे। लेकिन जनता का ९० फीसदी भाग हमारी इस हिन्दी से अपरिचित था। अब समय आ गया है कि ९० फीसदी जनता शिक्षित होकर अपनी भाषा को पहचाने और उसका रूप सँवारने में हाथ बटाए। शिक्षा का प्रसार एक ऐसी बाढ़ होगी जो हमारी भाषा और साहित्य के उद्यान पर एक बार छा जाएगी और यहाँ की तमाम विनाशकारी घास पात को बहा ले जायेगी। ये दरिद्रनारायण जिनका नाम लेकर हम हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानते आये हैं, हिन्दी बोलेंगे और लिखेंगे भी। भाषा विज्ञान के आचार्यों ने चौका लगाकर, छूत-छात का बड़ा विचार करते हुए, जो तत्सम खिचड़ी पकाई थी उसमें अब दरिद्रनारायण भी हिस्सा बटायेंगे। यह मानी हुई बात है कि ऐसा होने पर आचार्य लोग यह विवाद करेंगे कि इन असंस्कृत और अशिक्षित व्यक्तियों ने हमारे शुद्ध साहित्य और शुद्ध संस्कृति के चौके को छू कर डाला। दरिद्रनारायण को बहुत दिन तक भूखा रखा गया है। साम्राज्यवाद ने उनके पेट को ही नहीं मारा, संस्कृति के नाम पर भी उसे यथाशक्ति भूखा मारने की कोशिश की है। शिक्षित और जाग्रत होने पर जनता लकीर खींचकर चौके से बाहर नहीं रखी जा सकेगी। वास्तव में वही संस्कृति की निर्माता है, वही तद्भव और तत्सम रूपों का, संस्कृत और प्राकृत रूप का मातृभाषा और राष्ट्रभाषा के प्रश्नों का समाधान करनेवाली है। उस समय देखना होगा कि हिन्दी की गद्य-शैली आज की-सी ही रहती है या उसमें बहुत बड़ा परिवर्तन होता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी के बड़े लेखकों ने बोलचाल की भाषा को आधार मानकर अपनी शैली को रचा ही नहीं है। प्रेमचन्द के उपन्यास इस बात की जीती-जागती मिसाल है कि बोलचाल की भाषा को आधार मानने से कितनी लोकप्रिय रचनाएँ की जा सकती हैं। कविता के क्षेत्र में श्री मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर, नरेन्द्र, सुमन, गिरिजाकुमार, केदारनाथ, नेपाली आदि ने सरल और सुबोध शैली अपनाने की चेष्टा की है। युद्ध-काल में और उसके बाद कुछ लेखकों ने सचेत होकर इस तरफ ध्यान दिया है और उन्होंने छायावाद के उत्तरकाल की शैली को बदला है। कोई नहीं कह सकता कि इस प्रयत्न में उनकी व्यंजना-शक्ति कम हो गई है। वास्तव में यह शक्ति कम होने के बदले और बढ़ गई है।

पुरानी शैली की जड़ता सबसे ज्यादा नाटकों में अखरती है। नाटक की सफलता सबसे अधिक बातचीत की स्वाभाविकता पर निर्भर है। हिन्दी में जिन लोगों ने नाटक लिखने का रिवाज डाला है, उन्होंने भी इस स्वाभाविकता को बार-बार ठुकराया है। यदि नाटक की कथावस्तु ऐतिहासिक या पौराणिक हुई, तब तो लेखक अपने लिए छूट मानता है कि वह अधिक-से-अधिक अस्वाभाविक शैली अपना सकता है। बात संस्कृत शब्दों की नहीं है, तत्सम रूप नाटकों में भी खपाये जा सकते हैं। अस्वाभाविकता की जड़ संस्कृत-गर्भ उलझे हुए वाक्यों की रचना है। जिस लेखक को रंगमंच का थोड़ा भी ज्ञान होगा,

वह तुरन्त परख लेगा कि जिस नाटक के वाक्य बोलने में अभिनेता हाँफ जाय और दर्शक उसके आदि-अन्त का ही पता लगाता रह जाय, वह नाटक कभी सफल नहीं हो सकता। दुर्भाग्य से अस्वाभाविक वाक्य-रचना को कठिन समझकर उससे पाठ्य-क्रम की शोभा भी बढ़ाई जाती है। एक नाटक इण्टरमीडिएट के विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता है। इसको अचानक बीच से खोलने पर विक्रममित्र नाम का पात्र यह कहते देखा जाता है—

"यवनों के आक्रमण से जब मालव और शिविगण मूल स्थान के निकट नही ठहर सके और मगध की केन्द्रीय मौर्यशक्ति ने भी अपने कर्तव्य का पालन जब नहीं किया तब उन्हें सिन्धु के दक्षिण मध्यनिका और कर्कोटक में शरण लेनी पड़ी। मेघवाहन क्षारवलि और पितामह वसुमित्र ने सेना-साधन में उनकी सहायता कर उन्हे उन्ही स्थानों में स्थिर किया और आगे बढ़कर यवनों के उस पार शाकल तक पहुँचा दिया।"

इन वाक्यों मे 'उन्हें, उन्ही' और 'स्थान, स्थिर' के जोड़े दर्शनीय हैं। यदि नाटककार आँख खोलकर लिखने के साथ कान खोलकर अपने वाक्य सुनते भी जायँ तो विक्रममित्र से ऐसे अनगढ़ वाक्य न कहलाएँ। उसी पृष्ठ पर विक्रममित्र महाशय पुनः कहते सुने जाते हैं—

"इन मालवों की सनातन वैदिक विधान में जो आस्था थी, उसने पितामह वसुमित्र को तो प्रभावित किया ही, जैन क्षारवलि तो उससे इतना प्रभावित हुआ कि उसने मालव महेन्द्रादित्य के साथ अपनी पुत्री सौम्य दर्शना का विवाह कर दिया।" उस वाक्य में 'आस्था' शब्द पर ध्यान दीजिये। यह 'आस्था' कर्त्ता है, उसने वसुमित्र को प्रभावित किया। लेकिन आगे कर्त्ता से बदलकर करण बन गई और जैन क्षारवलि उससे प्रभावित हो गया। कर्त्ता, करण के उलझाव में वाक्य अशुद्ध और अस्वाभाविक बन गया। छपने पर उसने चार पंक्तियाँ घेरी हैं, यह अलग से।

एक सामाजिक नाटक लीजिए। इसमें नीतिराज 'एक समाजवादी युवक; उम्र चौबीस वर्ष' और विमला 'एक युवती, उम्र बाईस वर्ष' आधुनिक विज्ञान पर बहस कर रहे हैं। नीतिराज कहता है—

"आखिर आप रमणी है न ? जिस दिन आप कमल-कुसुम के समान वर्तमान सामाजिक पानी की तह से ऊपर उठ आएँगी, उस दिन यह कह देंगी कि त्यागवाद महान् नहीं हो सकता। जिस त्याग का ढिंढोरा पीटा जा रहा है वह या तो समाज में इस समय जो धर्म प्रचलित है उस धर्म के भय से किया जा रहा है या वह समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करने के लिए किया जाता है। सारे दान-पुण्य, सत्कर्म कहे जानेवाले कार्य इन्ही दो कारणों के परिणाम हैं। सारा सामाजिक संगठन अवैज्ञानिक नहीं है। जो चीज वैज्ञानिक नहीं है, वह महान् हो ही नहीं सकती। मिस विमला, इस युग के दो सबसे बड़े तत्ववेत्ता हैं—डारविन और कार्ल मार्क्स। दोनों ग्रहणवादी हैं।"

बाईस साल की लड़की के धीरज की प्रशंसा करनी होगी। लगभग पूरा पृष्ठ सुन जाती है और एक बार भी उस चौबीस साल के युवक को नहीं टोकती। नीतिराज ने भी, मालूम होता है, कॉलेज मे हिन्दी के नाटक ही पढ़े हैं। इसलिए विमला से कहता है—

६

राष्ट्रभाषा हिन्दी और हिन्दू राष्ट्रवाद

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की माँग कुछ नई नहीं है। भारतेन्दु से लेकर अब तक इस माँग का आधार यही रहा है कि हिन्दी जनता की भाषा है; बोलने, लिखने और समझने में वह सरल है; हिन्दुस्तान की अधिकांश जनता अभी भी उसे बोलती और समझती है। अपनी माँग को पुष्ट करने के लिए हिन्दी-भाषियों ने जनता को अपनी कसौटी बनाया था। उन्होंने राष्ट्रभाषा की समस्या को जनतांत्रिक ढंग से ही सुलझाने का प्रयत्न किया था। लेकिन इधर कुछ वर्षों से यह परिस्थिति बदल रही है। साहित्य-सम्मेलन के मंच से हिन्दी-हिन्दुस्तान का नारा लगाकर अपनी भाषा के प्रसार को संकुचित करने और उसके सहज विकास को रोकने का प्रयास किया गया है। एक तरफ तो हम गर्व के साथ कहते रहे हैं कि हिन्दी आम जनता की भाषा है जिसके बोलनेवाले सभी जातियों और धर्मों के लोग है, दूसरी तरफ राष्ट्रीयता के नाम पर साम्प्रदायिकता का जहर फैलानेवाला यह नया हिन्दू राष्ट्रवादी दल भाषा को धर्म के साथ जोड़कर हिन्दी को जनता की भाषा के पद से हटा देना चाहता है। ऊपर से देखने में मालूम होता है कि ये हिन्दू राष्ट्रवादी हिन्दी के समर्थक हैं, जो उसका प्रसार और विकास चाहते हैं, वास्तव में इनसे बड़ा शत्रु हिन्दी का कोई दूसरा नहीं हो सकता। राष्ट्रों की तरह भाषा का विकास भी जनतांत्रिक आधार पर होता है, जनता की उपेक्षा करके फासिज्म को आधार बनाने पर राष्ट्र की तरह भाषा का भी सत्यानाश होना अनिवार्य है। हिन्दी का सत्यानाश करना तो विधाता के लिए भी कठिन होगा। विधाता की इच्छाओं के एकमात्र टीकाकार ये हिन्दू-राष्ट्रवादी उसके विकास में कुछ देर के लिए बाधा जरूर डाल सकते हैं।

राष्ट्रभाषा के साथ हिन्दू-राष्ट्रवाद के गठबन्धन को सबसे ताजी मिसाल श्री रविशंकर शुक्ल की लिखी हुई एक पुस्तक है जिसका नाम है—'हिन्दीवालो, सावधान!' 'इस्लाम खतरे में है' की तरह लेखक ने हिन्दू-धर्म खतरे में है, कहकर हिन्दीवालों को सावधान करने की चेष्टा की है। जहाँ-जहाँ 'इस्लाम खतरे में है' का नारा लगाया गया है, वहाँ-वहाँ साबित हो चुका है कि इस्लाम के बदले किसी की जमीन-जायदाद ही खतरे में थी जिसे बचाने के लिए यह खतरे की घंटी बजाई गई थी। इस बहाने जायदाद की

हिफाजत हो नहीं पाती और जनता इस ढंग के लेखों को पढ़कर जायदाद को जब्त करके ही दम लेती है। लेखक ने इतिहास का साक्षी न मानकर खुले-आम धर्म-सत्ता को आदर्श मानकर उसके पीछे चलने की सिफारिश की है। प्रत्येक हिन्दू-राष्ट्रवादी ऊपर से जिन्ना का विरोधी होते हुए भी हृदय से उन्हीं को अपना आदर्श मानता है। कांग्रेस और देश के स्वाधीनता संग्राम के बारे में वह लीग के प्रतिक्रियावादी नेताओं के समान ही झूठा प्रचार करता है। रविशंकर शुक्ल का अभियोग है कि कांग्रेस ने हिन्दुओं के साथ 'घोर विश्वासघात किया है।' (हिन्दीवालो सावधान : परिशिष्ट, पृ० ६७)। हिन्दुओं का विश्वासपात्र तो कोई हिन्दू नेता ही हो सकता था लेकिन लेखक के दुर्भाग्य से 'हिन्दुओं का ऐसा कोई नेता नहीं है जो मि० जिन्ना से टक्कर ले सके।' (उप०) हिन्दुओं में ऐसा नेता पैदा करने के लिए जरूरी है कि हर हिन्दू के हृदय से राष्ट्रीयता की परम्परा को निर्मूल कर दिया जाए। इसलिए कांग्रेसी नेताओं के लिए लेखक ने यह दावा किया है कि उन्होंने 'जन्म-भर मनसा वाचा और कर्मणा यह सिद्ध करने की चेष्टा की है, और अब भी कर रहे हैं, कि वे हिन्दू नहीं हैं।' (उप०) कांग्रेस पर अहिन्दू होने का अभियोग लगाने का एकमात्र उद्देश्य यह है कि कांग्रेस की प्रेरणा से जो जनवादी परम्परा कायम हुई है, उससे निहित स्वार्थों की रक्षा की जाए। इस हिन्दू प्रेम के पीछे पूँजीवाद और जमींदारी प्रथा का प्रेम छिपा हुआ है जो लेखक से इस तरह की दलीलें पेश कराता है—पं० नेहरू को हिन्दुस्तान के नाम से चिढ़ है क्योंकि उसमें हिन्दू नाम जुड़ा हुआ है। इसलिए वह चाहते हैं कि देश को 'इंडिया' ही कहा जाए और इस मामले में गांधीजी 'इनकी पीठ थपथपा रहे हैं' (परिशिष्ट, पृ० ६८)। पं० नेहरू के भाषणों को जनता भी सुनती है और वह अच्छी तरह जानती है कि वे इंडिया शब्द का प्रयोग करते हैं या हिन्दुस्तान का। लेकिन फासिज्म का आधार झूठ होता है और हिन्दू राष्ट्रवाद एक फासिस्ट विचारधारा है।

हिन्दू और मुस्लिम प्रतिक्रियावादी एक-दूसरे के कितने निकट हैं, इसकी एक मिसाल देखिए। दोनों ही नेहरू-सरकार की एक हिन्दू सम्प्रदायवादी सरकार के रूप में कल्पना करते हैं। फर्क इतना ही है कि मुस्लिम प्रतिक्रियावादी उसे हिन्दू सरकार पहले से ही मानते हैं और उनके हिन्दू भाई उसे ऐसी बनाना चाहते हैं। शुक्लजी कहते हैं कि 'हमारा संसार नेहरू सरकार को हिन्दू सरकार बताता और समझता है—जबकि वास्तव में अपने अमल में वह हिन्दू सरकार नहीं है। ऐसी भ्रान्ति का कारण नहीं रहने या भविष्य में उत्पन्न होने दिया जा सकता।' (उप०) सारे संसार में चर्चिल और उनके पिट्ठू ही ऐसा प्रचार करते हैं और बी० बी० सी० दुनिया भर में विज्ञापित करती है कि पं० नेहरू की हिन्दू सरकार मुसलमानों का नाश कर देना चाहती है। लेकिन संसार में सब चर्चिल, फीरोज खाँ नून या उनके हिन्दू दलाल (रविशंकर शुक्ल जैसे) ही नहीं हैं। दुनिया का हर जनतन्त्रवादी न तो नेहरू सरकार को एक हिन्दू सम्प्रदायवादी सरकार मानता है और न उसे होने देना चाहता है।

हिन्दू राष्ट्रवाद की खुली घोषणा इस प्रकार है—

"हिन्दुस्तान एक हिन्दू राष्ट्र हो जिसका राज-धर्म हिन्दू धर्म हो और जिसमें सब प्रमुख पदों पर हिन्दुओं और अमुस्लिमों की नियुक्ति हो ! ऐसा कोई व्यक्ति जो स्पष्ट रूप से हिन्दू धर्म न मानता हो, हिन्दुस्तान सरकार का प्रधान नहीं हो सकता।" (उप०) स्पष्ट रूप से हिन्दू धर्म मानने का मतलब क्या है ? यह कि जो मुसलमानों को हिन्दुस्तान में रहने दे, वह पूरा हिन्दू नहीं है। "इस्लाम धर्म के किसी अनुयायी को हिन्दुस्तान में नागरिकता के अधिकार नहीं मिल सकते" और "अल्पसंख्यक के किसी झूठे नाम पर पाकिस्तान के फिफ्थ कॉलम को स्वच्छन्द नहीं छोड़ा जा सकता" (पृ० ६६)। यह है सच्चे हिन्दूपन की कसौटी ! अगर लीगी नीति धर्मान्ध है तो क्या हम नहीं हो सकते ? अगर वे एक बार कुएँ में गिरे हैं तो हम सौ बार गिरेंगे ! हिन्दू राष्ट्रवाद की वीरता इसी प्रकार की है।

इस हिन्दू राष्ट्रवाद को भापा के क्षेत्र में लागू करना मुश्किल नहीं है। जैसे हिन्दुस्तान का हर मुसलमान पाकिस्तान का फिफ्थ कॉलम है, वैसे ही हिन्दी में आया हुआ अरबी-फारसी का हर शब्द फिफ्थ कॉलम है, जिसे निकाल बाहर करना चाहिए। बात कुछ बहुत मौलिक नहीं है क्योंकि मराठी में वीर सावरकर भी यह काम कर चुके हैं। उन्हें सफलता कितनी मिली है, यह मराठी का कोई अखबार उठाकर देख लीजिए।

कठिनाई तब पैदा होती है जब जनता के व्यवहार का प्रश्न सामने आ जाता है। हिन्दू राष्ट्रवादियों के दुर्भाग्य से इस देश की जनता हिन्दू-मुसलमान शब्दों की पहचान नहीं कर पाती। फल यह होता है कि इस जनता से प्रेरणा पाने वाले कवि और लेखक भी हिन्दू-मुस्लिम शब्दों का भेदभाव भूल जाते हैं। इसलिए हिन्दू राष्ट्रवाद के इन आचार्य ने जनता का झगड़ा ही खत्म कर दिया है। आपने लिखा है—"जनता तो भेड़ों के झुण्ड के समान है, उसे नेताओं ने जिधर हाँक दिया उधर चल दी···जनता को पेटभर खाने और तनभर कपड़े के सिवाय किसी और चीज़ की चिन्ता नहीं होती।" (मूल पुस्तक, पृ० ८५)।

यह तर्क भी अधिक मौलिक नहीं है। जब हिन्दुस्तान में आज़ादी का आन्दोलन चला, तब अंग्रेज़ साम्राज्यवादियों ने भी यही दलील पेश की थी कि हिन्दुस्तान की आम जनता को तो खाने-पहनने से मतलब है; कुछ थोड़े से असन्तुष्ट लोगों ने उसे आज़ादी का नाम लेना सिखा दिया है। अगर उन्हें पकड़कर जेल में बन्द कर दिया जाय तो वह आज़ादी का हल्ला भी एक दिन में खत्म हो जाएगा, इस विचार के अनुसार जनता को भेड़ और अपने को भेड़िया समझनेवालों ने काम भी किया लेकिन उसका फल क्या हुआ, इसे सारी दुनिया जानती है। श्रीमान् रविशंकर शुक्ल जनता को 'लैंग्वेज कान्शस' करने के फेर में स्वयं जनता की शक्ति से 'अनकान्शस' हो गये हैं ! लेकिन अंग्रेज़ बहादुर की शक्ति पर आपका विश्वास अडिग है ! भारतीय जनता तो अपनी भापा के प्रति कभी जागरूक नहीं रही लेकिन 'भला हो अंग्रेज बहादुर का जिसने फारसी को हटाकर प्रान्तीय भापाओं को प्रतिष्ठित किया' (पृ० ५८)। गोया लार्ड मैकाले ने हिन्दी का सर्वनाश करने

हिफाजत हो नहीं पाती और जनता इस ठग विद्या को पहचानकर आपदाद को जब्त करके ही दम लेती है। लेखक न इतिहास को साक्षी न मानकर खुले-आम धर्मान्धता का आदर्श मानकर उसके पीछे चलने की सिफारिश की है। प्रत्येक हिन्दू-राष्ट्रवादी ऊपर से जिन्ना का विरोधी होते हुए भी हृदय मे उन्ही को अपना आदर्श मानता है। कांग्रेस और देश के स्वाधीनता संग्राम के बारे मे वह लीग के प्रतिक्रियावादी नेताओं के समान ही झूठा प्रचार करता है। रविशंकर शुक्ल का अभिप्राय है कि कांग्रेस ने हिन्दुओं के साथ 'घोर विश्वास घात किया है।' ('हिन्दीवालो सावधान' परिशिष्ट, पृ० ६७)। हिन्दुओं का विश्वास-पात्र तो कोई हिन्दू जिन्ना ही हो सकता था लेकिन लेखक के दुर्भाग्य से 'हिन्दुओं का ऐसा कोई नेता नही है जो मि० जिन्ना से टक्कर ले सके। (उप०) हिन्दुओं में ऐसा नेता पैदा करने के लिए जरूरी है कि हर हिन्दू के हृदय में राष्ट्रीयता की परम्परा को निर्मूल कर दिया जाए। इसलिए कांग्रेसी नेताओं के लिए लेखक ने यह दावा किया है कि उन्होंने 'जन्म भर मनसा, वाचा और कर्मणा यह सिद्ध करने की चेष्टा की है और अब भी कर रहे हैं कि वे हिन्दू नही हैं। (उप०) कांग्रेस पर अहिन्दू होने का अभियोग लगाने का एकमात्र उद्देश्य यह है कि कांग्रेस की प्रेरणा से जो जनवादी परम्परा कायम हुई है, उससे निहित स्वार्थों की रक्षा की जाए। इस हिन्दू प्रेम के पीछे पूंजीवाद और जमींदारी प्रथा का प्रेम छिपा हुआ है जो लेखक से इस तरह की दलीलें पेश कराता है—पं० नेहरू को हिन्दुस्तान के नाम से चिढ़ है क्योंकि उसमे हिन्दू नाम जुड़ा हुआ है। इसलिए वह चाहते हैं कि देश को 'इंडिया' ही कहा जाए और इस मामले में गांधीजी 'उनकी पीठ थपथपा रहे हैं' (परिशिष्ट, पृ० ६८)। पं० नेहरू के भाषणो को जनता भी सुनती है और वह अच्छी तरह जानती है कि वे इंडिया शब्द का प्रयोग करते हैं या हिन्दुस्तान का। लेकिन फासिज्म का आधार झूठ होता है और हिन्दू राष्ट्रवाद एक फासिस्ट विचारधारा है।

हिन्दू और मुस्लिम प्रतिक्रियावादी एक-दूसरे के कितने निकट हैं, इसकी एक मिसाल देखिए। दोनों ही नेहरू-सरकार की एक हिन्दू सम्प्रदायवादी सरकार के रूप में कल्पना करते हैं। फर्क इतना ही है कि मुस्लिम प्रतिक्रियावादी उसे हिन्दू सरकार पहले से ही मानते हैं और उनके हिन्दू भाई उसे ऐसी बनाना चाहते हैं। शुक्लजी कहते हैं कि 'हमारा संसार नेहरू सरकार को हिन्दू सरकार बताता और समझता है—जबकि वास्तव में अर्थात् असल में वह हिन्दू सरकार नहीं है। ऐसी भ्रांति का कारण नहीं रहने या भविष्य मे उत्पन्न होने दिया जा सकता।' (उप०) सारे संसार मे चर्चिल और उनके पिट्ठू ही ऐसा प्रचार करते हैं और बी० बी० सी० दुनिया भर में दिन-रात करती है कि पं० नेहरू की हिन्दू सरकार मुसलमानों का नाश कर देना चाहती है। लेकिन संसार मे सब चर्चिल, फीरोज खाँ नून या उनके हिन्दू नक्काल (रविशंकर शुक्ल जैसे) ही नहीं हैं। दुनिया का हर जनतंत्रवादी न तो नेहरू-सरकार को एक हिन्दू सम्प्रदायवादी सरकार मानता है और न उसे होने देना चाहता है।

हिन्दू राष्ट्रवाद की खुली घोषणा इस प्रकार है—

"हिन्दुस्तान एक हिन्दू राष्ट्र हो जिसका राज-धर्म हिन्दू धर्म हो और जिसमें सब प्रमुख पदों पर हिन्दुओं और अमुस्लिमों की नियुक्ति हो। ऐसा कोई व्यक्ति जो स्पष्ट रूप से हिन्दू धर्म न मानता हो, हिन्दुस्तान सरकार का प्रधान नहीं हो सकता।' (उप०) स्पष्ट रूप से हिन्दू धर्म मानने का मतलब क्या है? यह कि जो मुसलमानों को हिन्दुस्तान में रहने दे, वह पूरा हिन्दू नहीं है। "इस्लाम धर्म के किसी अनुयायी को हिन्दुस्तान में नागरिकता के अधिकार नहीं मिल सकते" और "अल्पसंख्यक के किसी झूठे नाम पर पाकिस्तान के फिफ्थ कॉलम को स्वच्छन्द नहीं छोड़ा जा सकता' (पृ० ६६)। यह है सच्चे हिन्दूपन की कसौटी! अगर लीगी नीति धर्मान्ध है तो क्या हम नहीं हो सकते? अगर वे एक बार कुएँ में गिरे हैं तो हम सौ बार गिरेंगे! हिन्दू राष्ट्रवाद की वीरता इसी प्रकार की है।

इस हिन्दू राष्ट्रवाद को भाषा के क्षेत्र में लागू करना मुश्किल नहीं है। जैसे हिन्दुस्तान का हर मुसलमान पाकिस्तान का फिफ्थ कॉलम है, वैसे ही हिन्दी में आया हुआ अरबी-फारसी का हर शब्द फिफ्थ कॉलम है, जिसे निकाल बाहर करना चाहिए। बात कुछ बहुत मौलिक नहीं है क्योंकि मराठी में वीर सावरकर भी यह काम कर चुके हैं। उन्हें सफलता कितनी मिली है, यह मराठी का कोई अखबार उठाकर देख लीजिए।

कठिनाई तब पैदा होती है जब जनता के व्यवहार का प्रश्न सामने आ जाता है। हिन्दू राष्ट्रवादियों के दुर्भाग्य से इस देश की जनता हिन्दू-मुसलमान शब्दों की पहचान नहीं कर पाती। फल यह होता है कि इस जनता से प्रेरणा पाने वाले कवि और लेखक भी हिन्दू-मुस्लिम शब्दों का भेदभाव भूल जाते हैं। इसलिए हिन्दू राष्ट्रवाद के इन आचार्य ने जनता का झगड़ा ही खतम कर दिया है। आपने लिखा है—"जनता तो भेड़ों के झुण्ड के समान है, उसे नेताओं ने जिधर हाँक दिया उधर चल दी···जनता को पेटभर खाने और तनभर कपड़े के सिवाय किसी और चीज की चिन्ता नहीं होती।" (मूल पुस्तक, पृ० ८५)।

यह तर्क भी अधिक मौलिक नहीं है। जब हिन्दुस्तान में आजादी का आन्दोलन चला, तब अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने भी यही दलील पेश की थी कि हिन्दुस्तान की आम जनता को तो खाने-पहनने से मतलब है; कुछ थोड़े से असन्तुष्ट लोगों ने उसे आजादी का नाम लेना सिखा दिया है। अगर उन्हें पकड़कर जेल में बन्द कर दिया जाय तो वह आजादी का हल्ला भी एक दिन में खतम हो जाएगा, इस विचार के अनुसार जनता को भेड़ और अपने को भेड़िया समझनेवालों ने काम भी किया लेकिन उसका फल क्या हुआ, इसे सारी दुनिया जानती है। श्रीमान् रविशंकर शुक्ल जनता को 'लैंग्वेज कान्शस' करने के फेर में स्वयं जनता की शक्ति से 'अनकान्शस' हो गये हैं! लेकिन अंग्रेज बहादुर की शक्ति पर आपका विश्वास अडिग है! भारतीय जनता तो अपनी भाषा के प्रति कभी जागरूक नहीं रही लेकिन 'भला हो अंग्रेज बहादुर का जिसने फारसी को हटाकर प्रान्तीय भाषाओं को प्रतिष्ठित किया' (पृ० ५८)। गोया लार्ड मैकाले ने हिन्दी का सर्वनाश करने

के लिए कुछ उठा रखा था और उनकी चलाई हुई शिक्षा-प्रणाली के लिए हिन्दुस्तानियों को उनका कृतज्ञ होना चाहिए। अपनी जनता को गाली कि वह भेड़ है और अंग्रेज के लिए शाबाशी कि वह इन्साफपसन्द है—यह है हिन्दू राष्ट्रवाद का सच्चा रूप।

हिन्दी भाषी जनता को भेड़ियाधसान बनाकर इस लेखक ने हिन्दी के बड़े-से-बड़े साहित्यिकों को भी उसमें शामिल कर लिया है। यह हिन्दी के लिए गर्व की बात है कि उसके बड़े-बड़े साहित्यकारों ने बोलचाल की भाषा को अपना आधार बनाया है। रविशंकर शुक्ल की समझ में इस बोलचाल की भाषा को अपनाने का मतलब है उर्दू कोष को अपनाना। लिखा है—"उर्दू कोष केवल हिन्दी शब्द-सागर में ही नहीं समाया हुआ है, वह व्यवहार में भी बहुत हद तक हिन्दी पत्रों और पुस्तकों के पन्नों पर विद्यमान है, और हिन्दी के बड़े से-बड़े साहित्यिकों की बोलचाल में भी विद्यमान है, बल्कि यों कहिये, बोलचाल में और भी अधिक प्रबल रूप से विद्यमान है' (पृ० ३)। इस बोलचाल के खतरे से बचने के लिए आपने यह बाबा वाक्य प्रमाण रूप में रखा है—'कण्ठगतैऽपि प्राणे यावनी न वक्तव्य। और टीका की है—'संस्कृत की इस अखण्ड पीढ़ी में आज हिन्दी है। आज हिन्दी को वही काम करना है जो संस्कृत ने पाली ने और अपभ्रंश ने किया है' (पृ० ६)। संस्कृत की अखण्डता से अपभ्रंश कैसे पैदा हो गई, अपने अद्भुत भाषा-विज्ञान का प्रकाश इस प्रश्न पर भी डाल देते तो हिन्दीवाले और सावधान हो जाते।

लेखक को हर जगह हिन्दी हारती हुई और उर्दू जीतती हुई दिखाई देती है। उर्दू की जीत का कारण उसका विशुद्धतावाद यानी हिन्दी शब्दों के बहिष्कार की प्रवृत्ति बताई गई है। अब उस विशुद्धतावाद को हिन्दी में लागू करने का हठ किया गया है। वास्तव में हार न हिन्दी रही है, न उर्दू, हार रहे हैं दोनों तरफ के विशुद्धतावादी जो दोनों को बोलचाल के अस्सी फीसदी शब्दों के आधार पर नजदीक आते देखकर हाय-हाय करके छाती पीट रहे हैं। उनका यह काम उचित भी है क्योंकि दोनों के पास आने को वे बिलकुल नहीं रोक पाते। लेखक ने कई जगह ऐसे शब्दों की सूची बनाई है जिन्हें वह हिन्दी से निकाल देना चाहता है। पृ० २२-२३ पर ऐसे शब्दों की सूची देखने लायक है। इसमें तलाश, सूरत, वतन शोरगुल, पैदावार, दाग, दर्द, रोशनी, हजम करना, सस्ता, नजदीक, मेहमान, कमरबन्द, बीबी, दिल किताब, अन्दर, तरफ, इन्कार, खरीदना, आवाज देना, खून जैसे शब्द हैं जिन्हें हिन्दू संस्कृति के लिए घातक बताया गया है। पाठक स्वयं सोचें कि हिन्दी भाषा को इन शब्दों से खतरा है या रविशंकर शुक्ल जैसे उसके समर्थकों से।

इन शब्दों के हिन्दी पर्यायवाची तो और भी मनोहर हैं। किताब के लिए केवल पोथी' लिखना चाहिए और बीबी के लिए 'बहू।'

हिन्दीवालों को सावधान करनेवाले इन सज्जन से अगर कोई पूछे कि क्या आपने यह 'पोथी' अफीम खाकर लिखी थी तो कोई बेजा सवाल न होगा। ऐसे एक-दो नहीं पचीसों शब्द हैं जिन्हें आपने हिन्दी से निकालने की सलाह दी है लेकिन जो दूसरी जगह आपके 'संग्रेज बादाम' दिमाग पर भी सवार हो गए हैं। मिसाल के लिए पृ० २३

पर आप 'किला' शब्द निकाल देने की सलाह देते है लेकिन पृ० १५६ पर हिन्दी शत्रुओं का मुकाबला करने के लिए 'किले' की ही शरण ले बैठे हैं।

इसी सूची में आपने 'बच्चा' शब्द भी रखा है जिसे हिन्दी से आप विदेशी समझकर निकलना चाहते हैं ! पाठकों को ऐसी अपार मूर्खता पर विश्वास न हो तो इस पुस्तक के पृष्ठ ३४ की दूसरी लाइन देख लें। लेकिन वाह रे बच्चो, शाबाश ! पृ० १७९ पर जब लेखक महाशय हिन्दी रक्षा संघ स्थापित करने में लगे थे, तभी आठवीं पंक्ति मे तुम भी आ कूदे ('हिन्दी जनता में प्रबल आन्दोलन किया जाय कि वह अपने बच्चों को······' इत्यादि)। इसी तरह 'आबादी' का आप विरोध करते है लेकिन पृ० २५ पर अवध को 'आबाद' करते हैं। आदत आपको पसन्द नही लेकिन पृष्ठ २७ पर आप खुद उसके 'आदी' दिखाई देते है। जादू वह जो सिर पर चढकर बोले और वह आपके ही नहीं, हिन्दी-उर्दू दोनों के विशुद्धतावादियों के सिर पर चढकर बोलता है। जितना ही बोलचाल के शब्दो से पर झाड़ते है, उतना ही वे चिपकते जाते है !

पृ० ४०-४१ पर एक दूसरी सूची है, उन शब्दो की जो बोलचाल मे प्रचलित नही हैं। इनमें बगावत, कुर्बानी, गद्दार, हिमायत, उस्ताद, हमदर्दी, नाराज, नाखुश, मर्दी जैसे शब्द भी है। पूछना चाहिए कि आप किस देश के रहनेवाले हे जो इन शब्दो को बोलचाल का नही समझते। आपका दुराग्रह कितना बढा हुआ है, यह इस बात से जाहिर है कि आपने 'देशदूत' जैसे पत्र और बेढब बनारसी जैसे लेखक को भी—जिन पर हिन्दी-उर्दू के मामले में उदार होने का कलंक कभी नही लगाया जा सकता—उर्दू-परस्तो की पाँत में बिठा दिया है !

आप पर प्रतिक्रियावादी होने का आरोप लगाया जायगा, यह आप पहले से ही जानते हैं। इसलिए पृ० ८३ पर आपने गर्व से घोषणा की हे—'हमे एक बार नही सौ बार प्रतिक्रियावादी कहलाना स्वीकार है।' उसके बाद यह भी मुक्तकठ से स्वीकार किया है कि 'ये सब बातें पुनरुत्थान की भावना से प्रेरित है।' (उप०) बोलचाल के शब्दो के आने से आप भाषा को कृत्रिम मानते हैं; अधिक संस्कृतनिष्ठ होने से हिन्दी स्वाभाविक हो जायगी ! (पृ० ८८-८९)

एक सुझाव मार्के का है। अगले प्रान्तीय चुनाव के लिए हिन्दी जनता को अभी से तैयार करना चाहिए ! (पृ० १७६)। राष्ट्रीय मुसलमानो और कांग्रेस के नेताओं पर यह विषवमन उस चुनाव की तैयारी का ही एक अंग हे। ऐसे लोगो की कमी नही है जो देश को जनतन्त्र की तरफ बढने से रोककर साम्राज्यवाद की पाली-पोसी हुई व्यवस्था कायम रखना चाहते है। इनके प्रचार मे एक ऐसी हिन्दी को स्थान दिया गया है जिसका भारत की जनता से यथासम्भव कम सम्बन्ध हे ! जितना सम्बन्ध हिन्दू राष्ट्रवाद का हिन्दू जनता से है, उतना ही हिन्दी के इनसमर्थकों का हिन्दी से। कलम पकडते चार दिन नही हुए कि तुलसीदास, भारतेन्दु और प्रेमचन्द—सभी की परम्पराएँ उलटने को तैयार है। मानो ईश्वर के यहाँ से हिन्दी की जायदाद का बैनामा कराके लौटे हैं ! हिन्दी के

उस एक बड़े लेखक का नाम बताइए जिसने इन सिद्धान्तों को मानकर रचना की हो। भाषा के निर्माता कुछ अंधे प्रतिक्रियावादी नहीं हो सकते। उसके निर्माता हिन्दुस्तान के करोड़ों किसान, मजदूर और साधारण लोग हैं जिनकी बोलचाल की भाषा से आपको असली खतरा दिखाई देता है। हिन्दी बोलनेवालों ने जिन शब्दों को अपना लिया है, उन्हें तमाम मुसलमानों को कत्ल करके भी हिन्दी से नहीं निकाला जा सकता। यह संस्कृति की यह दुहाई जनता के भय से उत्पन्न हुई है क्योंकि एक बार अंग्रेजों से टक्कर लेने के बाद यह जनता उनके दुमछल्लों से डरकर चुप रहनेवाली नहीं है। जिस समय हिन्दी-उर्दू के कथित हिमायती एक दूसरे को कोसते रहे हैं, उस समय यही जनता सेना, कचहरियों और कारखानों में एक मिली-जुली भाषा गढ़ती रही है जिसकी उपेक्षा करना दोनों में से किसी के लिए भी सम्भव नहीं है। हिन्दी अमर है, इसलिए कि वह अपनी स्वाधीनता के लिए लड़नेवाली जनता की सजीव भाषा है। (१९४८)

७

हिन्दी का 'संस्कृतीकरण'

बहुत से लोगो का विचार है कि संस्कृत ने मृत भाषा का रूप इसलिए ले लिया कि पडितों ने उसे व्याकरण के नियमो से जकड़ दिया था। परन्तु व्याकरण और भाषा की सजीवता में कोई ऐसा अन्तर्विरोध नहीं दिखाई देता कि संस्कृत की मृत्यु के लिए व्याकरण को दोषी ठहराया जाय। अगर आज की जीवित भाषाओं को लें तो देखेंगे कि वे व्याकरण से कम अनुशासित नही हैं और किसी हद तक तो उनके व्याकरण में ऐसी विशेषताएँ मौजूद हैं जो तर्कबुद्धि को स्वीकार ही नही होती। कौन नही जानता कि अंग्रेज़ी-व्याकरण बारह साल पढ़ने के बाद भी भाषा में अशुद्धियाँ रह जाना एक साधारण बात है। फिर भी अंग्रेज़ी संसार की सबसे सजीव भाषाओं में है। संस्कृत की अपेक्षा उसमें स्वच्छन्दता कही कम है। संस्कृत वाक्य-रचना में आप शब्दों का हेर-फेर कर सकते हैं—'एतद् मम पुस्तकम्' को मम, पुस्तकम्, एतद् किसी भी शब्द से प्रारम्भ करके लिख सकते है। लेकिन अंग्रेज़ी में 'दिस इज माई बुक' को 'इज दिस माई बुक' लिखकर देखिये, कितना अन्तर हो जाता है ! और कहीं 'बुक माई इज दिस' लिख दीजिये, तब तो वाक्य का कचूमर ही निकल जायगा ! छोटे बच्चे अंग्रेजी सीखते हुए अक्सर इस तरह की वाक्य-रचना करते है। और बच्चे ही क्या, बालिग भी हिन्दी से अंग्रेजी शुरू करते हैं, तो आरम्भ में यही गलती करते है। अगर कोई समझे कि 'रामः रामौ रामाः' की रटन्त से अंग्रेजी ही अच्छी तो उसे हिन्दी के 'राम से, राम मे, राम पर' आदि रूप याद रखने चाहिएँ और बिहारी भाइयो की 'ने' सम्बन्धी कठिनाई को न भूल जाना चाहिए।

इसका यह मतलब नहीं है कि संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी दोनो से सरल है और इसलिए उसे राष्ट्रभाषा बना देना चाहिए। ऊपर की बातें कहने का उद्देश्य यह है कि संस्कृत के मृत भाषा बनने का कारण व्याकरण नहीं कुछ और है। दरअसल संस्कृत कुछ गिने-चुने शिक्षितों की भाषा रह गई थी और लोक-प्रचलित भाषा से इतनी दूर चली गई थी कि आम जनता के लिए वह दुरूह हो गई थी। उसका व्याकरण कितना भी सरल किया जाता, वह 'जीवित' भाषा का पद न पा सकती थी। अक्सर अनेक ग्राम-भाषाओं का व्याकरण संस्कृत से कम कठिन नही होता, बल्कि उससे भी अधिक गहन और विस्तृत होता है, फिर भी ग्रामीण बच्चे बिना सूत्र घोखे हुए ही व्याकरण के अनुसार नित्य वाक्य-

रचना करते रहते हैं। फ्रांस और स्पेन के कुछ भागों में 'बास्क' नाम की ऐसी ही बोली आज भी प्रचलित है। उसका व्याकरण लैटिन से भी दुरूह बताया जाता है लेकिन लैटिन संस्कृत के पद को प्राप्त हुई और बास्क अब भी जीवित है। बास्क के लिए एक कहानी प्रचलित है कि खुदा ने शैतान पर खफा होकर उसे बास्क-व्याकरण याद करने के लिए भेजा। सात साल तक परिश्रम करने के बाद भी शैतान कोरा-का-कोरा ही वापस लौटा।

व्याकरण की कठिनाई नई भाषा सीखनेवालों को महसूस होती है। जो उसे नित्य-प्रति बोलते हैं उनके लिए व्याकरण 'सीखने' का प्रश्न नहीं उठता।

इसी प्रकार कोश देखकर भी कोई हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी में बातें नहीं करता। काफी दिन तक कोश-निर्माण में परिश्रम करने के बाद अधिकांश लोग यह समझ गये हैं कि हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी की समस्या का चाहे जो हल हो, वह कम-से-कम कोश-निर्माण से हल नहीं हो सकती।

लेकिन कोशकार भला यह कब माननेवाले हैं। उनके लिए अमर-कोश पहले है, कालिदास बाद को। उनके लिये भाषा के बोलनेवाले बाद को हैं, उनकी कोश रचना पहले है। जनता क्या बोलेगी, वैज्ञानिक, डॉक्टर, वकील, राजनीतिक नेता, आदि-आदि किन शब्दों का प्रयोग करेंगे इस अंदेशे से दुबले कोशकार मोटे मोटे कोशों का निर्माण करने में लगे हैं। कोश रचना में ऐसे शब्द नहीं रखे जाते जो व्यवहार में आते हैं बल्कि ऐसे शब्द गढ़कर रखे जाते हैं जो व्यवहार में लाये जायँगे। अगर 'जनता' की समझ और व्यवहार का जिक्र कीजिये तो जनता को मूर्ख और अशिक्षित कहकर भाषा के क्षेत्र से उसे निकाल बाहर किया जाता है और कोशकार दत्तचित्त होकर फिर अपने शब्द-निर्माण में लग जाते हैं।

छोटे से बड़े तक अनेक पंडित-महापंडित कई वर्षों से इस कार्य में लगे हैं। हिन्दी में लगे हैं और उर्दू में लगे हैं और इनके साथ बंगला जैसी अन्य भाषाओं में भी लगे हैं। इस हिसाब से हम इसे 'भारतीय साहित्य का कोश-युग' कह सकते हैं।

कोशकार अपने निर्दोष कार्य में लगे रहते और उनके एकान्त चिंतन में बाधा देने की कोई जरूरत न थी अगर उनकी कोश रचना आम जनता पर लादी जाने को न होती। अब उनके इस कार्य को सरकारी या अर्द्ध-सरकारी संरक्षण मिल जाता है, तब यह खतरा पैदा हो जाता है कि कचहरी डाकखाने में हमें ऐसे कागज-पत्र पढ़ने को मिलेंगे जिन्हें समझने के लिए भारी भरकम कोश साथ लेकर चलना पड़ेगा।

कल्पना कीजिये, एक 'अपमानित' व्यक्ति अपने अपमानक पर अभियोग लगाता है और 'अपमानक का मित्र अपचय' करता है। आप अदालत में 'प्रत्याख्यान' करते हैं। वकील 'अन्याय की अभ्युक्ति' करता है। इतने ही में एक 'अपनयन' का मुकदमा और पेश होता है लेकिन मुकदमे का 'लम्बन' हो जाता है या 'विकृष्ट' हो जाता है। मानो 'अभिकर्ता' 'शपथ-पत्र' देता है जिससे फिर 'व्यवहार विकर्षण' होता है। इसके बाद 'पुनर्वाद के अवयव' की नौबत आती है और तब 'अपचारक' से कहा जाता है कि 'इस

वाद का व्यय वाद के परिणाम का अनुसरण करेगा।'

यदि आप हिन्दी-प्रेमी हैं, तो इन शब्दों पर कुछ देर तक विचार कीजिए। यदि अंग्रेजी और हिन्दी पर्यायवाची शब्दों के बिना आप इनका मतलब समझ लेंगे तो 'बीर सराहौं तोहिं' हमें कहना पड़ेगा। ऊपर के शब्द उस कोश से लिये गये हैं जिसे उत्तर प्रदेश की सरकार और टिहरी राज्य की सहायता से नागरी-प्रचारिणी सभा तैयार कर रही है। बानगी के तौर पर कुछ शब्द २ जून, १९४८ की 'अमृत बाजार पत्रिका' में छपे हैं। यदि नागरी-प्रचारिणी सभा ऐसी ही हिन्दी का प्रचार करना चाहती है तो उसे लोगों को धोखे में न डालकर अपना नाम बदल डालना चाहिए।

इसमें संशय है कि ये शब्द संस्कृत मे भी उसी अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं जो कोशकारों को अंग्रेजी के आधार पर अभीष्ट हैं। यह संस्कृत और हिन्दी दोनो के साथ अन्याय है। इस तरह की भाषा को यू० पी० सरकार, टिहरी राज्य और नागरी-प्रचारिणी सभा तीनों मिलकर और उन-जैसे दस-पाँच नही चला सकते; क्योंकि ये शब्द जनता के गले से उतरेंगे नही। कोशकार भले ही आज जनता को अशिक्षित कहकर उसकी बोलचाल की भाषा की उपेक्षा करें, लेकिन यह कोश-भाषा आखिर बुलवाना तो उसी जनता से है!

हिन्दी के इस 'संस्कृतीकरण' से हिन्दी का राष्ट्रभाषा बनना तो दूर, उसका प्रान्तीय भाषा के रूप में भी लोकप्रिय रहना कठिन हो जाएगा। यह हिन्दी की सेवा करना नहीं, उसका गला घोंटना है। हर हिन्दी-प्रेमी को इसका विरोध करना चाहिए।

यह बात नही है कि संस्कृत से शब्द लेना एकदम बन्द कर देना चाहिए। लेकिन शब्द लेना एक बात है, भाषा को संस्कृतमय बना देना दूसरी बात। इन कोशकारों की नजर में हिन्दी का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। उसमें जो कुछ है और होना चाहिए, वह केवल संस्कृत का! इनके लिए मध्यकाल से लेकर अब तक केवल सांस्कृतिक पतन ही होता आया है और जितनी जल्दी सतयुग की ओर लौट चलें, उतना ही अच्छा। यह हठधर्म कुछ नया नहीं है। जब गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' रचा था और पंडितगण उनकी रचना को 'भदेस' कहकर हँसते थे, तब से यह क्रम चला आ रहा है। यूरोप में इस प्रकार लैटिन के आगे 'वल्गर टंग' का मजाक उड़ाया जाता था, लेकिन वही 'भदेस' भाषाएँ संसार की सबसे समृद्ध भाषाएँ बन गईं। वह पद हिन्दी भी प्राप्त करेगी, लेकिन कोश-रचना और संस्कृतीकरण के रास्ते पर चलकर नहीं।

ऊपर की कोश-निर्मित शब्दावली सरल शब्दों में भी लिखी जा सकती है। लेकिन कोश-प्रेमियों का कहना है कि सरल शब्दावली पारिभाषिक कहाँ हुई! इस तरह हिन्दी को इतना पारिभाषिक बनाया जाएगा कि वह 'भाषा' न रहकर केवल 'परिभाषा' रह जाएगी!

हैदराबाद के स्वनामधन्य निजाम साहब उर्दू के लिए ऐसे ही कोश बनवा चुके हैं। उनसे उर्दू कितनी लोकप्रिय हुई है, इस बात पर हिन्दी-प्रेमियों को विचार करना चाहिए।

'सारे देश में समझी जाए'—इस बहाने हर भाषा के कठमुल्ले अपनी भाषा की जान लेने पर तुले हुए हैं।

पश्चिमी बंगाल की अत्यन्त प्रगतिशील सरकार के 'स्वराष्ट्र विभाग' ने सरकारी कामों के लिए 'व्यवहार्य परिभाषा' का पहला भाग प्रकाशित किया है। सरकार की तरफ से छपी हुई चीज़ है, इसलिए उसमें नुक्ताचीनी की गुंजाइश भी कम है। आप 'परिभाषा' का जो मतलब लगाते हों, बंग सरकार ने उसका अर्थ 'शब्दावली' किया है, यह याद रखें।

इसके रचयिताओं में डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का प्रसिद्ध नाम भी है। भूमिका में बताया गया है कि हिसाब शब्द प्रचलित होते हुए भी उसकी जगह 'गणन' और 'गणक' में 'गाणनिक' और 'महागाणनिक' शब्द रचे गये हैं। रवीन्द्रनाथ के बंगाल में यह नवीन पदावली रची जा रही है। इसी प्रकार 'अदालत' शब्द काफी सम्मानपूर्ण नहीं, 'Not dignified enough' समझा गया है। इसलिए उसकी जगह धर्माधिकरण सजाया गया है, जिसका नाम सुनते ही अपराधियों के छक्के छूट जाएँ।

भूमिका में भाषा-विज्ञान की यह अपूर्व बात भी कही गई है—'Bengali Hindi Marathi and the rest now depend upon Sanskrit—they are not free to utilise their own basic elements' यानी बँगला, हिन्दी, मराठी वगैरह को खुद अपने भीतर से शब्द निर्माण करने की छूट नहीं है। उन्हें संस्कृत का ही मुँह जोहना पड़ेगा।

हिन्दुस्तान में भाषा-विज्ञान ने कितनी प्रगति की है, यह ऊपर के इस एक वाक्य में प्रकट है, जिस पर डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के हस्ताक्षर हैं।

नागरी प्रचारिणी के कोशकारों की सेवा में हम इस बंगीय 'परिभाषा' से कुछ शब्द पेश करते हैं। आप लोग अलग-अलग न जाने क्यों परिश्रम कर रहे हैं, हिन्दी-बँगला जब दोनों संस्कृत से बनी हैं तब उनमें भेद कहाँ रहा? आप्टे के शब्द-कोष पर हिन्दी बँगला लिखकर क्यों नहीं चालू कर देते? बानगी देखिए—

ग्रामपाल, महा-व्यावहारिक (नशा है, विशेषण न समझ लीजिएगा!), स्थपति, नाविकवार, कूपी धावक (यह बासन धोनेवाला है!), आत्ययिक, चक्रचर नियामक, दाहवपन आधिकारिक (डेरों से सम्बन्ध है), दुष्कृति विमर्श विभाग, उप-आयुक्तक, उप प्रान्तिक परिवहण महाध्यक्ष, उप आरक्ष्याध्यक्ष, एष-अधिकर्ता, नाविक-उपदेष्टा, धूमोद्गार परिदर्शक, आधिक रक्षक, लेख्य-श्रावक, राजस्व-करणिक, विधायिक, विशिष्ट-कुड़िनैक-उपदेष्टा, परिमाण परीक्षक अवर, अन्त शुल्क शुल्कक, शिल्प व समरण मन्त्रक, राष्ट्र भूमानिदेशाधिकार, कन्या प्रणिधि, तूर्ण पत्र (एक्सप्रेस चिट्ठी) इत्यादि।

इस शब्दावली के निर्माता जानते हैं कि उसे बंगाल में कोई न समझेगा। इसलिए नौजवानों को आदेश दिया गया है कि जितना समय अंग्रेज़ी सीखने में लगाते हो, उसका चौथाई भी मातृभाषा (यानी संस्कृत) सीखने में लगाओ तो ये अपरिचित शब्द उतने अपरिचित न रह जाएँगे।

इन कोशकारों के लिए सबसे अच्छी सजा यही है कि इनसे इन्हीं के बनाये हुए कोश याद कराये जाएँ। जहाँ भूले वहाँ फिर याद करने की ताकीद कर दी जाय। जब हिन्दी, बँगला आदि के कोशकार अपने-अपने कोश या सम्मिलित महाकोश याद कर डालें तभी वह कोश जनता तक पहुँचे, उसके पहले नहीं।

हिन्दी का संस्कृतीकरण पारिभाषिक शब्दों को लेकर ही नहीं है। साधारण साहित्य में, दैनिक और मासिक पत्रों आदि में भी तत्सम शब्दों को इसलिए भरा जाता है कि इससे हिन्दी सुबोध हो जाएगी—खुद हिन्दी बोलनेवालों के लिए नही बल्कि दूसरी भाषाओं के बोलनेवालों के लिए। मिसाल के लिए, शायद बगाल के लोग संस्कृत-बहुल हिन्दी को बोलचाल की खिचड़ी भाषा से ज्यादा अच्छी तरह समझ सकेंगे। देखना चाहिए कि बोलचाल की बँगला में तत्सम शब्दों का अनुपात कैसा रहता है। इस पर डा० सुनीतिकुमार चटर्जी से ज्यादा कौन अधिकारी विद्वान राय दे सकता है? बँगला भाषा की उत्पत्ति और विकास पर लिखे हुए अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ के पहले भाग में उन्होंने यह मत प्रकट किया है—

'In Modern Bengali, the Colloquial has a surprisingly small 'percentage of Sanskrit words.' ('The Origin and Development of the Bengali Language', Vol. 1, p. 221) यानी बोलचाल की बँगला मे संस्कृत शब्दों की तादाद असाधारण रूप से कम है !

हिन्दी पाठक इस वाक्य पर कुछ देर तक विचार करें। जिन अन्य भाषा-भाषियों की दुहाई देकर हिन्दीपन को बिगाड़कर उसे संस्कृतमयी बनाया जा रहा है, वे स्वयं बंगाल जैसे प्रान्त में भी संस्कृत शब्दों का कम-से-कम प्रयोग करते हैं।

पारिभाषिक शब्दों की समस्या बोलचाल की भाषा के नियमों को तोड़कर हल नही की जा सकती। बोलचाल की भाषा में अंग्रेजी और फारसी के शब्द भी आते है और संस्कृत से भी आते हैं। लेकिन आर्य संस्कृति के जोश में शुद्धतावादी केवल संस्कृत के तत्सम शब्दों को लेने पर तुले हुए हैं। वे यह भूल जाते हैं कि स्वयं संस्कृत दूसरी भाषाओ से शब्द लेकर समृद्ध होती रही थी। इस बात को सुनीति बाबू भी मानते है। उपर्युक्त पुस्तक में लिखा है—"The Aryan speech has been borrowing words from the Dravidian ever since the former came to India"—Ib., p. 178. अर्थात् "आर्यों की भाषा हिन्दुस्तान में आने के बाद से ही द्रविड़ भाषाओ से बराबर शब्द उधार लेती रही है।" लेकिन 'देववाणी' भले शब्द लेती रही हो, देशवाणी के कलजुगी समर्थक जोरों से हृदय-कपाट बन्द किये है कि कहीं विदेशी हवा लगने से उनका देवत्व खंडित न हो जाय !

अगर कोई कहे कि 'इनकम टैक्स इन्सपेक्टर, वारंट, करेंसी, गार्जियन, रिपोर्ट, रिसीवर, समन, सब-जज' आदि अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों को ग्रहण कर लेना चाहिए और उनकी जगह नये शब्द न गढ़ने चाहिएँ तो यह राष्ट्रभाषा के प्रति द्रोह कहा जाएगा। लेकिन इन्ही शब्दों को सुनीति बाबू ने अपनी पुस्तक में 'Typical Naturalised English

Words (पृ० ६४७-४८) कहा है। ये शब्द बँगला के अपने शब्द मान लिये गए हैं और यही नहीं इनके साथ एग्जिबीशन, वेटिंग-रूम, कौंसिल, सिमेंट (सीमेंट), नोटिस, वर्जाइन (बुरुंजा), मजलिस, मजिस्ट्री, सिपर, हाफ माइंड आदि शब्द भी बँगला की स्वीकृत सम्पत्ति मान गये हैं। लेकिन बँगला की 'व्यवहार्य परिभाषा' उठाकर देखिए तो इन्हीं शब्दों या इन जैसों के बदले डॉ० सुनीतिकुमार और उनके सहयोगी नये-नये भारी-भरकम शब्द गढ़ते दिखाई देंगे और खुद बंगालियों की समझ में न आने पर उनसे कहते कि अपनी मातृभाषा सीखने में कुछ समय लगाओ।

इसी तरह अपनी पुस्तक के पृ० २१३ (खंड १) पर उन्होंने बैंक, सेक्रेटरी, थियेटर, गजट, टाइमटेबल, शोमान, रोमांटिक, क्लासिक, इंजिन, कॉमिक, आर्ट, फ्यूचरिज्म, माइम, प्रोटोप्लाज्म, प्लीस्टोसीन तथा प्लाट, केमिस्ट्री, फिजिक्स आदि शब्दों के लिए लिखा है कि वे 'are being bodily adopted at the present day,' यानी ये जैसे-के-तैसे बँगला में अवतार ले रहे हैं। लेकिन मजाक क्या कि वही सुनीति बाबू अब इनके लिए संस्कृत की किसी धातु से नया शब्द न गढ़ लें!

अपनी पुस्तक के पृ० २१२ (खंड १) पर उन्होंने यह भी लिखा था कि बँगला के मुसलमान लेखक ज्यादा संख्या में आगे आ रहे हैं, इसलिए फारसी, अरबी के शब्दों का बँगला में आना बिलकुल स्वाभाविक होगा ('will be in the nature of things') लेकिन व्यवहार्य परिभाषा में इन स्वाभाविक रूप से आये हुए शब्दों को ढूँढ़ने के लिए जब आपको खुर्दबीन की जरूरत पड़ती।

जिस तरह पूँजीवादी नेता चुनाव में किये हुए वादों को मन्त्री बनने पर भूल जाते हैं, वैसे ही 'रिवाइवलिज्म' के जोश में (आर्य संस्कृति के मोह में) सुनीति बाबू जैसे भाषा वैज्ञानिक खुद अपने बनाये हुए सिद्धान्तों को भूल गए हैं। यह पूँजीवादी संस्कृति के ह्रास का चिह्न है, उसके उत्थान का नहीं। यह रास्ता बँगला और हिन्दी की उन्नति का नहीं, उनकी अवनति का है।

(१९४८)

८

उर्दू-साहित्य की सांस्कृतिक परम्परा

हिन्दी-उर्दू की समस्या का एक पहलू उनके साहित्य की परम्परा का भी है। हिन्दी और उर्दू एक भाषा है; या एक भाषा की दो शैलियाँ है, वे आगे चलकर मिलेंगी या उनमें से एक ही रह जाएगी आदि मसलों को पेश करते हुए और उनका हल खोजते हुए इन दोनों की सांस्कृतिक परम्परा का सवाल भी उठाया जाता है।

उर्दू की साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्परा क्या है? यह परम्परा हिन्दी की साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्परा से कहाँ तक अलग है? क्या दोनों की कोई सामान्य परम्परा भी है जिसे आगे विकसित किया जा सकता है?

इन प्रश्नों का जवाब देने से हिन्दी-उर्दू की समस्या को सही तौर से पेश करने और उसे हल करने में सहायता मिलेगी।

१

उर्दू की सांस्कृतिक परम्परा के बारे में एक मत यह है कि वह विदेशी है; उसी की वजह से देश के बँटवारे की नौबत आई (या वह परम्परा भी बँटवारे का एक कारण है); इस परम्परा से हिन्दी का कोई समझौता नहीं हो सकता और दरअसल उस परम्परा को, चूँकि वह राष्ट्रद्रोही है, जल्दी-से-जल्दी खत्म कर देना चाहिए।

इस मत को हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के नये सभापति सेठ गोविन्ददास ने बड़ी धूम-धाम से पेश किया है। इसी मत को श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री सम्पूर्णानन्द, श्री पुरुषोत्तम-दास टंडन आदि सज्जन भी पेश कर चुके है। सेठ गोविन्ददास ने उसे पेश करने में धूम-धाम के अलावा किसी मौलिकता का परिचय नहीं दिया, इसलिए यहाँ पर श्री पुरुषोत्तम-दास टंडन के शब्दों को उद्धृत करना ज्यादा अच्छा होगा। टंडनजी सम्मेलन के प्राण हैं। सम्मेलन के सालाना सभापति जो मत प्रकट करते हैं, उनमें इन प्राणों की ध्वनि ही गूँजती रहती है।

सम्मेलन के पेंतीसवें अधिवेशन में टंडनजी ने उर्दू की सांस्कृतिक परम्परा पर ये विचार प्रकट किये थे :

"उर्दू कवियों की जो कविताएँ हुई, वे अरब और ईरान के तहजीब की प्रतीक थी। उर्दू कविताएँ हमें अपने नगर, अपने देश, अपने गली-कूचों की ओर ले जाने के बजाय,

ईरान और अरब के नगर तथा गली-कूचों की ओर ले जाती है। उसकी सांस्कृतिक परम्परा हमारे देश की, हमारी मिट्टी से निकली हुई जो संस्कृति है, उसके विपरीत है।

उर्दू कवियों के स्वभाव में उर्दू कविता का सांस्कृतिक प्रयत्न स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उनकी कविताओं में यदि वीर की उपमा दी जाती है तो रुस्तम, सोहराब, असफंदियार को याद किया जाता है। कहीं पर आपको भीम, अर्जुन आदि की उपमा नहीं मिलेगी। नदी की उपमा जब आती है तो उन्हें अरब की, मेसोपोटामिया की और ईरान की नदियाँ याद आती हैं। पर्वत की याद होती है तो उन्हें ईरान के पहाड़ों की याद आती है, हिमालय पर्वत की याद नहीं आती। फूलों में उनको 'नरगिस' की याद आती है। पक्षियों में उनको बुलबुल दिखाई पड़ता है, अपने देश के जो सुन्दर और अच्छे पक्षी हैं, उनकी चर्चा नहीं करते। उनका यह प्रयत्न था कि लखनऊ की गलियाँ 'अरबी' बन जाएँ। 'अरबी' ईरान का एक नगर है। सरूर जो कि लखनऊ का कवि था उसका एक शेर 'फसाना अजायब' में यह है—'बुलबुले शीराज को है रश्क नासिख का शुरू। अरबी इसने किये हैं, लखनऊ के कूचे और गलियाँ।' कहने का तात्पर्य यह है कि उर्दू का सांस्कृतिक क्रम पृथकवाद है और उसका परिणाम यह हुआ है कि जैसे-जैसे उर्दू का विकास हुआ, वैसे वैसे सांस्कृतिक पृथकता बढ़ती गई। जहाँ-जहाँ उर्दू का साम्राज्य था, वहाँ-वहाँ पृथकवाद का विशेष बल था जैसे उत्तर प्रदेश और पंजाब में।"

(हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पैंतीसवें अधिवेशन का विवरण, प्रयाग, पृ० ७६-८०)

यह सब कहने का सीधा मतलब यह है कि उर्दू की सांस्कृतिक परम्परा अलगाव पैदा करती रही है, इसलिए उसे खत्म कर देना चाहिए। आज जब टंडनजी कहते हैं कि "मुझे उर्दू कविता अच्छी लगती है," तब उनसे पूछा जा सकता है कि इस राष्ट्र-विरोधी कविता के अच्छा लगने का पाप आप जैसे विशुद्ध भारतीयता प्रेमी से कैसे हो गया? अगर उर्दू की सांस्कृतिक परम्परा हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट डालती है तो इस बारे में दो मत नहीं हो सकते कि ऐसी परम्परा को खत्म कर देना चाहिए। ऐसी परम्परा तो फूटपरस्तों को ही अच्छी लग सकती है।

२

उर्दू साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से पहली चीज यह दिखाई देती है कि उर्दू की सांस्कृतिक परम्परा परिवर्तनशील रही है। जो परम्परा जौक या दाग की थी, वही परम्परा ज्यों-की-त्यों जोश या कृशन चन्दर की नहीं है। हमें देखना चाहिए कि यह परम्परा पहले क्या थी और उसमें कौन-कौन-सी खास तब्दीलियाँ हुई हैं।

जिस तरह हम भारतेन्दु के पहले की हिन्दी कविता को मोटे तौर पर रीतिकालीन कविता कहते हैं, उसी तरह हाली के पहले की उर्दू कविता को मोटे तौर पर हम रीतिकालीन कविता कह सकते हैं।

इस जमाने की उर्दू कविता पर दरबारी संस्कृति की जबरदस्त छाप है। उसके भावों

और भाषा पर सामन्ती संस्कृति की छाप है। यह सामन्ती संस्कृति साहित्य में ईरानी साहित्य की परम्परा को अपनाती थी। उसने ईरानी साहित्य में प्रचलित उपमाओं, रूपकों वगैरह को अपने साहित्य में सजाने की कोशिश की।

हर देश के रीतिकालीन साहित्य में—उस समय के साहित्य में जब उद्योग-धन्धों के विकास से सामन्ती ढांचा खत्म नहीं हुआ—बात कहने के ढंग पर ज्यादा जोर दिया जाता है, भावों और विचारों की मौलिकता पर कम जोर दिया जाता है। हिन्दी की रीतिकालीन कविता, बिहारी और देव की रचनाओं में यह शैली हम देख सकते हैं। यही बात उर्दू की रीतिकालीन कविता पर भी लागू होती है।

आगे चलकर रीतिकालीन परम्परा ज्यादा साथ नहीं देती। उसमें चाहे भीम और अर्जुन का गुणगान हो, चाहे सोहराब और अफ्रासियाब का, उस परम्परा से नाता तोड़ना ही पड़ता है। हिन्दी की रीतिकालीन परम्परा में रामायण और महाभारत के वीरों की कमी नहीं थी, फिर भी खड़ी बोली के कवियों ने उस परम्परा का जोरों से विरोध किया और छायावादी कवियों ने उससे नाता तोड़कर एक नई परम्परा को जन्म दिया। उर्दू-साहित्य में भी उसकी रीतिकालीन परम्परा एक निर्जीव परम्परा हो गई है। उर्दू-साहित्य उससे बहुत आगे बढ़ चुका है। रीतिकालीन परम्परा का विरोध करने और उससे नाता तोड़ने पर खुद उर्दू के लेखकों और कवियों ने जोर दिया है।

जैसे हिन्दी में भारतेन्दु से पहले की सभी रीतिकालीन कविता ऐसी नहीं है, जिसे उठाकर रद्दी की टोकरी में फेंक दिया जाय; उसी तरह उर्दू की रीतिकालीन कविता में बहुत-सा हिस्सा सांस्कृतिक परम्परा का एक अंग बनकर सुरक्षित रहेगा। उर्दू के बहुत-से पुराने कवियों की ऐसी सैकड़ों पंक्तियाँ हैं जो अपनी उक्ति-चातुरी की वजह से बार-बार उद्धृत की जाती हैं और अब उन्होंने बोलचाल में कहावतों की जगह ले ली है। मसलन—

बड़ा शोर सुनते थे पहलू में दिल का
जो चीरा तो इक क़तरए ख़ूँ न निकला।

o o o

ज़मीने चमन गुल खिलाती है क्या-क्या,
बदलता है रंग आस्माँ कैसे-कैसे।

o o o

न ज़ोरे सिकन्दर न है क़ब्रे दारा,
मिटे नामियों के निशाँ कैसे-कैसे।

o o o

अब तो घबरा के ये कहते है कि मर जाएँगे,
मर के भी चैन न पाया तो किधर जाएँगे।

o o o

हजरते दाग़ जहाँ बैठ गये बैठ गये
और होंगे तेरी महफ़िल से उभरनेवाले।

इस तरह की पंक्तियाँ बोलचाल में इस तरह आती हैं कि उन्हें हिन्दुस्तानी (खड़ी बोली) बोलनेवाली जनता की सांस्कृतिक परम्परा का एक अंग कहा जा सकता है।

हाली से पहले की उर्दू कविता की देन इतनी ही नहीं है। हाली से पहले भी बहुत-से कवियों ने रीतिकालीन परम्परा में बँधे न रहकर अपना नया रास्ता बनाया था। इन कवियों में ग़ालिब का नाम सबसे पहले आता है जिनके व्यक्तित्व की छाप उनकी रचनाओं पर इस तरह पड़ी है जिस तरह अपने व्यक्तित्व की छाप डालना किसी भी रीतिकालीन कवि के लिए मुमकिन नहीं है। ग़ालिब ने अपने जीवन के बारे में बड़े दर्द से लिखा है। इस तरह का दर्द दूसरों की रचनाओं की नकल करने से नहीं पैदा होता। इटली के महान् कवि दान्ते ने जिस तरह अपने जीवन की अपार वेदना अपने महाकाव्य में उँडेल दी थी, उसी तरह ग़ालिब के शेर उस ज़माने के वातावरण के प्रति क्षोभ, ग्लानि और वेदना में डूबे हुए हैं।

ग़ालिब के ज़माने में बहुत-से लोग इल्म की शायरी करते थे। वे फ़ारसी साहित्य की उपमाएँ और रूपक लेकर अपनी रचनाओं को सँवारने की कोशिश करते थे। इन सब में फ़ारसी साहित्य से प्रभावित होते हुए भी ग़ालिब एक महान् प्रतिभाशाली कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं।

ग़ालिब की पचीसों पंक्तियाँ साधारण बोलचाल में बराबर उद्धृत की जाती हैं। मिसाल के लिए—

हमको मालूम है जन्नत की हक़ीक़त लेकिन,
दिल के ख़ुश करने को ग़ालिब यह ख़याल अच्छा है।

० ० ०

उनको देखे से जो आ जाती है मुँह पर रौनक़,
वो समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है।

० ० ०

कर्ज़ की पीते थे मय लेकिन समझते थे कि हाँ,
रंग लायेगी हमारी फ़ाक़ामस्ती एक दिन।

० ० ०

रगों में दौड़ते फिरने के हम नहीं क़ायल,
जो आँख ही से न टपका तो फिर लहू क्या है।

० ० ०

न था कुछ तो ख़ुदा था कुछ न होता तो ख़ुदा होता,
डुबोया मुझको होने ने न होता मैं तो क्या होता।

० ० ०

मुश्किलें मुझ पर पड़ी इतनी कि आसाँ हो गईं।

० ० ०

दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना।

० ० ०

है कुछ ऐसी ही बात जो चुप हूँ,
वरना क्या बात करनी नही आती।

अनेक हिन्दी लेखकों की रचनाओं में गालिब के शेर उद्धृत किये जाते है। अंग्रेजी की शायद ही कोई पुस्तक, शायद ही कोई लेख हो जिसमे गालिब के शेर उद्धृत न किये गये हों। निरालाजी ने जहाँ-तहाँ गालिब के शेर उद्धृत ही नही किये, उन पर 'प्रबन्ध पद्म' में लिखा भी है। गालिब की रचनाएँ किस तरह हिन्दी लेखकों की सांस्कृतिक परम्परा बन गई हैं, इसकी एक मिसाल निरालाजी के जीवन मे मिलती है। निरालाजी को अपने जीवन में जो मुसीबतें उठानी पड़ी है, जो अपमान सहने पड़े है और जिस तरह विरोधियों के मुकाबले में अपने आत्मविश्वास को अडिग रखना पड़ा है, उससे गालिब की रचनाओ से उन्हें एक आन्तरिक सहानुभूति पैदा हो गई थी। मैंने उन्हें पचीसों बार इन पंक्तियो को गाते सुना है और आखिरी बार अभी पिछले साल बनारस में जब वह काफ़ी अस्वस्थ थे, उन्हे फिर ग़ालिब के शेर गुनगुनाते सुनकर काफी ताज्जुब भी हुआ कि इनके मन की दुनिया में और बहुत-से उलटफेर हुए, लेकिन ग़ालिब, रवीन्द्रनाथ और तुलसीदास—ये तीन महाकवि अपनी जगह अब भी कायम है।

रहिये अब ऐसी जगह चलकर जहाँ कोई न हो,
हमसखुन कोई न हो और हमजबाँ कोई न हो।
बे दरो दीवार-सा इक घर बनाना चाहिए,
कोई हमसाया न हो और पासबाँ कोई न हो।
पड़िये गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार
और अगर मर जाइये तो नौहाख्वाँ कोई न हो।

जब श्रीपुरुषोत्तमदास टंडन उर्दू की सांस्कृतिक परम्परा को विदेशी और राष्ट्र-विरोधी कहकर उस पर हमला करते है, तब हम यह सोचने पर मजबूर होते है कि हिन्दी की सांस्कृतिक परम्परा को 'निराला' की देन महान् है या श्रीटंडन की देन महान् है। निराला की देन महान् है और इसीलिए महान् है कि उनके हृदय में वह संकीर्ण साम्प्रदायिकता नहीं थी जिसका परिचय श्रीटंडन ने बार-बार दिया है। संकीर्ण हृदय से महान् सांस्कृतिक परम्परा का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

ग़ालिब के बाद पुरानी उर्दू कविता के दूसरे महान् रचनाकार मीर है। मीर की बहुत-सी रचनाओं में रीतिकालीन परम्परा से साफ़ नाता टूटा हुआ दिखाई देता है। कौन-सा रीतिकालीन कवि अपने घर का इस यथार्थ ढंग से वर्णन करेगा !—

लोनी लग लग के झड़ती है माटी,
आह क्या उम्र बेमज़ा काटी।
झाड़ बाँधा है मेंह ने दिन-रात,
घर की दीवारें हैंगी जैसे पात।
बाउ में काँपते हैं जों थरथर,
उन पै रहा रखे कोई क्योंकर।

मीर की भी अनेक पंक्तियाँ कहावतों का दर्जा पा चुकी हैं, जैसे ये—

शाम से कुछ बुझा-सा रहता है,
दिल हुआ है चिराग़ मुफ़लिस का।

हाली से पहले जिन लोगों ने रीतिकालीन परम्परा से नाता तोड़ा, उनमें नज़ीर का नाम महत्त्वपूर्ण है। नज़ीर के काव्य में लोक-गीतों, कहावतों और लोक-संस्कृति को जो स्थान दिया गया है, उससे आज भी हम बहुत-कुछ सीख सकते हैं। नज़ीर जनता के कवि थे। इन्होंने आम जनता की ज़िन्दगी के बारे में बड़ी सजीव रचनाएँ की हैं। इनकी भाषा के बारे में श्री ब्रजरत्नदास ने लिखा है

'इनकी भाषा देशी थी और उसे विलायती बनाने का कभी इन्होंने प्रयत्न नहीं किया। इनका चलती भाषा पर पूरा अधिकार था और फारसी तथा अरबी के कोषों से चुन चुनकर अपनी भाषा को लद्दू बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। जैसा विषय चुना, वैसी ही भाषा ली और वैसे ही वास्तविकता से उसका चित्रण भी कर डाला।

(उर्दू साहित्य का इतिहास, बनारस, सं० १९९१, पृ० १८२)

नज़ीर की बहुत-सी रचनाओं पर सूफ़ीपन का रंग है। दरअसल उनकी कविता की जड़ें उस ज़माने के समाज में दूर तक चली गई थीं। वह आदर्शवादी कवियों की तरह ग़रीबी का गुणगान नहीं करते बल्कि इन्सान की वे मुसीबतें बयान करते हैं जो ग़रीबी के सबब से उस पर आती हैं। लिखा है—

जब आदमी के हाल पै आती है मुफ़लिसी,
किस किस तरह से उसको सताती है मुफ़लिसी।
प्यासा तमाम रोज़ बिठाती है मुफ़लिसी
भूखा तमाम रात सुलाती है मुफ़लिसी,
यह दुख वो जाने जिस पै कि आती है मुफ़लिसी।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में देश के अन्दर नई राष्ट्रीय चेतना विकसित होने लगी। हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने किस तरह देशभक्तिपूर्ण कविताओं की परम्परा चलाई इसे सभी लोग जानते हैं। उस समय की राष्ट्रीय चेतना पर पुनरुत्थानवाद का भी रंग चढ़ा हुआ था। भारतेन्दु बाबू ने आर्य जाति के प्राचीन गौरव के गीत गाये। हाली ने मुसलमानों के बीते वैभव के स्वप्न देखे। फिर भी हाली और भारतेन्दु—दोनों ने ही यह अनुभव कर लिया था कि देश की उन्नति हिन्दू मुसलमानों के मेल से और

उनकी मिली-जुली राष्ट्रीय चेतना से ही हो सकती है। हाली ने देश पर लिखा था--

ऐ वतन ऐ मेरे वहिश्ते वरीं
क्या हुए तेरे आसमाँ और जमी
रात और दिन का वो समाँ न रहा
वो ज़मीं और वो आसमाँ न रहा।

हिन्दू-मुस्लिम-एकता पर लिखा था—

तुम अगर चाहते हो मुल्क की खैर,
न किसी हमवतन को समझो ग़ैर।
हों मुसल्माँ इसमें या हिन्दू
वौद्ध मज़हव हो कि या ब्राह्मो,
सवको मीठी निगाह से देखो।
समझो आँखों की पुतलियाँ सवको।
हिन्द में इत्तफाक होता अगर
खाते गैरों की ठोकरें क्योंकर ?

आधुनिक हिन्दी साहित्य के आरम्भ-काल में जैसे सामाजिक कुरीतियों पर वहुत-सी रचनाएँ की गई, उसी तरह उर्दू-साहित्य में भी समाज-सुधार पर वहुत-सी चीजें लिखी गई। बीसवीं सदी में आकर साहित्य का मतलव मुख्य रूप से कविता नहीं रहता; उसके दूसरे रूप कहानी, उपन्यास, आलोचना वगैरह भी फलने-फूलने लगते है। इस नए ज़माने का हिन्दी-उर्दू साहित्य और भी नजदीकी सांस्कृतिक परम्पराएँ वनाता हुआ चलता है।

हिन्दी उपन्यासों में देवकीनन्दन खत्री के ऐयारी उपन्यासों के बाद हम प्रेमचन्द के सामाजिक समस्याओं वाले उपन्यासों तक पहुँचते हैं। उर्दू में पं० रतननाथ सरशार के 'फिसान-ए-आज़ाद' से आगे वढ़ते हुए हम फिर प्रेमचन्द तक पहुँचते हैं। प्रेमचन्द ने उर्दू और हिन्दी में सामाजिक समस्याओं वाले उपन्यासों की नीव डाली। प्रेमचन्द में हिन्दी-उर्दू की सांस्कृतिक परम्पराओं का मिलकर एक होना साहित्य की वड़ी महत्त्वपूर्ण घटना है। उससे जाहिर होता है कि सांस्कृतिक परम्परा की जड़ें सामन्ती साहित्य के ज्यादा मौजूदा सामाजिक ज़िन्दगी में धँसी होती हैं। प्रेमचन्द के ज़माने में एक नई परम्परा गढ़ी जा रही थी जिसके तत्त्व इस्लाम या हिन्दू-धर्म से न लिये जाकर देश के सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनो से, समाज की नई प्रगति से, वर्गों के नए सम्वन्ध से लिये जा रहे थे। प्रेमचन्द ने हिन्दी और उर्दू में जो नई परम्परा डाली, वह गुणात्मक रूप से साहित्य की पुरानी परम्परा से भिन्न थी। वह दाग़, ज़ौक, विहारी, पद्माकर की परम्परा से ही भिन्न न थी, वह हाली और भारतेन्दु की परम्परा से भी काफ़ी अलग थी। प्रेमचन्द साहित्य के विकास की वह मंज़िल थे जो अपने में सुधारवादी राष्ट्रीयता खत्म करके नये प्रगतिशील साहित्य की तरफ इशारा करती है।

प्रेमचन्द एक नई परम्परा को इसलिए जन्म दे सके कि हमारे समाज में नये परिवर्तन हो रहे थे, उसमें नई आशाएँ, नये उद्देश्य लेकर नये आन्दोलन चल रहे थे।

हिन्दी-उर्दू साहित्य में प्रेमचन्द की परम्परा इस बात का सबसे बड़ा सबूत है कि संस्कृति रचने का काम मनुष्य का सामाजिक जीवन करता है। यह सामाजिक जीवन बदलता रहता है, इसलिए संस्कृति की धारा भी बदलती रहती है। सामाजिक जीवन के मुकाबले में धर्म-सम्प्रदाय, मत मतान्तरों के संस्कार बहुत ही कमजोर साबित होते हैं, और संस्कृति पर उनका असर कम-से-कम होता जाता है।

प्रेमचन्द खुद इस बात को बहुत अच्छी तरह जानते थे कि सामन्त-काल की सांस्कृतिक परम्परा खत्म हो रही है और नये जमाने की एक नई परम्परा कायम हो रही है। वह जानते थे कि दोनों के उद्देश्य, दोनों के साहित्यिक रूप, दोनों के सौन्दर्य-सम्बन्धी मानदण्ड अलग-अलग हैं।

पुरानी साहित्यिक परम्परा के बारे में उन्होंने लिखा था—

'हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। कहीं फिसाने-ए-अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख्याल की और कहीं चन्द्रकान्ता सन्तति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत रस-प्रेम की तृप्ति

'क्या हिन्दी और क्या उर्दू—कविता में दोनों की एक ही हालत थी ... उसमें पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं या अध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं।

"कला का नाम था और अब भी है, संकुचित रूप-पूजा का, शब्द-योजना का, भाव निबन्धन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है, जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं है—भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ हैं। हमारे उस कलाकार के विचार में जीवन का चरम लक्ष्य यही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में वह सौन्दर्य का परमोत्कर्ष देखे।"

(लखनऊ, प्रगतिशील लेखक सम्मेलन में सभापति पद से दिये गये भाषण से)

इस परम्परा को प्रेमचन्द खत्म कर रहे थे। उन्होंने साफ माँग की थी कि साहित्य के पुराने मानदण्डों को बदला जाय। उन्होंने कहा था—

"हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था' उसकी निगाह अन्तःपुर और बँगलों की ओर उठती थी। झोंपड़े और खँडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी उनकी चर्चा करता भी था तो उनका मजाक उड़ाने के लिए।" (उप०)

प्रेमचन्द का हर शब्द उनके सच्चे जनवादी हृदय से निकला है, जो समाज के नये विकास के लिए, साहित्य की परम्परा बदलने के लिए जोर से ललकारता है।

"यदि साहित्य ने अमीरों के याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो,

और उन आन्दोलनों, हलचलों और क्रांतियों से बेखबर हो जो समाज में हो रही हैं—अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता और हँसता हो तो इस दुनिया में उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है।" (उप०)

प्रेमचन्द के ये प्रभावशाली शब्द—उनके हृदय के ये सच्चे उद्‌गार बतलाते हैं कि साहित्य की जो परम्परा धार्मिक अन्धविश्वासों, साम्प्रदायिक विद्वेष और भेदभाव, सामन्ती रूढ़ियों और प्राचीनतावाद को अपना आधार बनाती है, वह खत्म हो जाती है। साहित्य की वह परम्परा जो समाज के गतिशील जीवन को, उसके क्रान्तिकारी वर्ग को, जनता के संघर्ष को अपना आधार बनाती है, वह जीवित रहती है और वही परम्परा जीवित रह सकती है। प्रेमचन्द ने हिन्दी-उर्दू में इसी परम्परा को जन्म दिया था।

कुछ लोगों के मन में शंका पैदा हो सकती है कि प्रेमचन्द ने तो यह सब काम हिन्दी में किया था, उसका जिक्र उर्दू साहित्य के सिलसिले में क्यों किया जा रहा है? ऐसे पाठकों की सेवा में प्रेमचन्द के ये शब्द अर्पित हैं—

"मेरा सारा जीवन उर्दू की सेवकाई करते गुजरा है और आज भी मैं जितनी उर्दू लिखता हूँ, उतनी हिन्दी नहीं लिखता।"

(प्रेमचन्द : कुछ विचार; पृ० १६१)

हिन्दी-उर्दू के लिखनेवालों का सामाजिक वातावरण आम तौर से एक-सा रहा है, इसलिए उनकी साहित्यिक परम्परा के उतार-चढ़ाव, उसके मोड़ और नई दिशा में प्रवाह भी मिलते-जुलते रहे हैं। हिन्दी में रीतिकालीन परम्परा का विरोध किया गया। उर्दू में भी उस परम्परा का विरोध किया गया। हिन्दी में राष्ट्रीय कविता का युग आया, चकबस्त और इकबाल यह युग उर्दू कविता में भी लाये।

हिन्दी-कविता में छायावाद के नाम से नई रोमांटिक कविता का युग आया। इस तरह की रोमांटिक कविता का युग उर्दू में भी आया।

गुलजार में कोयल की सदा गूँज रही है,
कोहसार में पुरशोर हवा गूँज रही है,
कुलकुल से जुनूँखेज फज़ा गूँज रही है,
मैदान में घनघोर घटा गूँज रही है;
बरसात है, बरसात है, बरसात है,
बरसात!

छायावादी कविता के उत्तरकाल में जैसे हिन्दी के कुछ कवियों ने निराशा, ऊब और अकेलेपन के गीत गाये, वैसे ही उर्दू में—

शहर की रात और मैं नाशाद ओ नाकारा फिरूँ,
जगमगाती जागती सड़कों पै आवारा फिरूँ,
ग़ैर की बस्ती है कब तक दरबदर मारा फिरूँ,
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ, ऐ वहशते दिल क्या करूँ,

यह शबनमी छवि यह आकाश पर तारों का जाल,
जैसे सूफी का तसव्वुर, जैसे आशिक का खयाल,
आह लेकिन कौन जाने कौन समझे जी का हाल,
ए गमे दिल क्या करूँ, ए वहशते दिल क्या करूँ।

हिन्दी में जैसे कुछ कवियों ने प्राचीनतावाद को ऐसा साधन बनाया है कि साहित्य का पानी उतर जाय, उसी तरह उर्दू में भी अलगाव और फूट पैदा करनेवाले, इस्लाम से उर्दू का नाता जोड़नेवाले, मुसलमानों को अलग जाति और उन्हें अरब और ईरान की संस्कृति में मिलानेवाले शायर भी हुए हैं। लेकिन उनकी वजह से उर्दू-साहित्य को साम्प्रदायिक समझना उतनी ही बड़ी अक्लमन्दी होगी, जितनी किप्लिंग की वजह से अंग्रेजी साहित्य को साम्राज्यवादी समझना।

श्री पुरुषोत्तमदास टंडन का कहना है कि उर्दूवाले राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन वगैरह का नाम लेना अपनी संस्कृति के खिलाफ समझते हैं। अगर ऐसा है तो नजीर ने 'कन्हैया का बालपन' क्यों लिखा? और लिखा तो ऐसा को जाति-बाहर क्यों नहीं कर दिया गया? नजीर ने लिखा है—

यारो सुनो ये दधि के लुटैया का बालपन,
औ मधुपुरी नगर के बसैया का बालपन,
मोहन-स्वरूप नृत्य करैया का बालपन,
बन बन के ग्वाल गौएँ चरैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन।

नजीर ने दीवाली पर लिखा था—

हर इक मकान में जला फिर दिया दिवाली का,
हर इक तरफ को उजाला हुआ दिवाली का,
सभी के दिल में समा भा गया दिवाली का,
किसी के दिल को मजा खुश लगा दिवाली का,
अजब बहार का है दिन बना दिवाली का।

होली पर दूसरे सुर-ताल में लिखा था—

जब फागुन रंग झमकते हों तब देख बहारें होली की,
और डफ के शोर खड़कते हों तब देख बहारें होली की।

नये युग के कवियों में सागर निजामी ने कृष्ण के बाँसुरी बजाने इत्यादि पर लिखा है—

अय गोपाल झूमकर बंसरी बजाओ फिर।
बंसरी के फूँक से दिल को गुदगुदाओ फिर,
प्रेम और प्रीति की, रीति को जगाओ फिर

० ० ०

खुद ही तुम कमल बनो, खुद ही मुसकराओ फिर,
बूयेगुल के रूप में, सबके पास जाओ फिर,
बंसरी बजाओ फिर दो जहां पै छाओ फिर,
अय गोपाल झूमकर बंसरी बजाओ फिर।

यहाँ पर अकबर इलाहाबादी का जिक्र करना उचित होगा, जिनके ढेरों शेर अनेक हिन्दी लेखकों की रचनाओं में उद्धृत किये हुए मिलेंगे। उनके बहुत से शेर कहावतों का दर्जा पा गये हैं—

खींचो न कमानों को न तलवार निकालो,
जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो।

० ० ०

कौम के गम मे डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ,
रंज लीडर को बहुत है मगर आराम के साथ।

अकबर की नजर अक्सर धार्मिक आस्था और पुरानी तहजीब पर रहती है। वह अंग्रेजियत के खिलाफ है लेकिन उसके बदले एक नई जनवादी संस्कृति का नक्शा उनके सामने नही है। उनके जमाने की सीमाएँ भी थीं। फिर भी प्राचीनतावादियों पर कैसा व्यंग्य किया है !—

पेट मसरूफ है किलर्की में
दिल है ईरान और टर्की में।

प्राचीनतावाद और कट्टरतावाद के खिलाफ बहुत-से उर्दू कवियों ने लिखा है। यही सबब है कि वह अपने यहाँ एक जनवादी और प्रगतिशील परम्परा कायम कर सके है।

मुस्लिम प्राचीनतावादियों पर व्यंग्य करते हुए जोश ने लिखा है—

आ ही नहीं सकता मेरे मुँह लालाए बुजदिल (यानी बुज़दिल लाला मेरी बराबरी नही कर सकता)।

मैं पाक, वो नापाक, मैं गोरा हूँ, वो काला,
क्या उसका मेरा जिक्र, वो देशी मैं विदेशी,
मैं मिस्र की मस्जिद, वो बनारस का शिवाला,
गंगा की हर इक लहर में गलतीदा है पस्ती,
दजले की हर एक मौज में रक्सां है हिमाला।

(प्राचीनतावादी मौलाना फर्माते है कि गंगा की लहरों में पस्ती है और दजला की मौजों में हिमालय का नज्जारा है !)

जोश ने लिखा है कि शैतान मौलवी को यों फँसा लेता है—

यही कह-कह के राह करता है गुम
कि खुदा के हो खानदान से तुम।

प्राचीनतावाद के विरोध के फलस्वरूप हिन्दू-मुस्लिम-एकता पर उर्दू कवियों ने बहुत सुन्दर रचनाएँ की हैं।

इकबाल ने लिखा था—

आ गैरियत के पर्दे इक बार फिर उठा दें
बिछड़ों को फिर मिला दें, नक्शे दुई मिटा दें।
सूनी पड़ी हुई है मुद्दत से दिल की बस्ती
आ एक नया शिवाला, इस देश में बना दें।
दुनिया के तीरथों से ऊँचा हो अपना तीरथ,
दामाने आसमाँ से उसका कलस मिला दें।
हर सुबह उठके गायें मंतर वो मीठे मीठे,
सारे पुजारियों को मय पीत की पिला दें।
शक्ती भी शान्ती भी भक्तों के गीत में है
धरती के वासियों की मुक्ती पिरीत में है।

यह याद रखना चाहिए कि हिन्दू-मुस्लिम-एकता की अडिग और पक्की नींव जनतंत्र ही है, भावुकता के आधार पर कायम की हुई एकता, सिर्फ ईश्वर-अल्ला का नाम लेकर कायम की हुई एकता टिकाऊ नहीं हो सकती। बहुत कांग्रेसी नेता एकता का दम भरते थे, आज वे प्राचीनतावाद और हिन्दू सम्प्रदायवाद के भक्त नजर आते हैं। कारण यह है कि किसान मजदूरों के आन्दोलन का विरोध करके, उनके संघर्ष को अपने लिए काल समझकर कोई भी एकता का हिमायती नहीं हो सकता। उसे एकता अपने लिए एक खतरा मालूम होने लगती है। इकबाल भी इस एकता को छोड़कर सम्प्रदायवाद की तरफ झुक गये थे।

उर्दू में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ बहुत काफी और बहुत जोरदार कविताएँ लिखी गई हैं। इन पर एक नजर डालने से ही जाहिर हो जाता है कि यह आरोप कितना झूठा है कि उर्दू के कवियों को अपने देश से प्रेम नहीं है। जोश ने खास तौर से साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन पर बहुत सुन्दर पंक्तियाँ लिखी हैं।

लन्दन में बादशाह सलामत के राजगद्दी पाने पर जोश ने हिन्दुस्तान के बारे में लिखा था—

'किश्वरे हिन्दोस्ताँ में रात को हंगामे ख़ाब,
करवटें रह-रह के लेता है फ़ज़ा में इन्क़लाब,
गर्म है मौजे बग़ावत से जवानों का दिमाग़,
आँधियाँ आने को हैं ऐ बादशाही के चिराग़

० ० ०

आपके ऐवान में रक्सां हैं लपटें ऊद की,
हिन्दियों की लाश से आती है बू बारूद की।

साम्राज्यविरोधी आन्दोलन पर जोश ने लिखा था—

क्या हिन्द का जिन्दाँ काँप रहा है गूँज रही हैं तकबीरें
उकताए है शायद कुछ कैदी और तोड़ रहे हैं जंजीरें

० ० ०

क्या उनको खबर थी, ओठों पर जो कुफ्ल लगाया करते थे,
एक रोज इसी खामोशी से टपकेंगी दहकती तकरीरें,
सँभलो कि वो जिन्दाँ गूँज उठा, झपटो कि वो कैदी छूट गये,
उट्ठो कि वो बैठी दीवारें, दौड़ो कि वो टूटी जंजीरें।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के फ़र्जन्दों से कहा था—

इक कहानी वक्त लिक्खेगा नये मजमून की
जिसकी सुर्खी को ज़रूरत है तुम्हारे खून की।

जोश का साम्राज्य-विरोध १५ अगस्त, सन् '४७ के बाद गुमराह हो गया है। आजकल वह 'आजकल' के संपादक हैं। वह उन लोगों में हैं जो अपनी जनता का साथ छोड़कर उस दल के साथ जा मिले हैं जो हिन्दुस्तान को साम्राज्यवादी खेमे के साथ बाँधे हुए है।

३

उर्दू पर यह दोष लगाया जाता है कि उसमें फारसी की दस-पाँच बहरें ही काम में लाई जाती हैं और हिन्दी के हजारों छन्दों के भण्डार को अछूता छोड़ दिया गया है।

यहाँ पर पहले तो यह याद रखना चाहिए कि उर्दू की बहरें अब सिर्फ़ उर्दू तक सीमित नहीं रहीं। हिन्दी में बहुत से कवियों ने उन्हें अपना लिया है और उनमें बेरोक रचनाएँ करते हैं। इस तरह की रचनाएँ वे कवि भी करते हैं, जो प्राचीनतावाद के उपासक हैं, जैसे दिनकर।

धुँधली हुई दिशाएँ, छाने लगा कुहासा,
कुचली हुई शिखा से, आने लगा धुआँ-सा,
कोई मुझे बता दे, क्या आज हो रहा है,
मुँह को छिपा तिमिर में, क्यों तेज रो रहा है।

इसके अलावा फारसी की बहरों और हिन्दी के छन्दों में उतना फर्क नहीं है जितना कुछ लोग समझते हैं। श्री हरिशंकर शर्मा ने अपने 'उर्दू-साहित्य के इतिहास' (पृ० १९) में लिखा है—"उर्दू में इस्तेमाल होनेवाले कुछ छन्दों के नाम ये हैं—सुमेरु, विधाता, विहारी, शास्त्र, पीयूषवर्षा, भुजंगप्रयात, खरारी, हरिगीतिका, आनन्दवर्द्धक, दिग्पाल, भुजंगी, चौपाई आदि।" इससे यह तो जाहिर ही होता है कि छन्दों के लिहाज से हिन्दी-उर्दू की सांस्कृतिक परम्पराओं के बीच कोई गहरी न पट सकने वाली खाई नहीं है।

छायावादी कवियों ने—खासकर निरालाजी ने—जिस तरह मुक्तछन्द लिखने की प्रथा डाली थी, उसी तरह उर्दू में बहुत-से कवियों ने भी मुक्तछन्द में रचनाएँ की।

लेकिन जो चीज़ हिन्दी-उर्दू कविता को सबसे ज्यादा नजदीक लाती है, वह उनके गीत हैं। उर्दू कवि एक अरसे से गीत लिखने आये हैं। प्रगतिशील कवियों ने जो गीत लिखे हैं, वे रोमांटिक गीतों के तंग दायरे से निकलकर आम जनता के गले में रम चुके हैं। ऐसे गीत एक दो नहीं, सकड़ों हैं। उर्दू-साहित्य का यह पहलू उसका सबसे लोकप्रिय और जनवादी रूप हमारे सामने लाता है। इन गीतों की सांस्कृतिक परम्परा एक ऐसी शक्ति-शाली और प्रगतिशील परम्परा है जो हिन्दी-उर्दू के बाकी भेदभाव को दूर करने में बहुत बड़ी मदद करेगी। इन गीतों को देखने से पता चलता है कि जब हम जनता के संघर्ष, उसकी मुसीबतों, आशाओं और आदर्शों को लेकर साहित्य रचते हैं, तब प्राचीनवाद के तमाम अलगाव पैदा करनेवाले रूप आप से-आप खत्म हो जाते हैं। हमारी जनता की संस्कृति एक है। हमारा साहित्य जितना ही जनता के नजदीक आता है, उतना ही उसकी सांस्कृतिक परम्परा प्राचीनता से मुंह मोड़कर अपने लिये मौजूदा जमाने से तत्व चुनती है। जनता की यह सबल सांस्कृतिक परम्परा पुराने जमाने की संस्कृति से सिर्फ वे चीजें लेती है जो उसमें धार्मिक अंधविश्वास और भेदभाव पैदा करने के बदले उसे एकता, आजादी और जनतंत्र के नजदीक ले जाती हैं और जनवादी भावनाओं को मजबूत करती हैं।

उर्दू के कवियों ने हमारे जन-आन्दोलन को जो गीत दिये हैं, उनमें मखदूम मुहीउद्दीन का गीत—'यह जंग है जगे आजादी आजादी के परचम के तले' मजदूर वर्ग का अपना गीत है। बंगाल के अकाल पर वामिक का यह गीत लोकप्रिय हो चुका है—

पूरब देस में डुग्गी बाजी फैला दुख का जाल,
दुख की अगनी कौन बुझाये सूख गये सब ताल,
जिन हाथों ने मोती रोले आज वही कंगाल,
रे साथी आज वही कंगाल!

भूखा है बंगाल!
भूखा है बंगाल रे साथी, भूखा है बंगाल!

इसी तरह मजाज़ का गीत 'बोल अरी ओ धरती, बोल, राजसिंहासन डाँवाडोल,' अली सरदार जाफरी के कई गीत, प्रेम धवन का 'अरे अब भागो, लन्दन जाओ' उर्दू में एक ऐसी परम्परा की नींव डाल चुके हैं जिसे हम हिन्दी-उर्दू की मिली-जुली परम्परा कह सकते हैं।

आधुनिक उर्दू-कविता उन तमाम रूपों और कल्पनाओं से पीछा छुड़ा चुकी है जिन्हें श्री रघुपतिसहाय फिराक ने 'सदा बहार और सदा सुहाग' कहा था। उन्होंने भारतेन्दु से लेकर निराला तक हिन्दी-साहित्य के तमाम विकास पर जो बुहारी फेर दी थी, उससे हिन्दी को उर्दू के नजदीक लाने में मदद न मिल सकती थी। इसके अलावा हिन्दी के तमाम विकास पर कीचड़ उछालने के बाद इन्होंने आदर्श रूप से जो पेश किये थे और पुराने रूपों के शाश्वत सौन्दर्य की जो व्याख्या की थी, वह एक प्रतिक्रिया-

वादी काम था, जिसका विरोध करना जरूरी था। पुराने रूपकों और प्राचीनतावाद का विरोध जिस तरह उर्दू के नये कवियों ने—खास तौर से प्रगतिशील कवियों ने किया है, उसके लिए उनकी जितनी तारीफ की जाय, थोड़ी है। इस सिलसिले में मिव्ते हसन का लेख विशेष ध्यान देने योग्य है जिसमें उन्होंने इकबाल की जनतंत्र-विरोधी धारणाओं की आलोचना की थी। यह लेख 'नया अदब' में छपा था (जब 'नया अदब' लखनऊ से निकलता था)। जिस तरह हिन्दी की प्रगतिशील कविता पर यह तोहमत लगाई जाती है कि उसने प्राचीन संस्कृति से नाता तोड़ लिया है, वह छिछली राजनीतिक और प्रचारात्मक हो गई है वगैरह, उसी तरह उर्दू की प्रगतिशील कविता पर भी आरोप लगाए जाते रहे हैं। इनका जवाब देते हुए एहतेशाम हुसैन ने बहुत-कुछ लिखा है और उन्होंने उर्दू में नई तरह की आलोचना को आगे बढ़ाया है। उर्दू की आलोचना, उसके नाटक, कहानियाँ, उपन्यास आज उसी तरह नये रास्ते पर चल रहे हैं जिस तरह हिन्दी-साहित्य के ये रूप। उपन्यासों और कहानियों का सम्बन्ध अवाम की जिन्दगी से होता है, इसलिए इनमें प्राचीन रूपकों, अलंकारों वगैरह का असर नहीं के बराबर होता है। हिन्दी के बहुत से पाठक 'हंस' में कृशनचन्दर की कहानियाँ, स्केच पढ चुके होंगे। खास तौर से रुद्रदत्त भारद्वाज पर उनका स्केच, 'तीन गुंडे' नाम की कहानी यह जाहिर करती है कि उर्दू-साहित्य मौजूदा ज़िन्दगी से अपनी विषयवस्तु चुनकर एक मिली-जुली जनवादी परम्परा गढ रहा है।

उर्दू की नई कविता में पुरानी व्यवस्था का विरोध और जनतन्त्र की तरफ बढ़ने की ख्वाहिश पग-पग पर मिलती है। उर्दू कविता में देश-विदेश की महत्त्वपूर्ण घटनाओं, जन-आन्दोलनों की गहरी छाप है। रूस पर हिटलरी हमला, लाल फौज का वीरतापूर्ण संग्राम, बर्लिन की जीत, हिन्दुस्तान में क्रिप्स-मिशन का आना, देश का बँटवारा, साम्प्रदायिक दंगे, गांधीजी की हत्या, आज़ाद हिन्दुस्तान में जनता के आन्दोलनों पर दमन, नये जन-संघर्ष, इन सभी की तसवीरें उर्दू कविता में मिलेंगी। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि उर्दू की सांस्कृतिक परम्परा को आज वही घटना-क्रम, वही सामाजिक परिस्थितियाँ, वही जन-संघर्ष रच रहे हैं जो हिन्दी की सांस्कृतिक परम्परा रच रहे हैं। (१९४९)

६

भारत की भाषा-समस्या

भाषा-समस्या का सामान्य महत्त्व

भाषा-समस्या मजदूर वर्ग, उसकी पार्टी, तमाम श्रमिक जनता और प्रगतिशील बुद्धिजीवियों के लिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि लेनिन के शब्दों में, "भाषा मानवीय सम्पर्क का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है" (जातियों के आत्मनिर्णय का अधिकार)।

भाषा समस्या का महत्त्व सामाजिक विकास की मंजिलों में अलग-अलग होता है।

पूँजीवाद से पहले सामन्ती और कबीलाई सामाजिक सम्बन्ध विभिन्न जनसमूहों का एक ही जाति (नेशन) में संगठित होने से रोकते हैं, इसलिए वे आधुनिक के विकास में भी बाधा डालते हैं। वस्तुतः जिस तरह पूँजीवाद किसी जाति के गठन में प्रगतिशील भूमिका पूरी करता है, इस तरह वह आधुनिक भाषाओं के विकास में भी प्रगतिशील भूमिका पूरी करता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जातीय समस्या और भाषा समस्या में बड़ा गहरा सम्बन्ध है, किसी जाति के सामाजिक विकास तथा उस विकास के सांस्कृतिक प्रतिबिम्ब में गहरा सम्बन्ध है। यह सांस्कृतिक प्रतिबिम्ब सामाजिक विकास को भी प्रभावित करता है।

लेनिन के अनुसार "समस्त संसार में सामन्तवाद पर पूँजीवाद की अन्तिम विजय का युग जातीय आन्दोलनों के साथ जुड़ा रहा है। इन आन्दोलनों का आर्थिक आधार यह है कि बिकाऊ माल की पैदावार को पूर्ण विजयी बनाने के लिए पूँजीपतियों के हाथ में घरेलू बाजार आ जाना चाहिए, उनके अधिकार में राजनीतिक रूप से एकताबद्ध प्रदेश होने चाहिएँ जहाँ के लोग एक ही भाषा बोलते हों, इस भाषा के विकास में और साहित्य में उसके व्यवहार को सुनिश्चित करने में जो भी अड़चनें आती हैं, उन्हें दूर करना होता है।"

पूँजीवादी सामाजिक विकास की आवश्यकताएँ, बड़े पैमाने पर जातियों के आत्म-निर्णय का अधिकार, व्यापार-सम्बन्ध कायम करने की आवश्यकताएँ, घरेलू बाजार को सुव्यवस्थित करने की आवश्यकताएँ संक्षेप में यह कि जातीय पैमाने पर पूँजीवादी

सामाजिक सम्बन्धों के गठन की आवश्यकताएँ भाषा की एकसूत्रता और उसके विकास की प्रक्रिया को आगे बढ़ाती हैं। भाषा की एकता और विकास के बिना आधुनिक जातियों का विकास असम्भव है।

'मार्क्सवाद तथा जातीय और औपनिवेशिक समस्या' नाम की पुस्तक में स्तालिन ने बताया है कि जो जातियाँ पूँजीवादी विकास में पिछड़ गईं; जिन्हें बहुजातीय पूँजीवादी राष्ट्र में राज्य बनाने का अधिकार नहीं मिले, उनका उत्पीड़न उन बड़ी जातियों के पूँजीपतियों ने किया जो पूँजीवादी विकास में आगे रही थीं। ज़ारशाही रूस में ग़ैर-रूसी जातियों की भाषाओं का दमन किया गया। अपनी भाषा का व्यवहार करने के लिए संघर्ष जातीय आन्दोलन का मुख्य अंग बन गया। उत्पीड़ित जाति के पूँजीपति सभी वर्गों को अपने हितों के लिए एकजुट करने का प्रयत्न करते हैं। भाषा-समस्या को लेकर भी उनकी यही नीति रहती है। किन्तु भाषा की समस्या उत्पीड़ित जाति के मजदूर वर्ग के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। स्तालिन के अनुसार "तातार या यहूदी मजदूर को सभा और भाषणों में अपनी भाषा का व्यवहार करने की सुविधा न दी जाय, यदि उसके स्कूल बन्द कर दिए जाएँ तो उसके बौद्धिक विकास की कोई सम्भावना न रहेगी," (मार्क्सवाद तथा जातीय और औपनिवेशिक समस्या)। मजदूर वर्ग के हित में है कि वह स्कूलों, भाषणों, अखबारों आदि में अपनी भाषा के व्यवहार के लिए लड़े।

स्तालिन ने यह भी बताया है कि उत्पीड़न से पूँजीपतियों के लिए यह आसान हो जाता है कि मजदूर वर्ग को यह भुलावा दें कि उसके और पूँजीपतियों के हित एक हैं। जातीय समस्या मुख्य सामाजिक प्रश्नों से लोगों का ध्यान हटा देती है। भाषा-समस्या से भी पूँजीपति इस प्रकार लाभ उठाते हैं और लोगों को क्रान्ति के रास्ते से हटा देते हैं।

समाजवादी क्रान्ति के बाद जातियों का नया स्वाधीन विकास आरम्भ हुआ। सोवियत संघ में जातियाँ स्वायत्त सत्ता के अधिकार को व्यवहार में ला सकें, इसके लिए अपनी भाषा के विकास और व्यवहार का प्रश्न फिर सामने आया। स्कूलों, अदालतों, सरकारी संस्थाओं आदि में अपनी भाषा के व्यवहार के बिना कोई भी जाति सोवियत स्वायत्त शासन को असली रूप नहीं दे सकती।

समाजवादी क्रान्ति के बाद भी सोवियत संघ में पूँजीवाद के अवशेष बने रहे। ये अवशेष इस बात से जाहिर हुए कि जातीय समस्या को लेकर छोटी और बड़ी दोनों ही तरह की जातियों में अध-राष्ट्रवाद के रुझान दिखाई दिये। एक तरफ तो सोवियत संघ में ऐसे लोग थे जो कहते थे कि उक्रैनी नाम की कोई जाति ही नहीं है; इन लोगों का विचार था कि बोल्शेविक पार्टी कृत्रिम रूप से इस जाति को गढ़कर खड़ा कर रही है। दूसरी तरफ ऐसे लोग थे जो कहते थे कि समाजवाद की जीत के बाद सब जातियाँ मिलकर एक हो जाएँगी, उनकी भाषाएँ आपस में घुल-मिल जाएँगी और सबकी एक ही सामान्य भाषा होगी। ग़ैर-रूसी जातियों में कुछ लोग ऐसे थे जो यह माँग करते थे कि उनकी जाति के मज़दूरों की संस्कृति को रूसी मजदूर वर्ग की संस्कृति के प्रभाव से मुक्त रखा जाय। इस

प्रकार समाजवादी क्रान्ति के बाद भी विभिन्न रूपों में अंध राष्ट्रवाद का खतरा बना रहा।

मजदूरवर्ग को भाषा-समस्या का दोहरा महत्त्व समझना चाहिए। मजदूरवर्ग के अपने राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास के लिए भाषा-समस्या का महत्त्व है, साथ ही क्रान्ति के विरुद्ध पूंजीपति वर्ग उसका उपयोग मजदूरों को भटकाने के लिए भी करता है।

पूंजीवाद से पहले के समाज में मुख्य कर्तव्य यह होता है कि सामन्ती विघटन के खिलाफ भाषा की एकता के लिए संघर्ष किया जाय। आगे बढ़ी हुई जातियों के मजदूर वर्ग का कर्तव्य है कि वह पिछड़े लोगों को जातिरूप में सुगठित होने में मदद दे।

जहां जातियां औद्योगिक विकास की मंजिलें पार कर चुकी हैं लेकिन जिन्हें अपनी भाषा का व्यवहार करने की आज़ादी नहीं है, वहाँ उत्पीड़क और उत्पीड़ित दोनों ही तरह की जातियों के मजदूर वर्ग का कर्तव्य यह है कि जनवादी क्रान्ति की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए जातीय भाषा के व्यवहार के अधिकार के लिए संघर्ष करें। पूंजीवाद पर मजदूर वर्ग की विजय के पहले और बाद को—दोनों ही स्थितियों में—इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भाषा-समस्या को लेकर छोटी और बड़ी—दोनों ही तरह की—जातियों में अंध राष्ट्रवादी रुझान पैदा न हो।

यह हुआ भाषा-समस्या का सामान्य महत्त्व।

भारत में भाषा समस्या का विशेष महत्त्व

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ भारत की तमाम जनता संघर्ष करती रही है—सबसे पहले भाषा-समस्या का महत्त्व इस संघर्ष के संदर्भ में है।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अंग्रेज़ी को अनिवार्य राजभाषा के रूप में भारत पर इसलिए लादा कि वह जनता का शोषण कर सके। इस प्रकार उसने भारत की अनेक जातियों की भाषाओं की प्रगति में बाधा डाली। स्वाधीनता संग्राम के दौरान भारतीय जनता ने यह मांग बराबर पेश की कि शिक्षा-संस्थाओं, अदालतों, शासनतंत्र आदि में अंग्रेज़ी की जगह उसकी भाषा का चलन हो। जातीय प्रदेशों में अंग्रेज़ी की जगह वहाँ की भाषाओं का व्यवहार हो, जनता के लिए यह अब भी ज्वलन्त प्रश्न बना हुआ है और अगस्त, सन् १९४७ के राजनीतिक परिवर्तनों के बाद यह समस्या अभी कहीं हल होती नहीं दिखाई देती।

हिन्दुस्तानी प्रदेश तथा समस्त भारत की राजभाषा हिन्दी, उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी हो—इस संदर्भ में भारत की भाषा-समस्या विशेष महत्त्वपूर्ण हो गई है। सबसे बड़े विवाद समस्या के इसी पक्ष को लेकर हुए हैं। प्रमुख सामाजिक समस्याओं से जनता का ध्यान हटाने में उच्च वर्गों के पास हिन्दी-उर्दू समस्या सबसे महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक साधन रही है। साम्प्रदायिक विद्वेष पैदा करने के लिए इस समस्या का उपयोग विशेष रूप से किया जाता है। भारत और पाकिस्तान में चरम प्रतिक्रियावादी अपने हित साधने के लिए इस समस्या का उपयोग करते हैं।

भारत-जैसे बहुजातीय देश में अनिवार्य राजभाषा का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है क्योंकि बहुजातीय पूँजीवादी राज्यों से देखा जाता है कि इस तरह की अनिवार्य राजभाषा राजनीतिक-सांस्कृतिक क्षेत्रो में दूसरी भाषाओं के व्यवहार पर रोक लगाती है और कभी-कभी उनके इस अधिकार को एकदम अस्वीकार करती है। भारत के बड़े पूँजीपतियों से अन्य जातियों और जनसमूहो का जो सम्बन्ध है, उसे देखते हुए राष्ट्रभाषा का प्रश्न अपना वर्ग महत्त्व रखता है।

कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहाँ लोग मिली-जुली बोलियाँ बोलते है। वहाँ सामन्ती सम्बन्ध अब भी कायम हैं। वहाँ के जातीय प्रदेश में टकसाली जातीय भाषा का विकास अभी तक नहीं हो पाया। राजस्थान, हिमाचल मे जहाँ पहाड़ी बोलियाँ बोली जाती है, ऐसे ही इलाके हैं।

भाषा-समस्या कबीलों और पिछड़े हुए जातीय गुटों के लिए महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न पूँजीवादी गुट इनका शोषण करते हैं। उन्हें अपनी भाषाओं के व्यवहार करने का अधिकार नही है। उनकी भाषाओं का अस्तित्व ही अस्वीकृत कर दिया जाता है।

इतनी बातो से ही स्पष्ट हो जाता है कि मजदूर वर्ग और उसकी पार्टी को भाषा-समस्या पर क्यों ध्यान देना चाहिए।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद और राजभाषा के रूप में अंग्रेज़ी की भूमिका

शिक्षा और संस्कृति के मामलों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नीति यह रही है कि आम जनता को अज्ञान और पिछड़ेपन की दशा मे रखा जाय। शासन-व्यवस्था के लिए क्लर्कों की फौज तैयार करने के लिए साम्राज्यवाद ने अंग्रेजी की पढ़ाई अनिवार्य कर दी और उसे शिक्षा का अनिवार्य माध्यम बनाया। पाश्चात्य विचारधारा के सम्पर्क से भारतीय भाषाओं और साहित्य को जो भी लाभ हुआ, वह अप्रत्यक्ष रूप से हुआ; वह लाभ साम्राज्यवादियों की आशाओं के विपरीत था। इस बात का प्रचार वे बराबर करते रहे कि भारत भाषाओ का अजायबघर है और उसमें जो भी एकता है वह इसलिए कि अंग्रेजी ने 'लिंगुआ फ्राङ्का' की भूमिका पूरी की है। यूरोप के अनेक प्रसिद्ध भाषाशास्त्रियों ने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की यह स्थापना मान ली, इसलिए भी कि अपने उपनिवेशों मे वे भी यही खेल खेल रहे थे।

भारतीय जनता ने माँग की कि शिक्षा, अदालत, कचहरी, शासन इत्यादि में अंग्रेज़ी की जगह उसकी अपनी भाषा चले। यह बिलकुल न्यायपूर्ण माँग थी। राष्ट्रीय नेताओं से आशा की जाती थी कि सन् १९४७ में आजादी पाने के बाद इस माँग को वे पूरा करेंगे। लेकिन विभिन्न कारणों से वे उसे पूरा नहीं कर सके। सबसे पहला कारण तो ह है कि अक्सर ये नेता स्वयं अंग्रेजी में डूबे होते हैं। उन्होने भारतीय भाषाओं के विकास के लिए प्रायः कुछ भी नहीं किया। दूसरा कारण यह है कि वे विभिन्न जातीय भाषाओं में संस्कृत के शब्द ठूँसने की नीति पर चल रहे हैं, जिससे कि आम जनता देश के राज-

नीतिक और सांस्कृतिक जीवन में भाग न ले सकें। जब हम संस्कृत-गर्भित भाषा पर लोग हँसते हैं और उनकी हँसी उचित ही है, तब वे एक सर्द आह भरकर अंग्रेजी की शरण में लौट आते हैं और कहते हैं कि अंग्रेजी अभी पाँच या दस साल और चलने दी जाय। दो सौ साल तक उच्च शिक्षा का राष्ट्रीयकरण न होगा, वैसे ही पाँच या दस साल तक आम जनता की उच्च शिक्षा, राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्यवाही उसकी अपनी भाषा में न होगी।

कुछ विद्वान हिन्दी के ही संस्कृतीकरण की माँग नहीं कर रहे हैं। बँगला जैसी भाषा में भी वही विद्वान उसी संस्कृतीकरण की माँग कर रहे हैं और उनका उद्देश्य भी वही है। कुछ समय पहले पश्चिम बंगाल की सरकार ने उच्चकोटि के विद्वानों की एक कमिटि बनाई जिसमें प्रसिद्ध भाषाविद् डा० सुनीतिकुमार चटर्जी भी थे। इस समिति को यह काम सौंपा गया था कि वह शासन में व्यवहार के लिए बँगला में पारिभाषिक शब्दावली बनाए। इस शब्दावली की भूमिका में उन उच्चकोटि के विद्वानों ने कुछ प्रचलित शब्दों को अस्वीकृत कर दिया क्योंकि उनकी समझ में वे शब्द काफी गरिमायुक्त नहीं हैं। उनके बदले उन्होंने ऐसे शब्द रखे हैं जो जन-साधारण की समझ में नहीं आते, जो कभी-कभी असाधारण जनों की समझ में नहीं आते। इसलिए पारिभाषिकी-निर्माताओं ने बंगाली जनता के देश प्रेम को ललकारा है कि जैसे वे अंग्रेजी का अध्ययन करते रहे हैं, वैसे ही मातृभाषा के अध्ययन को भी अधिक समय दें।

केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें जनता की इस माँग को पूरा नहीं कर पा रहीं कि शिक्षा-संस्थाओं, कचहरी, अदालत, सरकारी दफ्तरों आदि में जनता की भाषाओं का व्यवहार हो। शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की विरासत कायम है।

पूँजीवादी सामन्ती औपनिवेशिक व्यवस्था भारतीय भाषाओं के पूर्ण विकास को रोकती है। शासक-वर्ग जनता को या तो अंग्रेजी की शरण लेने को कहते हैं या भारतीय भाषाओं का ऐसा संस्कृतीकरण करते हैं कि वे लोगों को दुर्बोध हो जाएँ।

अनिवार्य राजभाषा का सवाल

विभिन्न प्रदेशों में अंग्रेजी की जगह भारतीय भाषाओं का व्यवहार हो, यह सही माँग है और मजदूर वर्ग को इसका समर्थन करना चाहिए। लेकिन अंग्रेजी की जगह सारे देश में एक ही भाषा का चलन हो, यह माँग उस जनतान्त्रिक माँग से भिन्न है। अंग्रेजों ने सारे भारत पर अंग्रेजी लादी—यह साम्राज्यवादी कार्य था। उसका स्थान एक भारतीय भाषा ले ले, यह बात जनतान्त्रिक और न्यायपूर्ण न होगी। फिर भी पूँजीवादी नेता हिन्दी उर्दू या हिन्दुस्तानी और अंग्रेजी को भी अनिवार्य राजभाषा बनाने का कार्य करते रहे हैं।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के राजनीतिक प्रस्ताव में कहा गया है कि बड़े पूँजी-

पति महाराष्ट्र, केरल, तमिलनाड आदि प्रदेशों के आत्मनिर्णय के अधिकार को नहीं मान रहे। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' ने ६ दिसम्बर, १९४८ के अंक में लिखा है कि ब्रिटिश 'सम्पर्क' की कुछ विरासत सुरक्षित रहनी चाहिए जैसे कि हाईकोर्टों में केन्द्रीय भाषा का ही चलन होना चाहिए और विभिन्न प्रान्तों में एक ही केन्द्रीय भाषा का चलन न होने से उच्च शिक्षा की प्रगति में बाधा पड़ेगी। इस प्रकार विभिन्न प्रदेशों के हाईकोर्टों और उच्च शिक्षा-संस्थाओं में एक ही केन्द्रीय भाषा के चलन की माँग करके बड़े पूंजीपति जातियों के पूर्ण राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास में बाधा डालते हैं।

भारत के बड़े पूंजीपति चाहते है कि अंग्रेजों की जगह देश के शोषक बन जाएँ: यह सम्भव न हो तो विदेशी मालिकों के साथ मिलकर शोषण में हिस्सा बँटाएँ। जब तक साम्राज्यवाद से समझौता नही हुआ था, तब तक वे भाषायी इलाकों—अर्थात् वहाँ के पूंजीपतियों के आत्मनिर्णय का अधिकार मानते थे। विदेशी मालिकों की छत्रछाया में जहाँ एक बार उनका अधिकार राज्यसत्ता पर हो गया, वहाँ उन्होंने राष्ट्रवाद, एकता, केन्द्र आदि के नाम पर अपने वायदे तोड़ना आरम्भ कर दिया। भारत के बड़े व्यापारी सारे भारत के लिए एक राष्ट्रभाषा या राजभाषा की चर्चा बराबर करते रहे है क्योंकि इसके द्वारा वे अपने हित में बाजार को सुदृढ कर सकेंगे और दूसरी जातियों के पूंजीपतियों को निकाल सकेंगे।

जो लोग हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी बोलते या लिखते है, उन्हें बड़े पूंजीपतियो की महत्त्वाकांक्षाओं से दिलचस्पी नही हो सकती। वे बिलकुल न चाहेंगे कि किसी भारतीय भाषा के पूर्ण और स्वतन्त्र विकास में बाधा डाली जाय। बड़े पूंजीपति उनकी साम्राज्य-विरोधी भावना से लाभ उठाना चाहते है। वे पूछते हैं: अंग्रेजी जाय; उसकी जगह कौन-सी भाषा ले ?

आम जनता अवश्य चाहती है कि अंग्रेजी उन पर न लदी रहे जैसे वह अब तक लदी रही है। बड़े पूंजीपति इस बात को जानते है। इसलिए वे कहते हैं कि अंग्रेजी जाय। लेकिन वे लोगों को यह सोचने का मौका नहीं देते कि उसकी जगह कौन लेगा ? बजाय यह कहने के कि जब अंग्रेजी जायगी तब प्रत्येक भारतीय भाषा को अपने स्वत्व प्राप्त होंगे, वे पूछते हैं, कौन-सी एक भाषा अंग्रेजी की जगह लेगी। इस तरह सवाल को पेश करके वे जनता को गुमराह करते हैं।

जो लोग चाहते हैं कि इस तरह के सवाल जनतान्त्रिक ढँग से हल किये जाएँ, वे सबसे पहले हर जाति का यह हक मानेंगे कि हर स्तर पर वह अपने राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्यों में अपनी भाषा का व्यवहार कर सके और इस अधिकार पर कोई भी रोक न लगनी चाहिए।

रूस के पूंजीवादी-सामन्ती राज्य में बोल्शेविक पार्टी ने माँग की थी कि अनिवार्य राजभाषा का चलन बन्द किया जाय। उसने हर जाति को राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में अपनी भाषा के व्यवहार की पूरी छूट दी। बोल्शेविक पार्टी पर यह आरोप लगाया

गया कि उसकी नीति अव्यावहारिक है। लेनिन ने इस आरोप का उत्तर देते हुए लिखा, 'हर जाति के राष्ट्रवादी पूँजीपतियों की दृष्टि से सर्वहारा का सारा काम जातीय समस्या के सन्दर्भ में हवाई होता है। सर्वहारा जब हर तरह के राष्ट्रवाद का विरोध करता है, इसलिए वे 'हवाई' समानता की माँग करते हैं। वे माँग करते हैं कि सिद्धान्ततः किसी भी राष्ट्र को विशेषाधिकार न मिले।"

पूँजीपति भाषा-समस्या का व्यावहारिक समाधान पेश करते हैं। वे कहते हैं कि इतनी भाषाओं में पाठ्य पुस्तकें छपवाने में व्यय का भार होता है। तमाम उच्च विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में एक ही केन्द्रीय भाषा का चलन होना चाहिए। मजदूर वर्ग इस तरह की व्यावहारिकता को स्वीकार नहीं कर सकता।

सोवियत संघ में कोई अनिवार्य राजभाषा नहीं है। प्रधान सोवियत में हरेक को अपनी भाषा में बोलने का अधिकार है और सदस्य दूसरी भाषाओं में दिये हुए भाषणों के अनुवाद की माँग कर सकते हैं। सोवियत संघ के प्रजातन्त्रों में रूसी की पढ़ाई स्कूलों और कालिजों में अनिवार्य है। इसमें कोई बुराई नहीं है। जातियों की मर्जी के खिलाफ रूसी की पढ़ाई अनिवार्य नहीं की गई। भारत में यदि सभी जातियों से बराबर संख्या में जनवादी ढंग से चुने हुए प्रतिनिधि शिक्षाक्रम में किसी स्तर पर किसी एक भारतीय भाषा का अध्ययन अनिवार्य करना चाहें और किसी जाति के प्रतिनिधि इसका विरोध न करें तो इस तरह की अनिवार्य शिक्षा में कोई दोष नहीं है। मुख्य बात यह है कि कोई भाषा किसी जाति पर उसकी इच्छा के विरुद्ध लादी न जानी चाहिए।

बहुजातीय पूँजीवादी राष्ट्र में जातियों का उत्पीड़न होता है। उसमें अनिवार्य राजभाषा बड़े पूँजीपतियों के हित-साधन का कारण बनती है। उससे विभिन्न जातियों की श्रमिक जनता में एकता नहीं पैदा होती वरन् परस्पर विग्रह उत्पन्न होता है। हम नहीं चाहते कि कोई एक भाषा अंग्रेजी की जगह ले। विदेशी साम्राज्यवाद ने हमारे ऊपर अंग्रेजी लादी थी। हम नहीं चाहते कि किसी भारतीय भाषा के पूर्ण विकास पर कोई देशी साम्राज्यवादी रोक लगाएँ। बड़े पूँजीपति उन जातियों के अधिकार निश्चित करते हैं जो कमोबेश आर्थिक विकास कर चुकी हैं। जो जातियाँ पिछड़ी हुई हैं, उनके राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास को ये बड़े पूँजीपति अवरुद्ध कर देते हैं। वे उनसे कहते हैं : तुम्हारी अपनी कोई भाषा नहीं है। जो भाषा हम तुम पर लादें, वही तुम्हारी भाषा होगी। इस नीति का हम विरोध करेंगे।

बहुजातीय देश में समाजवादी सत्ता स्थापित होने पर उत्पीड़ित जातियों की भाषाओं को नया जीवन प्राप्त होता है। उनकी भाषाएँ और संस्कृतियाँ नई शक्ति पाकर लहलहा उठती हैं। समाजवाद आने पर विभिन्न जातियों की भाषाएँ मुरझाकर खत्म न हो जाएँगी और बड़ी जाति की भाषा उनकी जगह न ले लेगी। इसलिए बहुजातीय समाजवादी राज्य में भी एकमात्र अनिवार्य राजभाषा का चलन न होगा।

सोवियत संघ में रूसी भाषा सबसे ज्यादा बोली और समझी जाती है। वह गैर-

रूसी जातियों की मातृभाषा तभी बन सकती है, जब उनका रूसीकरण हो जाय। स्तालिन ने बताया है कि तमाम दुनिया में समाजवादी क्रान्ति की विजय हो जाने के बाद भी भाषा और संस्कृति के भेद रहेंगे। इससे स्पष्ट है कि भविष्य में जनता का राज कायम होने पर भी सारे देश में केवल एक ही भाषा बोली जाय, ऐसा न होगा। देश में जनता का राज कायम नहीं हुआ। इसलिए खतरा यह है कि जातियो की समानता का सिद्धान्त ऊपर से मान लिया जाय और अमल में उसका उल्लंघन किया जाय। इसलिए भारत में अनिवार्य राजभाषा के रूप में या सारे देश की एकमात्र सामान्य भाषा के रूप मे हिन्दी स्वीकार न की जाएगी।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के राजनीतिक प्रस्ताव मे दूसरो पर हावी होनेवाले बड़े पूँजीपतियो का उल्लेख है जो केरल, महाराष्ट्र, आन्ध्र आदि के आत्मनिर्णय के अधिकार का विरोध करते हैं। ये बड़े पूँजीपति मुख्यतः मारवाड़ी हैं। बिड़ला, डालमिया, सिंघानिया, गोयन्का आदि जिन्होंने भारत में अपना जाल बिछा रखा है, इसी जाति के हैं। इनमें अन्य पूँजीपति भी शामिल है जो मारवाड़ी नही हैं। बिड़ला, गोयन्का आदि की मातृभाषा हिन्दी नही राजस्थानी है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने सामन्तवाद को सुरक्षित रखा। ये सज्जन अपने घरेलू बाज़ार को सुगठित करके पूँजीपति नहीं बने; आरम्भ से ही अपने व्यापार और उद्योग-धन्धो का प्रसार वे अन्य प्रदेशों मे करते रहे, यही कारण है कि इन्होंने राजस्थानी के लिए कुछ नही किया लेकिन हिन्दी पत्र निकालने मे वे पूँजी लगाते हैं। उनकी नीति से दक्षिण तथा अन्यत्र लोग हिन्दी को अपने ऊपर हावी होनेवाली जाति की भाषा समझने लगे हैं। अंग्रेज और उनके हाली-मवाली भाषा-समस्या को लेकर विभिन्न जातियो में द्वेष फैलाने के लिए जिम्मेदार हैं। जातीय विद्वेष की जो अग्नि वे भड़का रहे हैं, उससे इन भाषाओं में परस्पर आदान-प्रदान का क्रम भंग होता है और बहुत से अन्ध हिन्दी राष्ट्रवादी यह समझने लगे हैं कि और सब उनकी भाषा सीखेंगे, वे किसी की भाषा न सीखेंगे।

बड़े पूँजीपतियो की नीति हिन्दी को अनिवार्य राजभाषा बनाने की है। इसके विपरीत प्रान्तीय पूँजीपति कहते है कि उनके विरोधी भाषायी साम्राज्यवाद कायम करना चाहते हैं। और वे अपनी जाति को आत्मनिर्णय का पूरा अधिकार देने की बात कहते हैं, बशर्ते कि इस प्रश्न पर मज़दूर वर्ग उनके झंडे के नीचे आ जाय। प्रान्तीय पूँजीपति जब इस तरह के दावे करते हैं, तब उनका पर्दाफाश करना चाहिए।

प्रान्तीय पूँजीपतियो की नज़र पड़ोसी इलाकों पर है। बिहार के आदिवासी इलाको के लिए बंगाल और बिहार के पूँजीपतियो में झगड़ा है। बम्बई और मद्रास किसके हिस्से में होंगे, इसको लेकर झगड़े हैं। श्री पट्टाभि सीतारमैया श्री क० मा० मुंशी के भाषायी साम्राज्यवाद का विरोध कर रहे हैं। लेकिन हैं दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे।

सभी जातियों की श्रमिक जनता मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में केन्द्रीय और प्रान्तीय दोनों तरह के पूँजीपतियों तथा ज़मींदारों के खिलाफ संघर्ष करके हर जाति के लिए

स्वतंत्रतापूर्वक राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास का अधिकार सुनिश्चित कर सकती है। यही तरीका है कि बड़े पूंजीपति दूसरों पर अनिवार्य राजभाषा न लाद सकेंगे और सभी जातियों की भाषाओं को विकसित होने का पूरा अवसर मिलेगा।

हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी समस्या

समस्या यह है कि हिन्दुस्तानी प्रदेश की भाषा हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी में कौन-सी है या तीनों हैं या इनमें कोई दो हैं।

हिन्दी केवल हिन्दुओं की भाषा नहीं है, मुस्लिम जनता भी हिन्दी बोलती है। उर्दू भी केवल मुसलमानों की भाषा नहीं है। बुनियादी तौर से हिन्दी-उर्दू एक ही भाषा हैं। दोनों का आधार जनसाधारण की बोलचाल की भाषा है। इस बोलचाल की भाषा के सहारे के बिना न तो हिन्दी का एक वाक्य लिखा जा सकता है, न उर्दू का। उर्दूवाले कहते हैं, उनकी भाषा आम जनता की जबान है। वे ठीक कहते हैं, इस अर्थ में कि जनता की भाषा के बिना उर्दू का एक वाक्य नहीं लिखा जा सकता। हिन्दी-उर्दू में भेद उनके बोलचाल के रूप में नहीं है, भेद है उनकी उच्च स्तरीय शब्दावली में। बोलचाल की एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं। उनके भेद का कारण यह है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अन्तर्गत हमारे देश की जातियों का विकास विषम रूप में हुआ है।

विदेशी पूंजी ने भारतीय सामन्तवाद को अपना दोस्त बनाया। उसने भारतीय उद्योग धन्धों का विकास रोका, आम जनता का बुरी तरह शोषण किया और उसे अशिक्षित रखा, जमींदारों का वर्ग बनाकर अपने लिए सहायक तैयार किये, यहाँ की भाषाओं के विकास को भरसक रोका और जनता पर विदेशी भाषा लाद दी और बड़े पूंजीपतियों से सौदा पक्का किया कि मिलकर देश का शोषण करें।

इस कारण आम जनता संस्कृति के क्षेत्र में अपनी एकता का प्रभाव पूरी तरह न डाल सकी। पाश्चात्य शिक्षा, भाषा और साहित्य से बुद्धिजीवियों को जो भी प्रेरणा मिली हो, आम जनता अपनी साम्राज्य-विरोधी, सामन्त विरोधी पूंजीवाद विरोधी दृष्टिकोण का प्रभाव संस्कृति पर नहीं डाल पाई। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने रायसाहबों, राय बहादुरों, खानबहादुरों आदि की सेना तैयार कर ली और ये हिन्दी-उर्दू के नेता बन गए। इनके साम्राज्य-परस्त दृष्टिकोण का प्रभाव भाषा के विकास पर भी पड़ा। ब्रिटिश साम्राज्यवाद प्रत्यक्ष रूप से तथा अपने सहायकों के जरिये अप्रत्यक्ष रूप से भाषा और संस्कृति के मामलों में दखल देता रहा। भाषा और साहित्य में वह धार्मिक विद्वेष भड़काता रहा। ग्रियर्सन का मत था कि इस्लाम के साथ उर्दू दूर-दूर तक फैली, उन्हें इस बात का ध्यान न रहा कि भारत में इस्लाम के प्रवेश के बहुत दिनों बाद उर्दू का विकास आरम्भ हुआ। ग्रियर्सन ने यह नहीं बताया कि इस्लाम के साथ उर्दू भारत में ही क्यों आई, मिस्र, अलजीरिया, तुर्की या इस्लाम के घर अरब में क्यों नहीं पहुँची?

ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने सामन्तवाद का पोषण किया। सामन्ती वर्ग की विशेष

विचारधारा है पुनरुत्थानवाद। इसके प्रभाव से धार्मिक और साम्प्रदायिक रुझान मजबूत हुए हैं। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत की हर जाति को ब्रिटिश सूबों और देशी राज्यों में बाँट दिया। इस कारण जातियों की सांस्कृतिक और राजनीतिक एकता दृढ़ करने में रुकावट हुई।

भारत के नेता जब ढुलमुल तरीके से साम्राज्यवाद का विरोध कर रहे थे, तब वे भाषा और संस्कृति को धर्म से परे मानते थे। वे कहते थे कि नागरी और फारसी लिपि में लिखी जानेवाली हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा होगी। वे साम्राज्यवाद से समझौता करने और जनवादी क्रान्ति के विरोध के रास्ते पर चले। साम्राज्यवाद के खिलाफ जनता में जहाँ क्रान्तिकारी उभार आया, उन्होंने उसे दबाया। उन्हें भय था कि विदेश साम्राज्य के खात्मे के साथ कहीं उनकी शोषण-व्यवस्था भी खत्म न हो जाय। कांग्रेस के भीतर और बाहर उन्होंने किसानों और मजदूरों के वर्ग-संगठन बनाने का विरोध किया। किसानों और मजदूरों की एकता ही राष्ट्र की एकता को मजबूत कर सकती है, देश की हर जाति की भाषा और संस्कृति की एकता को मज़बूत कर सकती है।

इस नीति के कारण राष्ट्रीय नेता राष्ट्र के साम्राज्यवादी विभाजन में ही साझीदार नहीं हुए, वे अपने अन्दर भी अन्ध राष्ट्रवादी रुझान पालते रहे हैं। राष्ट्रीय स्वयसेवक संघ जैसी फासिस्ट सस्थाओं से संघर्ष करने का दिखावा करते हुए वे उस तरह की प्रवृत्तियों को कांग्रेस के अन्दर ही पुष्ट करते रहे हैं। वे सामान्य संस्कृति और सामान्य भाषा की मीठी-मीठी बातें भूल गए और चरम साम्प्रदायिक रुझानों का समर्थन करने लगे है। वे भाषा-विवाद जैसी चीजों का उपयोग इसलिए कर रहे हैं कि जनता जनतन्त्र और समाजवाद के लिए सघर्ष करना बन्द कर दे। भाषा-विवाद और प्रान्तों के विभाजन से सम्बन्धित झगड़े उनके हाथ में ऐसे अस्त्र हैं जिनसे जनता का ध्यान मुख्य सामाजिक समस्याओं से हटा दिया जाय। सामन्ती-पूँजीवादी शोषण कायम रखने के लिए वे जनता में फूट डालनेवाले साम्राज्यवाद के तमाम दाँव-पेंच इस्तेमाल कर रहे हैं। इसलिए यह आशा करना व्यर्थ है कि वे इन समस्याओं को हल करने में रत्तीभर सहायता करेंगे। भारत में मजदूर वर्ग और उसके साथी किसान और मध्य वर्ग के लोग हर जाति की सामान्य संस्कृति और सामान्य भाषा का निर्माण करेंगे।

कानपुर या आगरा की एक ही मिल में काम करनेवाले हिन्दू और मुसलमान मज़दूर क्या दो भाषाएँ बोलते है? उनकी भाषा एक है। उत्तर प्रदेश के किसान भी एक ही भाषा बोलते है और एक-दूसरे की बात समझते है। अपने दफ्तरों और मुहल्लों में मध्यम-वर्गी कामकाजी लोग आपस में एक ही भाषा बोलते है। हर प्रदेश में हिन्दू और मुसलमान मजदूरों की भाषा एक है, हिन्दू और मुसलमान किसानों की भाषा एक है, मध्य वर्ग के कामकाजी हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषा एक है। इस भाषा में स्थानीय भेद होते हैं किन्तु धर्म के आधार पर भेद नहीं पैदा होता। जब बोलचाल की भाषा साहित्य और उच्च सांस्कृतिक कार्यों के लिए प्रयुक्त होती है, तब उसकी शब्दावली में भेद पैदा हो जाता है।

हिंदी-उर्दू बुनियादी तौर से एक हैं किन्तु अपने साहित्यिक रूपों में भिन्न हैं, यह अन्तर्विरोध सामाजिक अन्तर्विरोध का ही परिणाम है। साम्राज्यवाद ने सामन्तवाद कायम रखा और पूँजीवादी वर्ग में हिंदू मुस्लिम आधार पर भेद डाला। पूँजीवादी नेताओं की समझौतापरस्ती के कारण साम्राज्यवादी नीति सफल हुई। यह कहना कि बोलचाल की भाषा में उच्च शिक्षा और संस्कृति के सभी कार्य सम्पन्न किए जा सकते हैं, सामाजिक विकास के वास्तविक अन्तर्विरोध से आँखें मूँद लेना है।

हिंदी और उर्दू को हिंदू धर्म और इस्लाम से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। उर्दू में ईरान और अरब की साहित्यिक परम्परा का अनुसरण है, उसकी साहित्यिक शब्दावली अरबी और फारसी के आधार पर रची गई है। हिन्दी की साहित्यिक शब्दावली का आधार संस्कृत है और वह भारत की साहित्यिक परम्परा का अनुसरण करती है। दोनों की ही साहित्यिक परम्परा में सामान्य जनवादी तत्व विद्यमान हैं और इन्हीं के आधार पर भविष्य में सामान्य साहित्यिक भाषा का विकास होगा। जो विशुद्ध धार्मिक तत्व हैं वे विलीन हो जाएँगे, पुरानी गाथाएँ, देव-कथाएँ आदि सामान्य सांस्कृतिक परम्परा का अंग बन जाएँगी। हिंदी और उर्दू में आज जो परस्पर-भिन्न साहित्यिक परम्पराएँ दिखाई देती हैं, वे एक ही साहित्यिक भाषा और सामान्य साहित्यिक परम्परा के विकास में दुर्लंघ्य बाधा नहीं हैं। जनसाधारण की उच्च सांस्कृतिक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए (अर्थात् उन्हें दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि की शिक्षा देने के लिए) जनवादी आंदोलन की बढ़ती के साथ दोनों के बीच का फासला दूर होगा।

बोलचाल की भाषा में केवल संस्कृत के या केवल अरबी-फारसी के शब्द नहीं होंगे। साहित्यिक शब्दावली में शुद्धता की रक्षा न की जा सकेगी। राहुलजी ने संविधान का 'मसौदा' लिखा है जबकि डॉ० रघुवीर ने मसौदे के लिए 'प्रारूप' लिखा है। कुछ लोग कहते हैं कि साहित्य की भाषा और जनता की भाषा में सदा अन्तर रहेगा। यह भेद उच्च वर्गों और जनसाधारण की संस्कृति का भेद प्रकट करता है। जनतन्त्र और समाजवाद की ओर प्रगति के साथ यह भेद भी मिट जाएगा। प्रगतिशील लेखक जब जन-संघर्षों को आगे बढ़ाने के लिए साहित्य रचते हैं, तब यह भेद खत्म हो जाता है या कम हो जाता है।

उदारपंथी पूँजीवादी नेता हिन्दी-उर्दू को मिलाने में असफल हुए। वे यह न जानते थे कि दोनों में भेद क्यों है। उन्होंने इस समस्या का सम्बन्ध आम जनता की सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रगति से नहीं जोड़ा, उन्होंने यह नहीं देखा कि इस समस्या का सम्बन्ध जनता की निरक्षरता दूर करने से है, जनसाधारण के लिए साहित्य और संस्कृति सुलभ करने से है, ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के सहयोगियों ने बुद्धिजीवियों में जो पुनरुत्थानवादी रुझान पैदा किए हैं, उनसे संघर्ष करने से है।

साम्प्रदायिक अनुपात लागू करने से (अर्थात् मुसलमानों आदि के कितने एम० एल० ए० होंगे, यह निश्चित करने से) हिंदू-मुस्लिम समस्या हल न हो सकती थी। इसी तरह फारसी और संस्कृत के कोशों से किसी निश्चित अनुपात के अनुसार शब्द लेकर

मिलाने से सामान्य साहित्यिक भाषा का विकास न हो सकता था।

दो लिपियों में लिखी जानेवाली हिन्दुस्तानी भाषा समस्या का कोई हल प्रस्तुत नहीं करती। दोनों लिपियों में यदि शब्दावली भिन्न है, तो हिन्दुस्तानी नाम देने से बेहिसाब झगड़े बढ़ते हैं। हिन्दी और उर्दू में आज वास्तविक भेद है। यह भेद खत्म करके तुरन्त हिन्दुस्तानी नहीं गढ़ी जा सकती। इसलिए अभी कुछ समय तक हिन्दी और उर्दू दोनों का चलन स्वीकार करना चाहिए जिससे कि स्वाभाविक रीति से दोनों मिलकर एक हो जाएँ।

पारिभाषिक शब्दावली की समस्या

लोग कहते हैं कि भारतीय भाषाएँ संस्कृत से उत्पन्न हुई हैं। इसलिए हिन्दी का जितना ही संस्कृतीकरण होगा, वह सारे भारत में उतनी ही सुबोध और लोकप्रिय होगी। पिछले पाँच सौ वर्षों का इतिहास बतलाता है कि भारतीय भाषाओं में असंस्कृत रूप निरन्तर विकसित होते गये हैं। ये रूप लोकप्रिय हैं, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। कहा जाता है कि बँगला में संस्कृत शब्द सबसे ज्यादा हैं। 'बँगला भाषा का उद्भव और विकास' नामक ग्रन्थ में डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखा था, "आधुनिक बँगला के बोलचाल वाले रूप में संस्कृत शब्दों का अनुपात आश्चर्यजनक रूप से कम है" (खण्ड १, पृ० २२१)। कारण यह है कि 'तद्भव शब्दों का सम्बन्ध आये दिन के जीवन से है और भाषा में, कहना चाहिए, सबसे ज्यादा श्रम इन्हीं को करना पड़ता है।' (उप०, पृ० १९७-९८)

संस्कृत के शब्द अपने तद्भव रूप में सुरक्षित रहते हैं। शुद्धतावादी के लिए ये शब्द अशुद्ध हो जाते हैं। न केवल बँगला में वरन् उन तमाम भारतीय भाषाओं में, जो संस्कृत से सम्बद्ध हैं, तत्सम शब्दों की संख्या आश्चर्यजनक रूप से कम है। संस्कृतीकरण द्वारा हिन्दी को लोकप्रिय बनाने की माँग ग़लत है और लोगों को उसका विरोध करना चाहिए। उर्दू को फारसी-गर्भित करना उर्दू के लिए हानिकारक है और उर्दू-प्रेमियों को उसका विरोध करना चाहिए।

इसका यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी-उर्दू, संस्कृत-फारसी से शब्द न लें। यह कार्य विवेक से, बोलचाल की भाषा की प्रकृति पहचानते हुए करना चाहिए। इससे भाषा समृद्ध होगी और उसका लोकप्रिय रूप नष्ट न होगा। नये शब्द गढ़ने और उधार लेने के अलावा, बोलचाल की भाषा की रचनात्मक क्षमता को भूल न जाना चाहिए। हिन्दी-उर्दू की उच्च शब्दावली में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रवेश भी बिलकुल बन्द न करना चाहिए।

कई लोग पारिभाषिक शब्दों के छोटे-बड़े कोश बना रहे हैं। वे कहते हैं कि जो शब्द प्रचलित है, वह पारिभाषिक नहीं हो सकता। संविधान के अनुवादक श्री घनश्याम सिंह गुप्त ने लिखा है, "सभी भाषाओं में लोक-प्रचलित शब्द अर्थ की दृष्टि से शिथिल और अनिश्चित होते हैं···हर विशेष विषय की अपनी विशेष शब्दावली होती है और लोक-प्रचलित भाषा से यह उद्देश्य सिद्ध नहीं होता।" (भारतीय संविधान का प्रारूप,

१९४८)

अंग्रेजी हिन्दी पाठक की सहायता के लिए डॉ० रघुवीर ने संविधान के मसौदे के अन्त में शब्द-सूची दे दी है। इस सूची से बहुत अच्छी तरह पता चल जाता है कि पारिभाषिक तथा लोक-प्रचलित शब्दावली में किस तरह का सम्बन्ध है। शब्द-सूची के पहले तीन पृष्ठों में इस तरह के अंग्रेजी शब्द दिये हुए हैं—

ओपन, फायर-आर्म, आडिट, अलाउंस, ऐक्ट, वारंट, एडवोकेट, मीटिंग, सीट, क्लेम आर्डिनेन्स आर्टीकल, लाइसेंस, कोर्ट, प्रिविलेज, फी, सेफ्टी, एजेन्ट, इंजीनियरिंग, रेलवे, माइनर इत्यादि। ये शब्द अंग्रेजी में ही लोक-प्रचलित नहीं, उनमें से बहुतों को इस देश के अशिक्षित लोग भी समझते हैं। अधिपत्र, अधिष्ठान, अयोमार्ग क्या हैं? वारंट, सीट और रेलवे।

यदि अंग्रेजी के लोक प्रचलित शब्द उस भाषा में पारिभाषिक माने जा सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि उस नियम का पालन हिन्दी में न किया जाय। कठिन शब्दावली का फल यह होगा कि जनसाधारण शिक्षा और संस्कृति से दूर रहेंगे। दुःख की बात यह है कि डा० रघुवीर के बनाये हुए बहुत से शब्दों को उच्च शिक्षा पाये हुए लोग भी नहीं समझते। इस जड़ता को भारत के प्राचीन गौरव और राष्ट्रीय एकता के नाम पर न्यायपूर्ण नहीं ठहराया जा सकता। अपनी शब्द-सूची की भूमिका में डॉ० रघुवीर ने लिखा था, "हमने भौगोलिक ही नहीं, ऐतिहासिक दृष्टि से भी भारत की एकता का ध्यान रखा है। भारत के दीर्घकालीन गौरवमय अतीत में जो कुछ उपयोग्य था, उसे हमने आत्मसात् कर लिया है।"

वास्तव में उन्होंने जो कुछ किया है, वह इसका ठीक उलटा है। उन्होंने वे तमाम शब्द छोड़ दिये हैं, जो न केवल हिन्दी-भाषी प्रान्तों में वरन् दक्षिण भारत तथा अन्यत्र समझे जाते हैं। ये शब्द उनके लिए पारिभाषिक नहीं हो सकते क्योंकि इनमें लोकप्रियता का दाग लग गया है। उन्होंने वे तमाम शब्द छोड़ दिये हैं जो अतीत में जनता के परस्पर सम्पर्क के कारण प्रचलित हो गये हैं। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने डॉ० रघुवीर की आलोचना की है और उनके अनुवाद के बदले अपना अनुवाद प्रस्तुत किया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि नये शब्द आवश्यक हैं और वे या तो दूसरी भाषाओं से लिए जायेंगे या प्राचीन भाषाओं के शब्दों, धातुओं के आधार पर गढ़े जायेंगे। जो लोग इन शब्दों का व्यवहार करेंगे, उनकी आवश्यकताएँ ध्यान में रखी जायें तो यह कार्य ज्यादा सन्तोषजनक ढंग से सम्पन्न होगा। सबसे पहले उन शब्दों का संग्रह करना चाहिए जिनका व्यवहार विभिन्न पेशों के लोग पहले से ही कर रहे हैं। इसके बाद संस्कृत, फारसी या अंग्रेजी से आँख मूँदकर शब्द न लेने चाहिएँ वरन् इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे बोलचाल की भाषा की प्रकृति के अनुकूल हैं या नहीं। ग्रीक और लैटिन के आधार पर बनाये हुए जो अंग्रेजी के शब्द यूरोप की अन्य भाषाओं में प्रचलित हैं उन्हें विदेशी होने के कारण ही न छोड़ देना चाहिए। आवश्यकतानुसार उनकी जगह लोकप्रिय

हिन्दुस्तानी शब्दों को दी जा सकती है।

हिन्दी-उर्दू की उच्च स्तरीय सांस्कृतिक शब्दावली देर में घुल-मिलकर एक होगी, लेकिन सामान्य बोलचाल की भाषा की तरह हिन्दी-उर्दू की पारिभाषिक शब्दावली भी एक दिन मिलकर एक होगी, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं है।

लिपि का प्रश्न

लिपि भाषा का अभिन्न अंग नहीं है। यूरोप की अनेक भाषाएं लैटिन वर्णमाला का व्यवहार करती हैं। किन्तु इससे वे मिलकर एक नही हो जातीं। भारत में हिन्दी और मराठी की लिपि प्रायः एक-सी है, फिर भी दोनो भाषाओं में बहुत अन्तर है। इस दृष्टि से लिपि का प्रश्न गौण है। फिर भी लिपि-भेद होने से हिन्दी-उर्दू के बीच का फासला बढ़ा है। यदि हिन्दी के पाठक उर्दू से और उर्दू के पाठक हिन्दी से परिचित होते तो यह फासला इतना बढा न होता। एक लिपि होने से उन्हे निकट लाने और मिलाने में सुविधा होगी।

एक लिपि की स्वीकृति स्वेच्छा से ही हो सकती है। फिर भी मज़दूर वर्ग को आन्दोलन करना चाहिए कि एक ही लिपि का चलन हो जिससे हिन्दी-उर्दू जल्दी-से-जल्दी घुल-मिलकर एक हो सकें। यह लिपि कुछ सशोधनों के साथ देवनागरी ही हो सकती है।

पिछड़ी हुई जातियों की भाषाओं का प्रश्न

भारत में मराठी, बँगला, तमिल, तेलुगु आदि सुविकसित भाषाओं के अलावा बोलियों के अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ किसी बोली ने विकसित होकर अभी भाषा का रूप नहीं लिया। इस तरह के क्षेत्रों में राजस्थान है। कुछ इलाके ऐसे भी हैं जिनके लिए पड़ोसी प्रान्तों के पूँजीपतियों में आपस में झगड़ा है। बिहार के आदिवासी इलाकों के लिए बंगाली और बिहारी पूँजीपतियों में झगड़ा है। कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहाँ लोग अभी आदिम समाज-व्यवस्था में ही रह रहे हैं। मध्यप्रदेश और राजस्थान के आदिवासी न अपना, न अपनी भाषाओं का विकास कर पा रहे हैं। इनकी भाषाओं के विकास की बात कोई हवाई सैद्धान्तिक प्रश्न नहीं है। यह उनके सामाजिक और सांस्कृतिक विकास का प्रश्न है। जनवादी आन्दोलन और मजदूर वर्ग को उनके राजनीतिक और सांस्कृतिक अधिकारों के लिए लड़ना चाहिए।

हर बोली या भाषा के लिए एक प्रजातन्त्र का सवाल

महापंडित राहुल सांकृत्यायन कुछ समय पहले तक यह माँग करते रहे हैं कि उन प्रदेशों में प्रजातन्त्र कायम किया जाय जहाँ अवधी, ब्रजभाषा, बुन्देलखण्डी आदि का चलन है। उनके चरणचिह्नों पर श्री शिवदानसिंह चले (देखिए उनकी पुस्तक 'प्रगति-

वाद' में जनपद आन्दोलन नामक निबन्ध), श्री ब्योहार राजेन्द्रसिंह, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी आदि जन-आन्दोलनों में योग दे रहे हैं। प्रश्न यह है कि अवधी, ब्रजभाषा, बुन्देलखण्डी आदि बोलियाँ हैं या भाषाएँ, उनके बोलनेवाले हिन्दुस्तानी जाति के अन्तर्गत हैं या भिन्न भिन्न स्वतन्त्र जातियों के रूप में विकसित होंगे। दूसरा प्रश्न यह है कि क्या इनमें से हरेक के लिए प्रजातन्त्र का प्रान्त बनना चाहिए।

गाँवों में किसान अवधी, ब्रज आदि का व्यवहार करते हैं। शहरों के मजदूर, खास तौर से मिलों और कारखानों के श्रमिक आपस में खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं। कानपुर में उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, गोंडा और छपरा तक से मजदूर आते हैं। लखनऊ, आगरा और झाँसी के तालों, वर्कशाप, कारखानों आदि में इसी तरह विभिन्न क्षेत्रों के मजदूर काम करते हैं। जो किसान सीधा गाँव से आकर मजदूर बनता है, वह अपनी गाँव की बोली बोलता है और उसके साथी उसकी बात समझ लेते हैं। कुछ समय बाद वह शहर की बोली—खड़ी बोली—सीख लेता है और अपने साथियों से इसी में बात करता है यद्यपि घर पर वह अपनी गाँव की बोली का ही व्यवहार करता है।

हिन्दुस्तानी प्रदेश के मजदूर घर में अवधी, ब्रज आदि बोलनेवाले लोग हैं। इनका सामान्य परिवेश और सामान्य आर्थिक सम्बन्ध इन्हें एक सामान्य भाषा बोलने पर मजबूर करते हैं। यह भाषा खड़ी बोली या हिन्दुस्तानी होती है। अखबारों में अर्जी लिखने के लिए, इश्तहारों के लिए झाँसी, आगरा, कानपुर और लखनऊ के मजदूर बुन्देलखण्डी, ब्रजभाषा या अवधी का व्यवहार नहीं करते। ये मजदूर हिन्दी उर्दू का ही व्यवहार करते हैं और उनकी बोलचाल में कोई भेद नहीं होता। शहरों के मध्यवर्ग का भी यही हाल है।

खड़ी बोली और फारसी के संघर्ष में खड़ी बोली (उर्दू) की विजय हुई। कविता में ब्रजभाषा का व्यवहार हो या खड़ी बोली का, इस संघर्ष में खड़ी बोली (हिन्दी) की विजय हुई। भारतेन्दु भोजपुरी क्षेत्र के थे, प्रतापनारायण मिश्र अवध के, राधाचरण गोस्वामी ब्रज के। इन सबने गद्य के लिए खड़ी बोली को अपनाया। यह विकास उन्नीसवीं सदी में हुआ किन्तु उसका आरम्भ पहले हो चुका था। इस विकास का कारण था पूँजीवाद का विकास। भारत में पूँजीवाद उन्नीसवीं सदी से आरम्भ नहीं हुआ। व्यापारी पूँजीवाद उन सौदागरों के साथ शुरू हुआ जो अपने साथ खड़ी बोली सुदूर हैदराबाद ले गये। ब्रिटिश पूँजीवाद से टक्कर होने पर भारतीय पूँजीवाद के सहज विकास में बाधा पड़ी लेकिन वह रुक नहीं गया। पूँजीवाद के विकास के साथ हम मिलों और कारखानों में मजदूरों को खड़ी बोली बोलते देखते हैं। देहात में जहाँ सामन्ती सम्बन्ध अब भी दृढ़ हैं, वहाँ भाषायी एकीकरण का यह काम पूरा नहीं हुआ। मध्यवर्ग पूँजीवादी विकास का ही परिणाम है और किसानों की अपेक्षा यह वर्ग खड़ी बोली को अधिक अपनाता है। इसी कारण हिन्दी-उर्दू लेखकों में ऐसे लोग हैं जो घर में खड़ी बोली से अलग अन्य कोई बोली भी बोलते हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त घर में बुन्देलखण्डी, श्री राहुल

सांकृत्यायन भोजपुरी, श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन' और अली सरदार जाफ़री अवधी बोलते हैं, या पहले बोलते थे।

इसका अर्थ यह है कि उपर्युक्त बोलियों के बोलनेवाले पूँजीवाद के विकास के साथ एक ही जाति में संगठित हुए हैं, एक ऐसे स्थायी जन-समुदाय के रूप में गठित हुए हैं जिनकी सामान्य भाषा है और सामान्य आर्थिक जीवन है। यह विकास पूरा नहीं हुआ। सामन्ती सम्बन्ध अभी बने हुए हैं। इसीलिए हिन्दुस्तानी प्रदेश में भाषा और बोली का प्रश्न भी हमारे सामने आता है। खड़ी बोली 'भाषा' बनी; ब्रज, अवधी आदि 'बोलियाँ' रहीं। यह प्रक्रिया अनोखी नहीं है। जिन देशों में भी सामन्ती सम्बन्धों की जगह पूँजीवादी सम्बन्ध विकसित हुए हैं, वहाँ इससे मिलती-जुलती प्रक्रिया देखने को मिली है। लन्दन के आस-पास की अंग्रेजी, पेरिस के आस-पास की फ्रांसीसी, मास्को के आस-पास की रूसी सामाजिक सम्पर्क और साहित्य की भाषा बनी। ब्रिटेन में वेल्श जैसी भाषा अंग्रेजी के मुकाबले और फ्रांस में प्रोवाँसाल जैसी समृद्ध साहित्यिक भाषा फ्रांसीसी के मुकाबले बोली की हैसियत ही पा सकी।

समाज में किसान या मजदूर वर्ग के कुछ हिस्से अपनी बोली छोड़ते नहीं हैं या टकसाली भाषा के साथ उसका भी व्यवहार करते हैं, तो यह भारत में होनेवाली कोई अद्भुत क्रिया नहीं है। फ्रांस जैसे विकसित पूँजीवादी देश में भी बोलियों का अस्तित्व है। भाषाविद वान्द्राई ने ब्रेतों बोली के बारे में लिखा है, "मछुओं में, तराई के नमक बनाने वालों में स्लेट-मज़दूरों और घुमन्त सौदागरों में ब्रेतों का व्यवहार अब भी होता है और कोई नहीं कह सकता कि कब तक होता रहेगा" (वान्द्राई, भाषा, लन्दन, १९३१, पृ० २८६)। मेइये के अनुसार इसी प्रकार फ्रांस और स्पेन में बास्क का व्यवहार होता है। इसलिए इसमें आश्चर्य न होना चाहिए कि हिन्दुस्तानी प्रदेश में टकसाली भाषा के अलावा भी अनेक बोलियों का चलन बना हुआ है।

भाषा और बोली का भेद केवल भाषागत भेद नहीं है; वह सामाजिक भेद भी है। किसी समय हमारे यहाँ ब्रजभाषा और फ्रांस में प्रोवाँसाल समृद्ध साहित्यिक भाषाएँ थीं। पूँजीवाद के विकास के साथ दिल्ली, मेरठ तथा पेरिस के आस-पास की बोलियों को व्यापारी दूर-दूर तक ले गये। बोलियों ने भाषा का रूप लिया। जिन क्षेत्रों में अवधी, ब्रज आदि बोलियाँ अभी बोली जाती हैं, उनकी टकसाली भाषा खड़ी बोली है। इस टकसाली भाषा के कारण—साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के बावजूद—यहाँ की जनता सीमित विकास कर सकी है। इन क्षेत्रों के मज़दूर टकसाली भाषा यानी खड़ी बोली के जरिये एक-दूसरे के निकट आते हैं। इस तरह इस टकसाली भाषा का विकास जनवादी क्रान्ति की विजय के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'जनयुग' और 'नया जमाना' अवधी, ब्रजभाषा आदि में निकाले जाएँ तो इससे मजदूरों की एकता दृढ़ न होगी। मैंने 'जनयुग' के लेख अवधी में उल्था करके उन्नाव और रायबरेली के किसानों को सुनाये है, यह देखने के लिए कि उनकी शब्दावली में कितना परिवर्तन करना पड़ता है। व्याकरण-रूपों को छोड़कर ९८

फीसदी शब्दावली वही रहती है। ये बोलियाँ एक-दूसरे के इतना निकट हैं कि यदि एक ही लेख—खास तौर से अखबारी लेख—का उल्था उनमें करें तो ९८ फीसदी इबारत एक-सी होगी। ये बोलियाँ मुहावरों, सुन्दर अर्थ-व्यंजक शब्दावली और अलंकृत वचनों से समृद्ध हैं। टकसाली भाषा के लेखक इनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। इनमें अद्भुत खजाना है जिसे अपनाने से टकसाली भाषा की व्यंजना-शक्ति बहुत ज्यादा बढ़ेगी। लेकिन इसका यह अर्थ बिलकुल नहीं है कि इनका व्यवहार करनेवालों को हम स्वतन्त्र जातियाँ मान लें।

श्री राहुल सांकृत्यायन तथा अन्य लोगों की यह माँग कि अवधी, ब्रज, बुंदेलखण्डी आदि को विभिन्न जातियों की टकसाली भाषा माना जाय, प्रतिक्रियावादी माँग है। यह माँग केवल सामन्ती वर्गों के हित में है जो इस नष्ट एवं पतनशील व्यवस्था की रक्षा करना चाहते हैं। इस माँग से हिन्दुस्तानी [illegible] व मजदूरों की एकता में बाधा पड़ती है।

हर बोली के लिए एक प्रजातन्त्र या प्रान्त बनाने का सवाल नहीं है। सोवियत संघ में ६० से ऊपर भाषाएँ हैं, प्रजातन्त्र इनसे बहुत कम हैं। अवधी, ब्रज आदि विभिन्न जातियों की भाषाएँ होतीं, तो भी उनके लिए हर जगह प्रजातन्त्र कायम न किये जाते। वे बोलियाँ हैं, इसलिए उनमें से हरेक के लिए प्रजातन्त्र बनाने की माँग विशेष रूप से हास्यास्पद है। ओरछा के महाराज जनपद आन्दोलन में खास दिलचस्पी लेते रहे हैं, यह बात आकस्मिक नहीं है।

भारत में भाषा-समस्या के ये कुछ मुख्य पहलू हैं। (१९४९)

१०

जातीय भाषा के रूप में हिन्दी का प्रसार

जातीय भाषा बनने से पहले हिन्दी या खड़ी बोली एक जनपद की भाषा थी। व्रज, अवध, बुन्देलखण्ड आदि जनपदों में व्रज, अवधी, बुन्देलखण्डी आदि भाषाएँ बोली जाती थीं। इन जनपदों में रहनेवाले छोटी-बड़ी रियासतों में बँटे हुए थे। वे सब किसी जाति में संगठित न हुए थे और इसीलिए एक जातीय भाषा के रूप मे उनके पास आपसी व्यवहार की कोई भाषा न थी। कुछ पढ़े-लिखे लोग संस्कृत से काम चलाते थे लेकिन उसे आम जनता न तो समझती थी, न बोलती थी।

तब के समाज की दो विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि समाज चार वर्णों में बँटा हुआ था जिनके अन्तर्गत सैकड़ो जात-विरादरियाँ थीं। दूसरी यह कि गाँव बहुत-कुछ खुदमुख्तार थे; ऊपर से आँधी-तूफान निकलते रहें, ये छोटे-छोटे पंचायती राज अपनी जगह बदस्तूर कायम रहते थे।

तेरहवीं-चौदहवीं सदी में सामन्ती समाज का यह ढाँचा ढीला पड़ने लगा था, वर्ण-व्यवस्था शिथिल हो रही थी और लोग अपने खानदानी पेशे छोड़कर नये पेशे अपनाने लगे थे। तुर्कों के हमलों से यह ढाँचा और कमज़ोर पड़ा हालांकि उसे तोड़नेवाली ताकतें उसके भीतर ही पैदा हो रही थीं। तिलक जो हिन्दी और फारसी दोनों जानता था और अबुलहसन और महमूद गजनवी की सेवा में रहा था, एक नाई का लड़का था। रहूप नाम का एक बनिया परिहार राजा से क़िला छीनकर इलतमश से लड़ा था (कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, खण्ड ३, पृ० ५३)। गुजरात में तगी चमार ने दिल्ली के बादशाह के खिलाफ विद्रोह की अगुआई की। हेमू, जिसने अकबर का मुक़ाबला किया था, बनिया था। अकबर का चित्रकार दसवन्त कहार था। रामानन्द के शिष्यों में कबीर जुलाहा, रैदास चमार और सेना नाई थे। कबीर के उत्तराधिकारी धरमदास बनिया थे। दादू के लिए कहा जाता है कि वह मोची थे। उनके शिष्य सुन्दरदास बनिया थे और मलूकदास खत्री थे। इस तरह की और भी मिसालें दी जा सकती हैं। इससे नतीजा यही निकलता है कि संस्कृति पर अब ब्राह्मण-पुरोहितों का इजारा टूट रह था; राज्य और धरती पर क्षत्रियो का अधिकार ढीला पड़ रहा था।

तुर्क बादशाहों ने बाज़ार, तोलने के बाँट, सिक्कों आदि के बारे में जो सुधार

किये, उनसे सौदागरों को फायदा पहुँचा। इस ज़माने में नई-नई मंडियाँ और नये-नये शहर आबाद हुए। फीरोज़ तुगलक के लिए कहा जाता है कि उसने फीरोज़ाबाद, फतहाबाद, फीरोज़पुर, बदायूँ, जौनपुर आदि शहर बसाये। शेरशाह के ज़माने में पटना शहर फिर व्यापार का केन्द्र बना। उसके समय में जो सड़कें और नहरें तैयार हुईं, उनसे व्यापार बढ़ा। शेरशाह ने सराएँ बनवाईं, धार्मिक उदारता की नीति बरती, और खास बात यह कि राज्य और किसान के बीच सीधा सम्बन्ध कायम किया। पहले गाँव का मुखिया मालगुज़ारी तय करता था, उसका वह हक छिन गया। इस तरह एक तरफ तो सौदागरी और व्यापार के केन्द्रों के तौर पर शहर बढ़ती पर थे, दूसरी तरफ गाँवों की खुदमुख्तारी पर पाबन्दी लगी। अकबर ने बारूद का महत्त्व समझा। राज्य में शान्ति कायम रखने के लिए उसने खास तौर से बारूद का भरोसा किया। सामन्ती युग के तीर-कमान और तलवार पुरानी चीज़ें बनती जा रही थीं। अकबर ने सारे राज्य में एक-सी मुद्रा-व्यवस्था चलाकर व्यापार की बढ़ती में मदद की। तनख्वाह के लिए जागीरें दीं लेकिन मालगुज़ारी बाकायदा तय करने का हक जागीरदारों को नहीं दिया। कभी-कभी उन्हें जागीर से दूर भी तैनात कर दिया जाता था। इस तरह सामन्तों और जागीरदारों की ताकत कम हुई। धार्मिक मामलों में अकबर ने उदार नीति बरती।

मुगल बादशाहों की खुद भी व्यापार में दिलचस्पी थी। अकबर खुद व्यापार करता था। लखनऊ यूनिवर्सिटी के डा० पन्त के अनुसार गुजरात, आगरा और कश्मीर के बढ़िया उद्योगों का इजारा उसके हाथ में था। शाहजहाँ ने नील का व्यापार अपने हाथ में रखा था और मनोहरदास को राज्य से उधार रकम देकर व्यापार करने की आज्ञा दी थी और मुनाफे में हिस्सा लेता था। नूरजहाँ भी नील और ज़री के वस्त्रों के व्यापार में दिलचस्पी लेती थी। बादशाहों के भाई-भतीजे सौदागरी से धन कमाते थे। मुगल राज्यसत्ता की आमदनी का ज़रिया सिर्फ ज़मीन न थी, बल्कि व्यापार भी था।

व्यापार की उन्नति से पुराने जनपदों का अलगाव दूर हुआ। पटना, बनारस, इलाहाबाद, आगरा और दिल्ली ऐसे केन्द्र बन गये जिनके चारों तरफ एक कौमी बाज़ार कायम हुआ। यात्री मानरीके के अनुसार सन् १६४० में आगरे की आबादी छः लाख थी। मारलैंड ने भारतीय इतिहास पर अपनी पुस्तक में लिखा है कि अकबर के ज़माने में दिल्ली दुनिया का सबसे बड़ा शहर था। जो नया बाज़ार कायम हुआ, उसके सबसे बड़े केन्द्र आगरा और दिल्ली ही थे।

ब्रिटेन में हिन्दुस्तानी कपड़े की माँग बढ़ने से यहाँ का रोज़गार और चमका। सत्रहवीं सदी के पहले हिस्से में आगरे से विलायत कपड़ा भेजा जाता था और यह कपड़ा अवध से बनकर आता था। इस तरह ब्रज और अवध एक बाज़ार में संगठित हुए। खुद अवध में दरियाबाद और खैराबाद अपने उद्योगों के लिए मशहूर हुए। इसी तरह पटना, बनारस, लखनऊ वगैरह ने आस-पास के देहात को अपनी तरफ समेटा और उनका पुराना अलगाव बहुत कुछ दूर किया। फ्रांसीसी यात्री बर्नियर ने जिन मुगल कारखानों का ज़िक्र

किया है, मुमकिन है कि वे पूँजीवादी पैदावार की पहली मंजिल रहे हों। बहरहाल जुलाहों को सौदागर पेशगी रुपया देते थे और उनसे तैयार माल लेते थे। पेशगी लेने पर जुलाहा अपने माल पर अधिकार खो देता था। पेशगी के जरिये सौदागर उसकी श्रम-शक्ति खरीद लेता था। यह पैदावार का पूँजीवादी तरीका था। सन् १८४४ मे एंगेल्स ने अपनी पुस्तक 'इंग्लैंड के मजदूर वर्ग की दशा' मे लिखा था, "मशीनें चालू होने से पहले कच्चे माल को कातने और बुनने का काम मजदूर के घर पर होता था।" सत्रहवी सदी में यह सिलसिला यहाँ भी कायम था। लेनिन ने मिखाइलोव्स्की को जवाब देते हुए बतलाया था कि सत्रहवी सदी मे आपसी विनिमय की बढ़ती में, बिकाऊ माल के चलन के धीरे-धीरे तेज होने से, और छोटे-छोटे बाजारो के एक बड़े बाजार मे सिमटने से रूसी जाति का निर्माण हुआ। सत्रहवी सदी में इसी तरह हमारे यहाँ भी हिन्दुस्तानी जाति का निर्माण शुरू हुआ था।

भाषा और साहित्य के क्षेत्र में हम जनपदो का एक-दूसरे के नजदीक आना और उनका अलगाव दूर होना देखते हैं। 'रामचरितमानस' अवधी मे लिखा गया है, लेकिन ब्रज, भोजपुरी आदि के इलाको में भी वह अपनाया जाता है। यही नहीं, गोस्वामीजी ब्रज और अवधी दोनों मे कविता करते हैं और उनकी भाषा मे एक से अधिक बोलियों के शब्द और प्रयोग देखे जा सकते है। उधर ब्रजभाषा की कविताएँ—मीरा, सूर, रस-खान और रहीम की रचनाएँ—दूर देहात तक पहुँच रही थी। खड़ी बोली में भी खुसरो, कबीर आदि रचनाएँ करने लगे थे। रहीम ने किसी को खड़ी बोली मे ही गाते सुनकर लिखा था—झुक-झुक मतवाला गावता रेखता था।

दक्खिन में खड़ी बोली का अलग विकास हुआ, गद्य और पद्य दोनो में यह प्रदेश मुख्यतः तेलुगुभाषी था और खड़ी बोली वहाँ कम तादाद के लोगो की भाषा थी। उत्तर की भाषा पर उसका असर कुछ देर से पड़ा।

शहरों में व्यापार और विनिमय के लिए जिस भाषा का उपयोग होता था, वह भाषा खड़ी बोली या हिन्दी थी। इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि देश-विदेश के जो लोग काम-काज के लिए दिल्ली या आगरा आते थे, वे यही भाषा सीखते थे। ग्रियर्सन ने लिखा है कि "उन दिनों के कुछ अंग्रेज सौदागर निःसन्देह बड़ल्ले से हिन्दुस्तानी बोल सकते थे…" (लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया, खण्ड १, पृ० २)। और इतिहासकार सरदेसाई ने लिखा है कि इतालवी यात्री मनुच्ची ने शिवाजी से, बिना किसी दुभापिये की मदद के उर्दू में बातचीत की। फारसी के दबाव की वजह से यह भाषा पहले-पहल दक्खिन में फूली-फली।

हिन्दुस्तान मे जो तुर्क, पठान, ईरानी, उजबक आदि जातियों के लोग आये, वे यहाँ किसी नई भाषा को जन्म न दे सके। उनके बहुत से शब्द यहाँ वालों ने ले लिए, उनके प्रत्यय लगाकर कुछ नए शब्द भी गढ़े—जैसे पागलखाना, अफीमची (और पिछले दोनों जगबाज) वगैरह। लेकिन हमारी भाषा की व्याकरण-व्यवस्था, उसके मूल शब्द भण्डार

मे कोई भारी तब्दीली नही हुई । तुर्कों, पठानो, ईरानियो, उजबकों आदि के आने से पहले भी हिन्दी भाषा थी, उनके हिन्दुस्तानी बन जाने के बाद भी रही । इसलिए बादशाहो के दरबारो मे नई जबाने गढने की कल्पना भ्रामक है ।

बाहर से आनेवाले लोगो के शब्दों मे हमारी भाषा और समृद्ध हुई लेकिन उसने अपने जातीय रूप की रक्षा की । भाषा के बारे मे शेरशाह और अकबर की नीति अंग्रेजों की तरह अनुदार नहीं थी । शेरशाह ने तो फारसी के साथ हिन्दी मे काम-काज करने की हिदायत दे रखी थी ।

ब्रजभाषा, अवधी, खड़ी बोली आदि सभी ने हिन्दुस्तानी जाति के निर्माण मे मदद दी । हमारी जाति का चरित्र संघर्षों द्वारा और पक्का हुआ । इन संघर्षों के दो पहलू थे, एक तो जातीय, दूसरा जनवादी । यानी एक तरफ तो यहाँ के लोग विदेशी आततायियों के खिलाफ लड़े, दूसरी तरफ ये सामन्ती उत्पीड़न के खिलाफ वर्ण-व्यवस्था और पुरोहितों-सामन्तों के विशेष अधिकारों के खिलाफ भी लड़े । भक्ति-आन्दोलन मे ये दोनो पहलू मौजूद हैं । जुलाहे और किसान इस आन्दोलन को शक्ति देनेवाले हैं । सौदागर उसके सहायक हैं, हिन्दू और मुसलमान सूफी और संत दोनो उसमे शामिल हैं । भक्ति-आन्दोलन एक जातीय और जनवादी आन्दोलन है । क्या उस समय हिन्दुओं और मुसलमानो की दो संस्कृतियाँ थीं ? कुछ धार्मिक भेदभाव जरूर था लेकिन दो संस्कृतियाँ नहीं थीं । जायसी, रसखान, रहीम, आलम शेख, घनानंद वगैरह की वही संस्कृति थी जो सूर, मीरा, तुलसी, नन्ददास, दादू, रैदास आदि की थी । यह संस्कृति जातीय और जनवादी थी, इसीलिए कबीर को हिन्दू और मुसलमान दोनो अपनाने के लिए तैयार थे । दरबारों की संस्कृति अलग थी । मुगल राज्यसत्ता इस जनवादी संस्कृति को आश्रय देनेवाली न थी ।

हिन्दुस्तान के लोग सामन्ती ढाँचा खत्म करके अपनी जातीय राज्यसत्ता कायम कर लेते लेकिन तभी अंग्रेजों की दखलन्दाजी से उनकी ऐतिहासिक प्रगति मे बाधा पड़ी ।

उन्नीसवीं सदी मे अंग्रेजों ने हिन्दी प्रदेश को अपने अधिकार में किया । हिन्दुस्तान में ऐसी परिस्थितियाँ थीं जिनसे फायदा उठाकर उन्होंने भाषा और संस्कृति के मामलों मे दखल देना और यहाँ के लोगों में फूट डालना शुरू किया ।

महाराष्ट्र, आंध्र, बंगाल, पंजाब आदि मे वे परिस्थितियाँ न थीं जो हिन्दी-भाषी इलाके मे थीं । महाराष्ट्र में शिवाजी एक जातीय रियासत कायम कर चुके थे । वैसी कोई कोशिश यहाँ न हुई थी । शिक्षा का कोई मिला-जुला जातीय क्रम निश्चित न था, मुल्ला-पंडितों के हाथ मे अब भी शिक्षा की जिम्मेदारी थी । इस धार्मिक शिक्षा की वजह से दो लिपियों का प्रयोग होता था और भाषा की एकता के हिसाब से सब जगह एक ही लिपि का चलन न था । मुगल साम्राज्य के उजड़ने के बाद नवाबों के अड्डे ज्यादातर हमारे इलाके में रहे । बंगाल, महाराष्ट्र, आंध्र वगैरह इनसे अपेक्षाकृत मुक्त रहे । हैदराबाद में उर्दू के असर से तेलुगु भाषा मे कुछ तब्दीली हुई, लेकिन उस हद तक नहीं कि तेलुगु मे हिन्दी उर्दू की तरह दो धाराएँ चल पड़ें ।

अंग्रेजों ने जिस अलगाव से फायदा उठाया और उसे गहरा बनाया, वह यहाँ की धार्मिक शिक्षा और सामन्ती पिछड़ेपन की वजह से था। बहुत से राज-दरबारों में ब्रज भाषा के आगे नयी जातीय भाषा हिन्दी की पूछ न थी; नवाबों के यहाँ खड़ी बोली के लोकप्रिय रूप और जनवादी कविता की कद्र न थी। इस तरह खड़ी बोली में दो धाराएँ चल निकलीं—एक तो लोकप्रिय धारा, दूसरी सामन्तों के आश्रयवाली धारा। कुछ कवियों ने साधारण भाषा के शब्दों के बहिष्कार की नीति अपनायी जिससे उनकी शैली बोलचाल की भाषा से अलग मालूम होने लगी।

अंग्रेज़ों ने इस भेद को और गहरा किया। गिलक्राइस्ट ने हिन्दुओं और मुसलमानों की अलग भाषाओं के सिद्धान्त की रचना की। रिज़ले ने धर्म के आधार पर दो क़ौमें गढ़ीं और ग्रियर्सन ने भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में फूट के उसूल को धार्मिक रूप दिया। सर सैयद ने लश्करों में नयी भाषा बनने की तजवीज़ पेश की। इक़बाल ने मुस्लिम क़ौम और मुस्लिम संस्कृति का नारा लगाया। ये सब साम्राज्यवादी विषवृक्ष के फल थे।

अंग्रेजों के राज में गाँवों की पुरानी व्यवस्था तो टूटी लेकिन उन्होंने सामन्तवाद और सामन्ती संस्कृति को मजबूत भी किया। इसी जर्जर सामन्ती संस्कृति पर उन्होंने अपनी तहज़ीब का ताज रखा। हिन्दीभाषी इलाके को उन्होंने कई सूबों में बाँटा, यहाँ ताल्लुकदारों और नवाबों को पाला-पोसा, और भाषा के मामले में जातीय उत्पीड़न का एक नया तरीका निकाला। कभी हिन्दुओं को दबाया, मुसलमानों को उभारा, कभी हिन्दुओं को उभारा और मुसलमानों को दबाया। कचहरी, अदालत और पुलिस में वह ज़बान चलाई कि किसान कभी समझ ही न सके और उसे ठगने और लूटने में उन्हें आसानी हो। इस तरह एक तरफ उर्दू की धारा बही, दूसरी तरफ हिन्दी की। फिर भी भाषा के बुनियादी शब्दों और मूल व्याकरण-व्यवस्था के बिना कोई भी धारा आगे न बढ़ सकती थी।

हिन्दी-उर्दू का भेद उन्नीसवीं सदी से पहले नागण्य है। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजी राज क़ायम होता है और तभी यह भेद गहरा होता है। इसलिए उस भेद के लिए सबसे ज्यादा अंग्रेज ही जिम्मेदार हैं। अगर सूफियों और सन्तों की परम्परा ज़िम्मेदार होती तो इस तरह की दो धाराएँ बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात वगैरह में भी बहती दिखाई देतीं। वहाँ नहीं दिखाई देतीं, यह इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी-उर्दू का भेद अस्थायी है, जो जनता के स्वाधीनता आन्दोलन की बढ़ती के साथ कम होते-होते मिट जायगा। आखिर अभी सौ साल भी तो इस खाई को नहीं हुए।

हिन्दीभाषी इलाके में सामन्ती अवशेष क़ायम रखकर, हिन्दी-उर्दू के सवाल से साम्प्रदायिकता उभारकर, एक ही भाषा की दो धाराएँ बहाकर और दोनों पर अंग्रेजी लादकर, आम जनता को अशिक्षित रखकर अंग्रेजों ने हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक विकास को भारी नुक़सान पहुँचाया है।

फिर भी हर जगह उनकी मनचीती नहीं हुई। हिन्दुस्तानी जनता ने आसानी से

उनका जुआ स्वीकार नहीं किया। १८५७ में दिल्ली, मेरठ, कानपुर, झांसी आदि शहरों के अवध, भोजपुरी, बुन्देलखण्ड आदि जनपदों के वीरों ने अंग्रेजों के दांत खट्टे कर दिए। अगर अंग्रेजों को हिंदुस्तानियों से ही मदद न मिलती तो देश का इतिहास ही दूसरा होता। हमारे साहित्यकारों ने जनवादी संस्कृति की परम्परा को निबाहा। हिन्दी-उर्दू के लेखकों के सहयोग को अंग्रेज खत्म नहीं कर पाए। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, जो आधुनिक हिन्दी के निर्माता हैं, उर्दू के भी लेखक थे। प्रेमचन्द ने उस परम्परा को और आगे बढ़ाया।

कांग्रेस और लीग के नेताओं ने क्रान्तिकारी जन-आन्दोलन का तो विरोध किया, लेकिन साम्राज्यवादियों की स्वाधीनता-योजना स्वीकार की। भारतीय जनता से भय खाकर अंग्रेजों ने अपना झंडा और अपनी फौज तो हटा ली लेकिन अपने पूँजीवादी पंजे देश में और भी गड़ा दिए।

अंग्रेजी पूंजी का हित इस बात में है कि बँटवारे के बाद कायम की हुई दोनों रियासतें आपस में लड़ें या उनमें तनातनी रहे जिससे कि लोगों का ध्यान छिपे हुए लुटेरों की तरफ न जाय। इसके लिए उन्होंने दंगे कराए, कश्मीर की लड़ाई कराई और साम्प्रदायिक दलों के जरिए तनातनी कायम रखी।

साम्प्रदायिकता से फायदा उठाकर पाकिस्तान के शासकों ने वहाँ की भाषाओं को दबाया और उन पर उर्दू लादी। हिन्दुस्तान के साम्प्रदायिकों ने कहा कि अब तो उर्दू पाकिस्तान गई और उसकी यहाँ बात करना भी राष्ट्रद्रोह है। राजर्षि टंडन और महापंडित राहुल ने इस विषैले प्रचार का नेतृत्व किया। उत्तर भारत के सूबों में हिन्दी ठीक ही राजभाषा घोषित की गई लेकिन उर्दू के व्यवहार और शिक्षा आदि में तरह-तरह के अड़ंगे लगाये गए।

हिन्दी के कुछ लेखक इस परिस्थिति को सन्तोषजनक समझते हैं। लेकिन उर्दू को दबाने से हमारी जातीय भाषा के विकास में बाधा पड़ती है इसलिए इस परिस्थिति को सन्तोषजनक कैसे कहा जा सकता है? उर्दू में लोकप्रिय साहित्य का बहुत बड़ा हिस्सा मौजूद है। उसमें बोलचाल के मुहावरों का निखरा हुआ रूप ही नहीं है, हमारी भाषा और साहित्य का इतिहास उसके बिना अधूरा रहेगा। इसलिए अपनी जाति के सांस्कृतिक इतिहास के लिए अपनी जातीय भाषा के विकास के लिए मैं उर्दू के दबाने का विरोध करता हूँ।

कांग्रेसी नीति के खिलाफ उर्दू के कुछ लेखकों ने विधान की सहायता लेते हुए इलाकाई ज़बान का सवाल उठाया है। हिन्दी से अलग उर्दू का कोई अलग इलाका नहीं है हालांकि उर्दू या हिन्दी को अपनी एकमात्र साहित्यिक भाषा समझनेवाले लोग हैं। इसलिए उर्दू के पढ़ने-पढ़ाने और उसे व्यवहार में लाने में जो भी बाधाएँ आती हैं, उन्हें दूर करने के लिए आवाज बुलन्द करना सभी जनवादियों का कर्तव्य है। उसे अलग इलाकाई ज़बान मानना गलत है।

हिंदीभाषी इलाके की जनता के लिए किसानों में शिक्षा का सवाल भाषा की

समस्या के साथ जुड़ा है। किसानों को आम शिक्षा किस लिपि में दी जाय ? अगर किसानों को एकजुट करना है, उनकी राजनीतिक चेतना को विकसित करना है, उनके आन्दोलन को राष्ट्रीय आन्दोलन की धुरी बना देना है तो आम शिक्षा के लिए दो लिपियाँ रखना हानिकारक होगा। इसलिए मेरी राय है कि देवनागरी लिपि के जरिये आम जनता मे शिक्षा के प्रचार पर ज़ोर देना चाहिए।

अंग्रेजों ने १८५७ से सबक लेकर हमारे इलाके को सबसे ज्यादा टुकडो मे बाँटा है। सदियों से एक साथ रहनेवाले आगरा और दिल्ली भी अलग हो गए। हिन्दीभाषी इलाका एक होना चाहिए। इसके बारे में यह बहाना भी नहीं चल सकता कि बड़े सूबे को छोटे सूबों में हम बाँटना चाहते हैं। यहाँ सवाल छोटे टुकड़ों को मिलाकर बड़ा सूबा बनाने का है। अलग-अलग प्रान्तीय सभाएँ और हुकूमतें चलाने का ख़र्च बचेगा, व्यापार और उद्योग-धन्धों की तरक्की में मदद मिलेगी। हमारा सांस्कृतिक आन्दोलन पूरे प्रदेश में जातीय पैमाने पर चलेगा और भाषा भी अपना जातीय रूप निखार सकेगी।

किसान-आन्दोलन की बढ़ती के लिए यह आवश्यक है कि बोलियों में साहित्य रचा जाय। अभी भी वह रचा जा रहा है। लेकिन हर जनपद के लिए, अलग सूबा या प्रजातन्त्र बनाने की माँग करना जातीय प्रदेश के बँटवारे को दूसरे रूप से कायम रखना है। इससे सावधान रहना चाहिए।

हिन्दीभाषी लेखकों का हित इस बात में है कि वे भाषावार प्रान्त-निर्माण के आन्दोलन का समर्थन करें, दूसरों की मर्ज़ी के खिलाफ उन पर हिन्दी भाषा लादने का विरोध करें। इससे दूसरी भाषाओं के लोग उनकी जातीय एकता के आन्दोलन का समर्थन करेंगे। उन्हें इस भ्रम में कि संस्कृत-गर्भित होने से हिन्दी दक्षिण में ज़्यादा समझी जाएगी, अपनी भाषा को बिगड़ने न देना चाहिए। संस्कृत-गर्भित हिन्दी के पक्षपाती साहित्य-सम्मेलन ने दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार का काफ़ी अहित किया है। वहाँ पर हिन्दी का प्रचार किया है, 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' ने जिसकी नीति सम्मेलन से भिन्न है।

हिन्दीभाषी इलाका भारत का सबसे बड़ा इलाका है। संख्या के विचार से हिन्दुस्तानी जाति दुनिया की तीन-चार सबसे बड़ी जातियों में गिनी जाएगी। ऋग्वेद और महाभारत की रचना इसी प्रदेश में हुई है। यही की नदियों के किनारे वाल्मीकि और तुलसी ने अपने अनुष्टुप और चौपाइयाँ गाई हैं। तानसेन और फैयाज़ ख़ाँ, हाली, मीर, अकबर, ग़ालिब, भारतेन्दु, प्रेमचन्द, निराला यहीं के रत्न हैं। ताजमहल और विश्वनाथ के मन्दिर यहीं के हाथों ने गढ़े हैं। आल्हा और कजली ने सैकड़ों साल तक यहीं का आकाश गुँजाया है। अठारह सौ सत्तावन में यहीं की धरती हिन्दुओं और मुसलमानों के खून से सींची गई है। जिस दिन यह विशाल हिन्द प्रदेश एक होकर नये स्वाधीन जन-जीवन का निर्माण करेगा, उस दिन इसकी संस्कृति एशिया का मुख उज्ज्वल करेगी।

किसानों और मजदूरों की एकता जो जनता की एकता की धुरी है, वह दिन निकट लाएगी। हिन्दी और उर्दू के लेखकों को इस जनता के हितों को ध्यान में रखकर अपनी जातीय परम्परा के अनुसार लोकप्रिय भाषा और जनवादी साहित्य के विकास में आगे बढ़ना चाहिए। (१९५३)

११

हिन्दी-उर्दू समस्या

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का तनाव दूर करने के लिए शान्ति-प्रेमी जनता जोर-जबर्दस्ती के बदले समझौते की बातचीत का रास्ता पसन्द करती है। भारतीय शान्ति-आन्दोलन के नेताओं ने भी तीसरे महायुद्ध की तैयारियाँ रोकने के लिए समझौते की बात-चीत चलाने पर जोर दिया है।

मेरा विचार है, हिन्दी-उर्दू समस्या को लेकर जो तनाव पैदा किया गया है, उसे दूर करने के लिए भी समझौते की बातचीत चलाना और छुरेबाजी को प्रोत्साहन न देना श्रेयस्कर हो सकता है।

पिछले दिनों उर्दू-प्रेमियों की तरफ से उर्दू को क्षेत्रीय भाषा के रूप में मानने और उसके लिए क्षेत्रीय भाषा के अधिकार माँगने के बारे में आन्दोलन हुआ था। उस आन्दोलन के जवाब में कुछ हिन्दी-प्रेमियों की तरफ से भी आन्दोलन हुआ और लखनऊ में उर्दू-प्रेमियों के सम्मेलन के अवसर पर एक उर्दू-प्रेमी को एक हिन्दी-प्रेमी ने छुरा मारकर उसे अस्पताल भेज दिया।

आप मानेंगे कि टैंक और ऐटम बम का खतरा न होने पर भी लखनऊ जैसे शान्ति-प्रेमी नगर में यह कांड होना जाहिर करता है कि जैसे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव दूर करने के लिए बमबाजी का रास्ता बुरा बताया जाता है, वैसे ही भाषा की समस्या हल करने के लिए छुरेबाजी का रास्ता भी बुरा समझा जाना चाहिए।

उकसावा पैदा करनेवाले आन्दोलन अक्सर अर्द्ध-सत्यों को लेकर चलते हैं। इसमें शक नहीं कि बहुत से उर्दू-प्रेमियों में सम्प्रदायवादी भी हैं, और पहले भी रहे हैं। लेकिन इस बात को लेकर अर्द्ध-सत्य प्रेमी सज्जन यह नतीजा निकालते हैं कि सभी उर्दूवाले सम्प्रदाय-वादी हैं, उर्दू का जन्म ही सम्प्रदायवाद से हुआ है, पाकिस्तान का जन्म भी उर्दू के कारण हुआ है (भले ही पूर्वी पाकिस्तान के लोग उर्दू को राजभाषा बनाने के खिलाफ लड़े हों) और इसलिए जितना ही जल्दी उर्दू को मिटाया जाय, उतना ही अच्छा!

इसमें भी शक नहीं है कि हिन्दी-प्रेमियों में बहुत से सम्प्रदायवादी हैं और पहले भी रहे हैं। लेकिन इस बात से उर्दू-खेमे के अर्द्ध-सत्यप्रेमी यह नतीजा निकालते हैं कि सभी हिन्दी-प्रेमी सम्प्रदायवादी हैं, हिन्दी का जन्म ही सम्प्रदायवाद से उर्दू के मीठे सरल शब्दों को निकालकर उनकी जगह संस्कृत के कंकड़-पत्थर भरकर हुआ है। हिन्दी को

बिहार या उत्तर प्रदेश की राजभाषा बना दिया गया है, यह हिन्दी-प्रेमियों की साम्प्रदायिकता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

इसी तरह हिन्दी क्षेत्र के अर्द्ध सत्यप्रेमी उर्दू विरोध को राष्ट्रीयता की पहली शर्त मानते हैं। यह उर्दू विरोध जल्द ही मुस्लिम विरोध का रूप ले लेता है और उत्तेजना पैदा करनेवाली दलीलें दी जाती हैं जिन्हें सुनकर मालूम होने लगता है कि जनता की भुखमरी, अशिक्षा, अकाल और महामारी का एकमात्र कारण उर्दू है।

उधर उर्दू क्षेत्र के अर्द्ध सत्यप्रेमी उर्दू को हिन्दी से और दूर खींचकर, हिन्दुस्तानी जनता के सांस्कृतिक इतिहास से और दूर ले जाकर, इस्लाम से उर्दू का सम्बन्ध अपनी समझ से और पक्का करके, अलगाव की भावना को और मज़बूत करते हैं। समूची हिन्दुस्तानी जनता कैसे साक्षर होकर अपनी मिली-जुली संस्कृति, अपना मिला-जुला लिखित साहित्य आगे बढ़ाएगी, अवधी, ब्रज, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी आदि से हम अपनी भाषा के लिए क्या लेंगे, कैसे उसे सोलह करोड़ के लिए सुलभ बनाएँगे, ये समस्याएँ उनके लिए हैं ही नहीं। उल्टा वे किसी महा अश्लील पत्रिका की बिक्री का हवाला देकर पूछेंगे, 'कहिए, आपके यहाँ कोई पत्रिका इतनी बिकती है?' या अपने बड़प्पन की डींग हाँकेंगे, 'हमने जितना कमाल हासिल किया है उतना किसी ने किया ही नहीं है।'

उर्दू-क्षेत्र के ये अर्द्ध-सत्यप्रेमी आशा और निराशा के बीच झकोले खाते हैं। कभी तो वे उर्दू के अजर-अमर होने की बात सोचकर गद्गद हो उठते हैं और कभी उसका विनाश निश्चित समझकर वैसे ही उदास और परेशान हो जाते हैं।

किसी ज़िले या सूबे को ध्यान में रखकर हिन्दी-उर्दू की समस्या स्थायी रूप से हल नहीं हो सकती। यह समस्या तभी हल होगी जब हम हिन्दी प्रेमी और उर्दू प्रेमी दोनों—समूची हिन्दुस्तानी जाति के राजनीतिक और सांस्कृतिक पुनर्गठन की समस्या के सन्दर्भ में उस पर विचार करें। सवाल यह है कि जैसे तेलुगु, मराठी, तमिल या कन्नड़ भाषाएँ बोलनेवाले अपने-अपने प्रदेश में अपना राजनीतिक और सांस्कृतिक पुनर्गठन करने के लिए उठ खड़े हुए हैं या उठ खड़े हो रहे हैं, वैसे ही क्या हिन्दुस्तानी लोग भी मुग़ल और ब्रिटिश राज के अपने अलगाव को ख़त्म करके एक जातीय प्रदेश में अपने राजनीतिक और सांस्कृतिक पुनर्गठन के लिए उठेंगे? या वे अपनी सामान्य समस्याएँ अलग-अलग अपने ज़िलों और सूबों में ही उलझाते-सुलझाते रहेंगे?

अभी पिछले दिनों भाषावार प्रान्त बनाने के सिलसिले में जो सम्मेलन हुआ, उसमें और भाषाओं के प्रतिनिधियों ने तो अपने जातीय इलाकों के पुनर्गठन की बात उठाई लेकिन हिन्दुस्तानी प्रदेश का सवाल वहाँ उठा ही नहीं। इसका सबब यह है कि हिन्दुस्तानी जनता का प्रदेश और जातियों के प्रदेश से कहीं ज़्यादा बड़ा है, उनसे ज़्यादा बँटा हुआ है, यहाँ की जातीय चेतना को कभी हिन्दी-उर्दू विवाद से, कभी भोजपुरी या मैथिली प्रान्त के आन्दोलन से, कभी बिहारी-बंगाली फ़साद से सही रूप में विकसित होने नहीं दिया गया।

हिन्दी-उर्दू समस्या को लेकर जो लोग साम्प्रदायिक प्रचार करते हैं, वे हिन्दुस्तानी जनता की जातीय चेतना पर सबसे पहले प्रहार करते है।

हिन्दी-उर्दू के अर्द्ध-सत्यप्रेमी हिन्दुस्तानी जाति के प्रदेश का सवाल, उसके राजनीतिक और सांस्कृतिक पुनर्गठन का सवाल नहीं उठाते, यह बात आकस्मिक नहीं है। वे सारे हिन्दुस्तान में हिन्दी फैलाने के लिए कटिबद्ध हैं, लेकिन जब दक्षिण के लोग उनसे पूछते है—हिन्दी किस प्रदेश की भाषा है, तो वे बगलें झाँकने लगते हैं।

यह बात आकस्मिक नही है कि हिन्दी-खेमे के कुछ अर्द्ध-सत्यप्रेमी हिन्दुस्तानी जाति के इलाके को 'बोलियों' के आधार पर ग्यारह हिस्सों में बाँट देने का प्रचार करते हैं। 'भाषा' के आधार पर वे प्रान्त-निर्माण की बात नहीं करते वरन् 'बोली' के आधार पर एक जातीय प्रदेश के बहुत से टुकड़े करने की बात करते है।

समूचे हिन्दुस्तानी प्रदेश को ध्यान में रखते हुए हिन्दी-उर्दू समस्या पर विचार किया जाय, तो ये परिणाम निकलते हैं—

१. जहाँ तक साधारण जनता की बोलचाल का सम्बन्ध है, हिन्दू-उर्दू का कोई भेद नही है।

२. हिन्दी-उर्दू का भेद लिखित भाषा के सिलसिले में उठता है।

३. उर्दू को लिखित भाषा के रूप में काम में लानेवाले लोग आम तौर से सम्प्रदायवादी नहीं हैं। वास्तव में कुछ हिन्दू सम्प्रदायवादी भी लिखित भाषा के रूप में उर्दू का प्रयोग करते हैं। उर्दू का प्रयोग करनेवाले सब मुसलमान ही नही, ग़ैर-मुसलमान भी हैं।

४. लिखित भाषा के लिए जो लोग हिन्दी का प्रयोग करते हैं, उनकी संख्या उर्दू का प्रयोग करनेवालों से ज़्यादा है। इससे नतीजा यह निकलता है कि हिन्दुस्तानी प्रदेश में एक 'सांस्कृतिक अल्पमत' लिखित उर्दू का प्रयोग करता है।

५. व्यवहार में इस सांस्कृतिक अल्पमत की जरूरतों का ध्यान रखा जाता रहा है, जैसे फिल्मों में हिन्दी लिपि के साथ उर्दू का प्रयोग, अनेक ग़ैर-साम्प्रदायिक संगठनों का उर्दू पत्र निकालना (जिनमें कम्युनिस्ट पार्टी भी शामिल है)।

हिन्दी-खेमे के अर्द्ध-सत्यप्रेमी यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि उर्दू एक सांस्कृतिक अल्पमत के काम में आनेवाली लिखित भाषा है। वे इस सत्य को दोहराकर कि जनता की भाषा यानी 'बोलचाल की भाषा' एक है, इस बात से इन्कार करते हैं कि लिखित भाषा में आज भेद है और उर्दू एक सास्कृतिक अल्पमत की जरूरतें पूरी करती है।

इसलिए वे हिन्दी को राजभाषा बनाकर उर्दू के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहते हैं जिससे लिखित भाषा के एकीकरण का सवाल एक-दूसरे से सीखकर, कुछ आपस में आदान-प्रदान करके हल न हो, बल्कि एक लिखित रूप क़ो दबाकर हो।

उर्दू-खेमे के अर्द्ध-सत्यप्रेमी यह मानने से इन्कार करते हैं कि समूचे हिन्दुस्तानी

प्रदेश में उर्दू का व्यवहार एक शिक्षित भाषा के रूप में एक सांस्कृतिक अल्पमत करता है। वे यह मानने से इनकार करते हैं कि सवाल सांस्कृतिक अल्पमत की शिक्षित भाषा की रक्षा करने, उसके उपयोग की सुविधाएं देने का है। वे कभी राजकाज के लिए दोनों लिपियों के चलन की बात कहते हैं, कभी उसे क्षेत्रीय भाषा मानकर उसके लिए दिल्ली, भोपाल और लखनऊ का 'क्षेत्र' ढूंढने लगते हैं।

उर्दू-क्षेत्र के ये दोस्त हकीकत पहचानने में गलती करते हैं, जिससे हिन्दी-क्षेत्र के सम्प्रदायवादी ही मजबूत होते हैं, उर्दू की रक्षा और उसके व्यवहार की सुविधा देने का असली प्रश्न टल जाता है।

शिक्षित भाषा के रूप में हिन्दी का प्रयोग हमारे प्रदेश के बहुसंख्यक लोग करते हैं। इसलिए उनकी जिम्मेदारी सबसे ज्यादा है कि एक ही शिक्षित भाषा के विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ तैयार करने में मदद दें। इस काम में एक बाधा यह प्रचार है कि शिक्षित भाषा के रूप में उर्दू को दबाने से हमारी भाषा-समस्या सुलझ जाएगी। जो लोग इस तरह का प्रचार करते हैं, वे अर्द्ध-सत्य का सहारा लेकर शिक्षित उर्दू के सामन्ती साहित्य, उसकी ईरानी परम्पराओं का हवाला तो देते हैं लेकिन शिक्षित उर्दू के जनवादी और लोकप्रिय साहित्य के बारे में खामोश रहते हैं या सरासर झूठा प्रचार करते हैं।

सन् '४७ के बाद हिन्दी-क्षेत्र के सम्प्रदायवादियों ने नए सिरे से जोर मारा है। राजनीतिक जीवन से उखड़ होने पर कुछ सज्जन भाषा को लेकर सम्प्रदायवाद का प्रचार करने लगे। कुछ मित्रों को यह भ्रम है कि ऐसे लोग केवल भाषा के मामले में सम्प्रदायवादी हैं, बाकी मामलों में असाम्प्रदायिक और जनवादी हैं।

इस तरह की धारणा बनाते हुए बहुत सतर्क रहना जरूरी है।

सन् '४७ में—भारत-विभाजन के बाद—राहुलजी ने हिन्दी-उर्दू समस्या के सिलसिले में ही कहा था—

"इस्लाम को भारतीय बनना चाहिए—उनका भारतीयता के प्रति यह विद्वेष सदियों से चला आया है सही किन्तु नवीन भारत में कोई भी धर्म भारतीयता को पूर्णतया स्वीकार किये बिना फल-फूल नहीं सकता।"

बात थी उर्दू की, नतीजा निकला कि "उनका भारतीयता के प्रति यह विद्वेष सदियों से चला आया है," मानो मुसलमान मूलतः राष्ट्र-विरोधी हैं।

और 'आज की राजनीति' (१९५०) में राहुलजी ने हिन्दी-उर्दू समस्या के सिलसिले में ही लिखा था—

"इस्लाम ने जो भी कहा हो, किन्तु मुसलमानों ने अपने को देश की धारा का अंग मानने से सदा इन्कार किया।"

बात थी उर्दू की, नतीजा निकला कि मुसलमानों ने अपने को इस देश की धारा का अंग ही न समझा।

और भी, उसी पुस्तक में राहुलजी कहते हैं—

"इस्लाम का भारतीयकरण करना ही हितकर होगा। मौलाना आज़ाद की यह मनोवृत्ति यदि भारतीय मुसलमानों में रही, तो उनकी भक्ति तथा सहानुभूति हमेशा भारत की अपेक्षा पाकिस्तान के साथ रहेगी। यह भावना भारतीय मुसलमानों को छिपा पंचमांगी बनाकर छोड़ेगी।"

यदि मुसलमान पंचमांगी बन रहे हैं, तो उनके साथ व्यवहार भी वही होगा जो देशद्रोहियों के साथ होता है ! हिन्दू-मुस्लिम दंगे कराने के लिए इससे ज्यादा क्या कहा जा सकता है ? आप कहेंगे, यह तो भाषा-सम्बन्धी मनोवृत्ति को लेकर लिखा गया है।

मान लिया, भाषा-सम्बन्धी मनोवृत्ति को लेकर लिखा गया है, लेकिन इस किताब में युधिष्ठिर नाम का पात्र—जो राहुल उवाच की जगह सूत्रधार का काम करता है—कहता है, "आप कुरान को उठाकर किसी धर्म के प्रमुख ग्रन्थ से मिलाकर देख लीजिए, वह हर तरह से निम्नकोटि का जँचेगा।"

अब आप पता लगाइए, कि दुनिया के तमाम मुसलमानों के धर्मग्रन्थ से हिन्दी-उर्दू समस्या का क्या सम्बन्ध है !

देखिए, राहुलजी का केवल भाषा के सवाल पर सम्प्रदायवादी होना अकल ठीक करने के कैसे सुन्दर नतीजे तक पहुँचता है !

हमारे अनेक शुभ विचार रखनेवाले भाइयों ने राहुलजी का विरोध करना तो दूर, उनकी पीठ थपथपाई कि आप वास्तव में प्रगतिशील विचारक हैं ! उनका खयाल था कि राहुलजी का पर्दाफाश करने से 'संयुक्त मोर्चा' टूट जाएगा (राहुलजी की नीति से उन्हें संयुक्त मोर्चे के लिए कोई भय न था !), इसलिए कभी तो वे उनके 'भाषा-सम्बन्धी' प्रचार को 'आदर्श' कहते रहे, कभी चुप रहे और कभी घेरे जाने पर बोले कि राहुलजी को सम्प्रदायवादी कहने से क्या होता है, सभी हिन्दी लेखक वैसा ही सोचते हैं !!!

इस अवसरवादी नीति को, साम्प्रदायिकता को, तरह देने का नतीजा यह हुआ कि राहुलजी के चरणचिह्नों पर चलनेवाले और 'प्रगतिशील' लेखक भी आगे आ रहे हैं।

उत्तर प्रदेश में उर्दू को क्षेत्रीय भाषा बनाने के आन्दोलन के सिलसिले में 'उत्तर प्रदेश भाषा समिति, लखनऊ' ने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी और उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्षों के नाम एक आवेदन-पत्र छपवाया था। इसमें कहा गया था—

"हम इस प्रदेश की भाषा के बँटवारे और भाषा को बाँटकर जनता में फूट डालने की विषैली साम्प्रदायिक नीति का घोर विरोध करते हैं। यह प्रवृत्ति जन-विरोधी, राष्ट्रीयता-विरोधी और देशद्रोही है।"

जब कोई प्रवृत्ति 'देशद्रोही' करार दी जाएगी, तो उसके साथ कैसा व्यवहार किया जाएगा ? आवेदन-पत्र ने ऐसा वातावरण तैयार करने की कोशिश न की जिसमें

हिन्दी उर्दू लेखक बैठकर समस्या पर विचार करते और उसे सुलझाने की कोशिश करते। उर्दू-प्रेमियों ने क्षेत्रीय भाषा के लिए जैसे हिन्दी लेखकों से सलाह मशविरा किये बिना आन्दोलन छेड़ दिया था और उर्दू की रक्षा की सही माँग को क्षेत्रीय भाषा की गलत माँग में उलझा दिया था, वैसे ही और उससे पचास कदम आगे बढ़कर उत्तर प्रदेश भाषा समिति ने इन उर्दू-प्रेमियों की कोशिश को देशद्रोह करार दे दिया।

इससे मुस्लिम सम्प्रदायवादियों ने फायदा उठाया और दगाबाजी के लिए वातावरण पैदा कर लिया।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की तरह भाषा-सम्बन्धी मामलों में भी उकसाव की नीति के बदले सुलह-समझौते की बातचीत चलाना क्यों जरूरी है।

आवेदन-पत्र पर भाषा समिति के मन्त्री की हैसियत से सुप्रसिद्ध प्रगतिशील कलाकार यशपाल के दस्तखत हैं।

यशपालजी यह अर्द्धसत्य मानकर कि हिन्दुस्तानी जनता की एक भाषा है, उसके दो लिखित रूपों को आज की आवश्यकता को सिर्फ एक लिखित रूप रखकर तुरन्त खतम कर देना चाहते हैं। उनके विचार से हिन्दी-उर्दू के आदान प्रदान का सवाल नहीं है। समझा-बुझाकर एक लिपि बनाने का सवाल नहीं है। सवाल है दो में से एक ही रूप रखकर समस्या को हल करने का। हिन्दी उर्दू की समस्या को जोर-जबरदस्ती से हल करने का समर्थन करते हुए यशपालजी कहते हैं—

"दमन और जब्र बड़े अप्रिय शब्द हैं। हम इन शब्दों को सदा ही अपने विरोधियों के सर मढ़ते हैं। लेकिन किसी भी नियम या अनुशासन को दमन और जब्र कह दिया जा सकता है। अनिवार्य शिक्षा भी एक प्रकार का दमन और जब्र है और पैदावार के साधनों का राष्ट्रीयकरण तो बहुत बड़ा दमन और जब्र बताया जाएगा।"

('नया पथ'—सितम्बर, १९५३)

कहाँ राष्ट्रीयकरण कहाँ हिन्दी-उर्दू समस्या! पहले तो भारत में पैदावार के साधनों के राष्ट्रीयकरण का सवाल ही नहीं उठता और जहाँ उठता है या उठा है, वहाँ कामचोर वर्गों की मिल्कियत खतम करने का उठा है। क्या जो लोग लिखित भाषा के लिए उर्दू काम में लाते हैं, कामचोर वर्गों के लोग हैं? यशपालजी की उपमा ही जाहिर करती है कि उन्होंने कामचोर वर्गों की वास्तविक समस्या भुलाकर (और ये वर्ग लिखित भाषा के लिए हिन्दी उर्दू दोनों का प्रयोग करते हैं!) तमाम उर्दू प्रेमियों को—या लिखित भाषा के लिए उर्दू-प्रयोग की सुविधा चाहनेवालों को—कामचोर-वर्ग बना दिया है और उन्हें अधिकारहीन करने का फैसला कर लिया है।

अनिवार्य शिक्षा का चलन करने पर दमन और जब्र जनता पर नहीं होता बल्कि उन कामचोर वर्गों पर होता है जो जनता को निरक्षर रखते हैं। राष्ट्रीयकरण में जो व्यवहार कामचोर वर्गों के साथ होता है, उसकी तुलना जनता को अनिवार्य शिक्षा देने

से करके यशपालजी ने जनता और शोषक वर्गों का भेद भुला दिया है।

जब तक हमारे कुछ लेखक यह प्रचार करते रहेंगे कि जोर-जबर्दस्ती से हल करने पर लिखित भाषा की एकता कायम हो जाएगी, तब तक वह एकता उतनी ही दूर चली जाएगी, जनता में फूट डालनेवाले भाषा के सवाल को प्रेम से इस्तेमाल करेंगे और इस सबसे हिन्दुस्तानी जनता के राजनीतिक और सांस्कृतिक पुनर्गठन का सवाल—हिन्दी प्रदेश के एकीकरण का सवाल—खटाई में पड़ा रहेगा।

यह समझना भूल होगी कि सभी हिन्दी-लेखक राहुलजी या यशपालजी की तरह सोचते हैं।

अगस्त, १९५३ की 'अवन्तिका' ने सम्पादकीय नोट मे इस बारे में लिखा है।

'अवन्तिका' उर्दू को किसी क्षेत्र की अलग भाषा नही मानती। लेकिन वह उसे स्वदेशी भाषा मानती है, राहुलजी की तरह अरब जेहादियो का कीर्ति-स्तम्भ नहीं। वह उसके विकास मे बाधा देने का विरोध करती है, जोर-जबर्दस्ती से राष्ट्रीयकरण या इस्लाम के भारतीयकरण का सवाल नही उठाती।

इससे यह परिणाम निकलता है कि उकसावा पैदा करनेवाला वातावरण खत्म करके अगर हिन्दी-उर्दू के जनवादी लेखक इस समस्या को सुलझाने बैठें तो ऐसा हल निकल सकता है, जिसमें किसी के साथ जब्र भी न हो और क्रमशः हमारे हिन्दुस्तानी प्रदेश में एक लिखित भाषा के विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ भी तैयार हो जाएँ।

(१९५३)

१२
भाषा और प्रान्तीयता

इस बार गर्मियों में जब कलकत्ता गया तो लगा, शहर कुछ बदला-सा है। बँगला-भाषी मित्र बँगला छोड़कर आम तौर से दूसरी भाषा में बात न करते थे। कुछ लोगों ने यह शिकायत भी की कि बस या ट्राम में किसी बंगाली कंडक्टर से हिन्दी में टिकट माँगो तो वह टिकट न देगा या उपेक्षा दिखलाएगा, दफ्तरों में हिन्दी बोलकर काम करने जाओ तो बीस मिनट के काम बीस दिन में भी होगा नहीं। एकाध साहित्य-प्रेमी ने कहा, "आप जो कुछ हिन्दी भाषण में कहते हैं, उसे अंग्रेजी में भी कहें, हम उसमें बँगला साहित्यकारों और प्रोफेसरों को भी बुलाएँगे, उन्हें भी मालूम होना चाहिए कि हिन्दी में क्या है।"

एक बँगलाभाषी हिन्दी-प्रचारक मित्र ने कहा, "आपके यहाँ से कुछ लोग आकर हमारा काम चौपट कर जाते हैं। यहाँ आकर कहते हैं, 'बँगला में है क्या? रवीन्द्रनाथ ने जो कुछ लिया है कबीर से।' अरे बाबा, आप लोग हिन्दी हिन्दी क्या चिल्लाते हो? है क्या आपकी हिन्दी में? और हिन्दी-प्रचार तो हम राजा राममोहन राय के समय से कर रहे हैं जब आपके यहाँ लोग हिन्दी-प्रचार का नाम भी न जानते थे।'

एक चौहत्तर वर्ष के क्रान्तिकारी, विचारक और लेखक ने पूछा, "हिन्दुस्तान के भविष्य के बारे में क्या सोचते हो?" मैंने कहा, "इस प्रश्न का उत्तर तो मुझसे अच्छा आप दे सकते हैं। मेरी समझ में हमारा भविष्य उज्ज्वल है।" उन्होंने कहा, 'गृह-युद्ध होनेवाला है।" पूछा, "किसमें?" मेरे मन में आया, शायद मजदूर पूँजीपतियों की लड़ाई की बात सोचते होंगे। लेकिन वह बोले, "हिन्दुस्तानियों और बंगालियों में युद्ध होगा।" सुना था, कुछ दिन पहले बंगाली और हिन्दुस्तानी ट्राम-मजदूरों में झगड़ा हो चुका था। अखबारों में असमियों और बंगालियों के दंगे की बात भी पढ़ चुका था। इसलिए गृह-युद्धवाली बात मैं हँसकर टाल न सका।

कलकत्ता की लगभग आधी जनता हिन्दुस्तानी है। यहाँ के मारवाड़ी व्यापारी आपस में राजस्थानी बोलते हैं लेकिन शिक्षा, भाषण, प्रकाशन आदि के लिए हिन्दी ही काम में लाते हैं। एक ओर तो ये बड़े-बड़े व्यापारी हैं, दूसरी ओर अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि बोलनेवाले पूर्वी हिन्दी भाषी प्रदेश के लोग हैं जो ज्यादातर मेहनत-मजूरी के सहारे जिन्दगी बसर करते हैं। शाम को अपने डेरों पर ढोल-मँजीरा या खंजड़ी या ढुक्क

लेकर ये अपने लोकगीत गाते है। वंगला और हिन्दीभापी भद्रजन समान रूप से इन्हें असभ्य और असंस्कृत समझकर इनसे प्रायः घृणा करते है। इनके अलावा वहुत-से अध्यापक और लेखक हैं, जिनमें से अधिकांश का उद्देश्य कलकत्ता आकर पैसा कमाना है, साहित्य-सेवा करना नहीं।

ऐसी स्थिति में कौन वड़ा है, कौन छोटा है, यह भाव लोगों के मन में वड़ी जल्दी पैदा होता है। इसका नतीजा यह होता है कि देश की विभिन्न जातियाँ आपस में मित्रता वरतने के वदले एक-दूसरे से वैर मानने लगती है, एक-दूसरे से सीखने के वदले अपने वड़प्पन की डींग हाँकने मे सारा समय लगा देती है। जहाँ तक साहित्य का सम्वन्ध है, यहाँ की जातियाँ एक-दूसरे से सहयोग करके ही उसे सँवारती रही हैं और आगे भी उसे सँवार सकती हैं। सूर और तुलसी के युग में यहाँ के सांस्कृतिक आन्दोलन वरावर एक प्रदेश के वाहर के लोगो को भी प्रभावित करते रहे हैं। यदि ये व्यापक आन्दोलन न होते तो न सूर के पद रचे जाते, न चण्डीदास के। इसी तरह आधुनिक काल में देशभक्ति की जो लहर सारे देश में फैल गई, उसमें अनेक जातियो के लेखकों का हाथ था। इसलिए किसी भी भापा के साहित्य पर गर्व करते हुए उसके प्रेमियों को यह भूल जाना चाहिए कि उसका विकास दूसरों के सहयोग से ही सम्भव हुआ है और उससे मिलती-जुलती विशेपताएँ दूसरों के साहित्य में भी हैं।

जहाँ तक भापा का सम्वन्ध है, वास्तविक स्थिति यह है कि वंगाल आदि राज्यों में वँगला-जैसी समृद्ध भापाएँ भी वहाँ के राजकाज की भापाएँ नहीं वनीं। अंग्रेज़ी का वोलवाला अव भी है और तनाव अंग्रेज़ी और देशी भापाओं के वीच नहीं, हिन्दी और यहीं की दूसरी भापाओं के वीच है। हिन्दी-प्रेमियों का हित इस वात मे है कि वँगला आदि भापाएँ राजकाज के लिए अपने देश में पूरी तरह काम में लाई जाएँ। जव तक अहिन्दी-भापी प्रदेशों में वहाँ की भापाएँ अपने पूर्ण अधिकार नहीं पातीं, तव तक उनके वीच हिन्दी भी पूरी तरह परस्पर व्यवहार का माध्यम नही वन सकती। इसके विपरीत उन्हें डर रहेगा कि हिन्दी हमारी जगह छीनना चाहती है।

इधर शिक्षा के माध्यम को लेकर जो विवाद चल पड़े हैं, उनसे परिस्थिति और विगड़ गई है। कई जगह यह प्रचार किया गया है कि किसी भापा-विशेप के वदले हिन्दी ही शिक्षा का माध्यम वनेगी। तर्क यह होता है, हर जगह हिन्दी शिक्षा का माध्यम न होगी तो विश्वविद्यालय आपस में ज्ञान-विनिमय न कर सकेंगे, विज्ञान की उन्नति न हो सकेगी, देश की सांस्कृतिक एकता टूट जायगी, इत्यादि। इस स्थिति से लाभ उठाकर अंग्रेज़ी-भक्त कहते हैं—"यह सव वहस वेकार है, सवसे भली अंग्रेज़ी; इससे नया ज्ञान भी मिलेगा, पारिभापिक शब्द गढ़ने की समस्या भी न रहेगी और भारत की एकता भी वनी रहेगी।" इधर कुछ विश्वविद्यालय इस ओर काफ़ी सरगरमी दिखा रहे हैं। विभिन्न भापा-क्षेत्रों में जितना ही वहाँ की भापाओं के हक मारे जाएँगे, उतना ही अंग्रेज़ी उनके सिर पर सवार रहेगी, यह वात असंदिग्ध है। आवश्यकता इस वात की है कि देश की

भाषाएं समान अधिकार पाकर विकसित हों और इनके बोलनेवाले अन्तर्जातीय व्यवहार के लिए हिन्दी अपनाएं। साहित्य के क्षेत्र में बड़प्पन की होड़ लगाने के बदले भारतीय साहित्य की सामान्य विशेषताओं को भी पहचानें और एक-दूसरे से सीखने की बात सोचें। यद्यपि कुछ पढ़े लिखे लोगों और धनी जनों में जातीय द्वेषभाव काफी बढ़ा हुआ है, तथापि जनसाधारण में परस्पर प्रेम और देशभक्ति के भाव कितने दृढ़ हैं, इसका एक प्रमाण गोआ का सत्याग्रह है। इस छोटे-से प्रदेश को मुक्त कराने के लिए बंगला, मराठी, पंजाबी, हिन्दी आदि अनेक भाषाएं बोलनेवाले नौजवानों ने अपने प्राणों की बाजी लगा दी। किसी ने यह सोचकर आगा-पीछा नहीं किया कि गोआ के लोगों की भाषा तो कोंकणी या मराठी है, हम उनके लिए क्यों जान दें। पन्द्रह अगस्त के बाद देश में जो व्यापक प्रदर्शन हुए, वे भी इसी जातीय सहयोग और देश प्रेम के सूचक हैं। जनसाधारण में यह भाईचारे का भाव देश की बहुत बड़ी सांस्कृतिक निधि है। यही वह शक्ति है जो देश को जातीय द्वेष के मार्ग से हटाकर प्रेम, समानता और सहयोग के मार्ग पर ले जायगी। इसके बिना न तो समूचे देश का विकास सम्भव है, न किसी जाति-विशेष का। (१९५५)

१३

अनिवार्य राजभाषा का सवाल

भारत के संविधान मे राजभाषा से सम्बन्धित धाराओं को स्वीकृत हुए चार वर्ष से ऊपर हो गए। जो कमीशन हिन्दी के व्यवहार के बारे में राष्ट्रपति के सामने अपने सुझाव रखेगा, वह भविष्य में बनेगा। किन्तु कुछ विद्वान् राजनीतिज्ञ को उस भाषायी क्रान्ति की सम्भावना से घबरा उठे हैं जिसके जनक वे स्वयं थे। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल ने पटना में भारतीय हिन्दी परिषद् के अधिवेशन में कहा था, "अगर अंग्रेजी हटाने पर बहुत जोर दिया जायगा तो इससे हिन्दी को लाभ नही हानि होगी, राष्ट्रीयता लुप्त हो जायगी, प्रादेशिक भावनाएँ प्रबल होंगी, भारत के टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे।" ऐसा लगता है कि अंग्रेज़ी की स्थिति को ज़रा-सा भी धक्का लगने पर देश की सुरक्षा खतरे में पड़ जाती है। एक अन्य राज्यपाल, मद्रास मे श्री श्रीप्रकाश ने संस्कृत को भारत की राजभाषा बनाने की बात कही है।

स्पष्ट है कि संविधान की भाषा-सम्बन्धी धाराएँ स्वीकृत करने के बाद भी कांग्रेसी नेता भाषा-समस्या का अन्तिम समाधान पेश नहीं कर चुके।

सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में जनता की भाषाओं के व्यवहार के लिए संघर्ष स्वाधीनता और जनतन्त्र के लिए होनेवाले संघर्ष का ही एक अंग है। रवीन्द्रनाथ और भारती जैसे कवियों ने बँगला और तमिल के गौरव-गीत गाये। जनता ने मैकाले की भाषा-नीति का विरोध किया, जिसका उद्देश्य विदेशी साम्राज्यवादियों की चाकरी करनेवाले बुद्धिजीवी तैयार करना था। ब्रिटिश शासकों ने कोशिश की कि जनता की भाषाएँ दबाई जाएं, उन पर अंग्रेज़ी लादी जाय, और जनता की एकता नष्ट कर दी जाय। साम्राज्यवादियों का स्वप्न रिज़ले की पुस्तक 'द पीपुल ऑफ़ इंडिया' में इस तरह प्रकट हुआ है, "यह सम्भव है—यद्यपि सम्भावना दूर भविष्य की है—कि शायद अंग्रेज़ी ही भारत की राष्ट्रभाषा बनेगी।"

प्रारम्भिक दिनों में कांग्रेस के नेताओं की भाषा अंग्रेजी थी। किन्तु १६२० के बाद राष्ट्रीय स्वाधीनता-आन्दोलन की प्रगति के बाद भारतीय भाषाएँ राजनीतिक मंच पर अग्रसर होने लगीं। लेकिन भारतीय भाषाओं की यह प्रगति नेताओं को हमेशा अच्छी नही लगी। उनमें से कुछ चक्रवर्ती सम्राटों के गौरवमय इतिहास का स्वप्न देखते हैं

जब पुरोहितों की सहायता से वर्ण-व्यवस्था वाले समाज में संस्कृत का बोलबाला था। कुछ अन्य नेता 'डूबने को तिनके का सहारा' की मसल चरितार्थ करते हुए अंग्रेजी का दामन थामे हुए हैं।

कांग्रेसी नेताओं ने जब हिन्दी को राजभाषा के लिए मान्य किया, तब तक सत्ता प्राप्त किये उन्हें चार वर्ष हो गए थे। लेकिन इस फैसले के साथ उन्होंने यह भी सुनिश्चित कर लिया कि सभी सरकारी कामों के लिए अगले पन्द्रह साल तक अंग्रेजी का व्यवहार होगा। इस प्रकार अंग्रेजी का चलन उन्होंने बीस साल के लिए पक्का कर लिया। संविधान को लागू हुए पाँच साल भी नहीं बीते कि हमें उपदेश सुनने को मिलने लगे हैं कि अंग्रेजी को हटाना खतरनाक है। पन्द्रह साल के बाद पार्लियामेंट क़ानून बनाकर अंग्रेजी का चलन बनाये रह सकती है। कांग्रेसी नेताओं की यह मंशा नहीं थी कि अंग्रेजी हटाने के लिए जमकर कोशिश करें। उन्होंने स्पष्ट ही अपने सामने यह सम्भावना रखी थी कि पन्द्रह साल के बाद भी अंग्रेजी जारी रहेगी शायद उसके अगले पन्द्रह साल तक भी जारी रहेगी, हो सकता है कि इसके आगे भी जारी रहे। संविधान-सभा में बहस की तमाम सरगर्मियों के पीछे यह निर्मम निश्चय साफ दिखाई देता है कि समस्त भारतीय भाषाओं की हानि करते हुए अंग्रेजी को अनिवार्य राजभाषा के रूप में चालू रखा जाय। श्री नेहरू ने बड़ी स्पष्टता से कहा है कि "आप इस बात को प्रस्ताव में चाहे लिखें, चाहे न लिखें, अंग्रेजी लाजमी तौर से भारत में बहुत महत्त्वपूर्ण भाषा बनकर रहेगी जिसे बहुत लोग सीखेंगे और शायद उन्हें उसे जबरन सीखना होगा।" लोग इन तमाम वर्षों में अंग्रेजी जबरन सीखते आये हैं। अब उनके सामने एकमात्र यह सम्भावना पेश की गई है कि अंग्रेजी के बिना हमारी कला और विज्ञान का पतन हो जायगा और देश का विघटन होगा, उसका नाश हो जायगा।

अंग्रेजी की विशेषाधिकार वाली स्थिति इस बात से और दृढ़ हो गई है कि उसका व्यवहार सुप्रीम कोर्ट और प्रत्येक हाईकोर्ट की कार्यवाही में, पार्लियामेंट या विधान-सभाओं में पेश होनेवाले हर बिल के लिए होगा और बिल का अंग्रेजी रूप ही अधिकारी रूप माना जायगा। यदि राज्यपाल या राज्यप्रमुख की आज्ञा से किसी बिल, ऐक्ट या आर्डिनेंस के लिए हिन्दी का व्यवहार किया जायगा तो अंग्रेजी रूप ही अधिकारी रूप माना जायगा। भारतीय जनता के लिए इससे अधिक अपमानजनक दूसरी बात हो नहीं सकती। अंग्रेजी के मुकाबले में तमाम भारतीय भाषाओं को नीचा दर्जा संविधान ने ही दे रखा है।

संविधान में यह लिख दिया गया है कि पन्द्रह वर्ष तक भारत की भाषा नीति में कोई भी परिवर्तन न होगा। संविधान ने राज्यों को इसके लिए भी बाध्य किया है कि वे एक-दूसरे से केवल हिन्दी या अंग्रेजी में ही पत्र-व्यवहार करें। अपनी सरकारी कार्यवाही में विशेष क़ानून बनाये बिना कोई राज्य अंग्रेजी की जगह अपनी भाषा का व्यवहार नहीं कर सकता। नतीजा यह है कि लगभग सभी राज्यों में सारा सरकारी काम अंग्रेजी में

होता है। इस प्रकार यह विदेशी भाषा न केवल अखिल भारतीय स्तर पर अनिवार्य राजभाषा बनी हुई है वरन् विभिन्न राज्यों मे भी अनिवार्य राजभाषा बनी हुई है।

भारत के कुछ बुद्धिजीवी अनिवार्य राजभाषा के रूप में हिन्दी का तो विरोध करते हैं लेकिन अंग्रेज़ी जो सब पर हावी है और जिसे खास अधिकार मिले हुए हैं, उसके बारे में चुप रहते हैं। ये लोग समझते हैं कि आम जनता पिछड़ी हुई है, इसलिए अंग्रेज़ी पढ़े लोगों का काम है उस पर शासन करना और जनता का काम है शासित होना। कहा जाता है कि अंग्रेज़ी के बिना देश की आर्थिक और सांस्कृतिक प्रगति बन्द हो जायगी। लेकिन आम जनता के सहयोग के बिना किसी तरह की प्रगति नही हो सकती, न आर्थिक, न सांस्कृतिक।

भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का विरोध करने से अंग्रेज़ी का प्रभुत्व कायम रखने में मदद मिलती है। एक ही राज्य में अनेक जातियो के रहने से उनमें से कोई भी अपना राजकाज अपनी भाषा में नही कर सकती। अपनी जातीयता के आधार पर जब तक लोग अपने राज्यो में पुनर्गठित न होंगे, तब तक अंग्रेज़ी का प्रभुत्व समाप्त न होगा।

ब्रिटिश साम्राज्यवादियो के मुखपत्र लन्दन के 'इकॉनोमिस्ट' ने लिखा था, "भारत की संविधान सभा ने गरम बहस के बाद तय किया है कि हिन्दी के राजभाषा बनने से पहले अभी पन्द्रह साल तक अंग्रेज़ी राजभाषा और बनी रहेगी। इससे पता चलता है कि भारत के राजनीतिज्ञ यथार्थ का सामना करने को तैयार हैं और समझौता स्वीकार करते हैं। उनके इस रवैये की बहुत-सी मिसालें आजादी के बाद मिल चुकी हैं।"

इस साम्राज्यवादी पत्र और राज्यपाल श्री मुंशी के यथार्थ-दर्शन मे काफी समानता मालूम होती है।

जहाँ तक अंग्रेज़ी के प्रभुत्व का सवाल है, हम वही हैं, जहाँ सन् '४७ में थे। यह प्रभुत्व और दृढ़ ही हुआ है। असली यथार्थ यही है जिसका दर्शन आम जनता आये दिन करती है, इस यथार्थ को बदलना है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सुब्रह्मण्य भारती, वीरेशलिंगम, वल्लत्तोल आदि महान् साहित्यकारों ने जो संघर्ष आरम्भ किया था, उसे तब तक जारी रखना चाहिए जब तक अंग्रेजी को हटाकर भारतीय भाषाओं को उनके उचित अधिकार न दिला दिये जाएँ। यह संघर्ष हमारे राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्रीय गौरव और आत्मसम्मान की सुरक्षा के लिए संघर्ष है; वह समानता और परस्पर सहयोग के आधार पर भारतीय जनता की एकता को दृढ़ करने के लिए संघर्ष है।

भारत में पूंजीवादी राष्ट्रवाद की लपटें उठ रही हैं। उत्तर दक्षिण के लोग भीम और दुर्योधन के समान एक-दूसरे पर प्रहार करने को उद्यत दिखाई देते हैं। संविधान-सभा की बहस में श्री एल० के० मैत्र, श्री गाडगिल, श्री रामलिंगम चेट्टियार, श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी, श्री शंकरराव देव आदि ने हिन्दी के प्रभुत्व से भय की बात की। श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने कहा था, "भारतीय संविधान में एक धारा बना देने से आप

सब लोगों को बाध्य नहीं कर सकते कि वे एक ही भाषा को स्वीकार कर लें।" उन्होंने यह भी कहा था, "दुर्भाग्य से लोगों में यह भय है और कई जगह उस भय का असली रूप भी दिखाई देता है। इन जगहों में लोगों को अपनी भाषाओं के व्यवहार की उतनी सुविधा भी नहीं दी गई जितनी घृणित विदेशी राज्य में भी उन्हें प्राप्त थी।"

संविधान में हिन्दी को राजभाषा का पद दिया गया है, किन्तु इस राजभाषा का कार्यक्षेत्र क्या है? अंग्रेजी ने राजभाषा बनकर प्रादेशिक भाषाओं के बहुत-से अधिकार छीन लिये थे। विभिन्न राज्यों को स्वायत्त शासन के काफी अधिकार दिये बिना अंग्रेजी की जगह हिन्दी को देने का मतलब है, दूसरी भाषाओं के अधिकार नियन्त्रित करना। संविधान में हिन्दी के विकास की बात कही गई है अन्य भाषाओं का उल्लेख नहीं है। इस तरह की मनोवृत्ति से भारत की विभिन्न जातियों में मैत्री और भाईचारा न बढ़ेगा।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम में कहा गया है, 'देश की एकता के नाम पर एक प्रदेश की भाषा 'हिन्दी' को सभी जातियों और राज्यों के लिए उनकी भाषाओं का अहित करते हुए, अनिवार्य राजभाषा बना दिया गया है।" इसलिए अहिन्दी जातियाँ अनिवार्य राजभाषा के रूप में हिन्दी का विरोध करती हैं और माँग करती हैं कि उनकी भाषाओं को सभी सरकारी कामों में इस्तेमाल किये जाने की सुविधा दी जाय।

भाषावार राज्य निर्माण का आन्दोलन जोर पकड़ रहा है। यह स्पष्ट है कि जातीयता के आधार पर जो नये राज्य गठित होंगे, उनमें राजकाज की भाषाएँ प्रादेशिक भाषाएँ होंगी। जो लोग दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार करते रहे हैं, वे इस बात को समझते हैं। उन्होंने कहा है कि अपने-अपने प्रान्तों में प्रादेशिक भाषाएँ ज्ञान विज्ञान और राजकाज की भाषाएँ बन जाएँगी, तभी हिन्दी सचमुच राष्ट्रभाषा बनेगी।

('इतिहास', दिल्ली, जुलाई-सितम्बर, १९५३)

मार्क्सवाद दूसरों की इच्छा के विरुद्ध किसी भाषा को अनिवार्य राजभाषा बनाने का विरोध हमेशा करता रहा है। लेकिन वह एक या अधिक भाषाओं के माध्यम द्वारा विभिन्न जातियों के परस्पर सम्पर्क कायम करने का समर्थक भी रहा है। लेनिन ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया था कि स्विट्जरलैंड की पार्लियामेंट में इटालियन-भाषी प्रतिनिधि फ्रेंच बोलते हैं और कहा था, 'ऐसा वे किसी बर्बर पुलिस क़ानून के कारण डंडे के भय से नहीं करते (स्विट्ज़रलैंड में ऐसा कोई क़ानून नहीं है) वरन् केवल इसलिए कि किसी भी जनतन्त्र के सभ्य नागरिक उस भाषा का व्यवहार करना उचित समझते हैं जिसे बहुसंख्यक जनता समझती हो।'

सोवियत संघ के राष्ट्रपति कालानिन ने ग़ैर रूसी जातियों में राजनीतिक प्रचारकों से कहा था, "यह बहुत जरूरी है कि ग़ैर-रूसी जातियों के सैनिक रूसी भाषा सीखें। रूसी भाषा सीखे बिना फौज में काम नहीं चल सकता। हमारे फौजी कायदे-क़ानून रूसी में होते हैं। इसी भाषा में फौजी हुक्मनामे जारी किये जाते हैं और रूसी में ही सिपाहियों की कमान होती है। सोवियत संघ में रूसी सभी जनों की सम्पर्क-भाषा है।"

लेनिन ने जातीय समस्या पर लिखते हुए कहा था, "आर्थिक सम्पर्क की आवश्यकताएँ स्वयं बता देंगी कि किसी देश में बहु-संख्यक लोगों को किस भाषा के सीखने से व्यापार आदि मे सुविधा होगी।" अंग्रेज़ो के आने से पहले भारत में व्यापार का अभाव न था। अनुभव से साबित हो गया है कि कौन-सी भाषा सीखने से बहु-संख्यक जनता को लाभ होता है। यह हिन्दुस्तानी जाति की भाषा है। सोलहवीं-सत्रहवीं सदियों में ही व्यापार की उन्नति होने पर यह भाषा देश के विभिन्न और सुदूर प्रदेशों तक पहुँच रही थी। न केवल भारत के व्यापारी यह भाषा सीखते थे वरन् विदेशी सौदागर भी, अंग्रेज़ी की श्रेष्ठता पर ध्यान न देकर, यही भाषा सीखते थे। यही कारण है कि इटली के यात्री मनुच्ची ने शिवाजी से हिन्दुस्तानी में बातचीत की थी। महाराष्ट्र और तजौर में हिन्दी में कविता रचनेवालों का अस्तित्व इस भाषा की लोकप्रियता का प्रमाण है। इसलिए यह समझना ग़लत है कि अंग्रेज़ी के बिना न राष्ट्रीय आन्दोलन होता, न राष्ट्रीय एकता होती। अंग्रेज़ों ने देश के एकीकरण में बाधा डाली; इस एकीकरण में हिन्दुस्तानी जाति की भाषा महत्त्वपूर्ण भूमिका पूरी कर रही थी। वैष्णव कवियों ने सांस्कृतिक स्तर पर जनता की एकता को दृढ़ किया। उन्नीसवीं सदी के समाज-सुधारकों और धर्म-प्रचारकों ने अपने कार्य के लिए इस भाषा को अपनाया। यह स्वाभाविक था; क्योंकि संख्या की दृष्टि से सम्भवत चीनी जाति को छोड़कर हिन्दुस्तानी जाति संसार की सबसे बड़ी जाति है। इस कारण भारत की विभिन्न जातियों में आर्थिक और सांस्कृतिक सम्पर्क के लिए उसका व्यापक व्यवहार हुआ।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी अनिवार्य राजभाषा का विरोध करती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह राष्ट्रीय एकता का मूल्य नहीं समझती, या उस एकता को दृढ़ नहीं करना चाहती। कम्युनिस्ट पार्टी पूरी तरह अनुभव करती है कि राष्ट्रीय स्वाधीनता की सुरक्षा और देश की आर्थिक प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न राज्यों और प्रदेशों की जनता की एकता और परस्पर भाईचारा दृढ़ किया जाय। स्वभावत: प्रश्न उठता है कि जिन लोगों की मातृ-भाषाएँ अलग-अलग हैं, वे किस भाषा में परस्पर बातचीत करें। भारत की ठोस परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए कहा जाएगा कि यह भाषा हिन्दी ही हो सकती है। यह प्रक्रिया अभी भी चालू है। इसलिए अपनी मदुरा कांग्रेस में कम्युनिस्ट पार्टी ने यह स्पष्ट कहा है कि अनिवार्य राजभाषा को लादने का विरोध करते हुए भी पार्टी चाहती है कि हिन्दी विभिन्न राज्यों की जनता तथा उनकी सरकारों के बीच परस्पर सम्पर्क का साधन अधिकाधिक बने। (१९५४-५५)
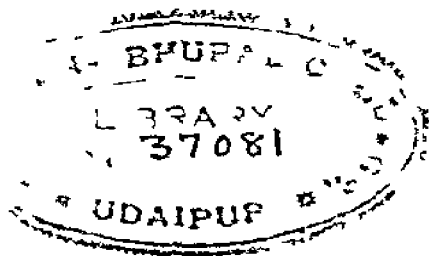
१४

अंग्रेजी के हिमायती

अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है और उसे इस पद पर बनाए रखने में भारत के राष्ट्रीय लेखकों ने काफी योग दिया है। उपन्यास, कविता, राजनीति, विज्ञान—किस पर वे नहीं लिखते? किस पर वे नहीं बोलते? अभी तक साहित्य और संस्कृति का अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास नहीं लिखा गया, लिखे गए हैं विश्व, महाद्वीपों, राष्ट्रों या जातियों के इतिहास। यदि कभी अंग्रेजों ने अपनी भाषा का महत्त्व पहचाना और उसका अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक इतिहास लिखा तो उन्हें इन भारत के अंग्रेज अदीबों को महत्त्वपूर्ण स्थान देना होगा।

पिछले दिनों एक अंग्रेजी पत्र के 'कॉलमनिस्ट'—'अदीब'—ने भारतीय भाषाओं के बारे में रोचक विचार प्रकट किए हैं। उनका कहना है कि अंग्रेजी की-सी व्यंजक शक्ति किसी भारतीय भाषा में नहीं है, इसलिए भावुकता छोड़कर अंग्रेजी की शरण आना ही उचित है। यह बात कितनी सही है, इसे 'अदीब' के साथ इन पंक्तियों का लेखक भी अनुभव कर रहा है। 'कालमनिस्ट' का पर्यायवाची हिन्दी में मिलता नहीं है, उधर अंग्रेजी शब्द को ज्यों-का-त्यों लिखने में खतरा यह है कि अपढ़ हिन्दीभाषी उसे अपभ्रंश बनाकर 'कलमनष्ट' न कर दें। हिन्दी के पाठक ऐसे जाहिल हैं कि उनमें से कुछ 'अदीब' का अर्थ अदब लगा लें, तो भी आश्चर्य नहीं। लेकिन इतना तो उन्हें मालूम ही होना चाहिए कि अदीब अंग्रेजी का शब्द नहीं है, हिन्दुस्तान का न सही, एशिया का तो है। अंग्रेजी के लेखक होते हुए भी अदीब ने अपने लिए एशियाई उपनाम चुना, इस पर दो महीने बाद दिल्ली में होनेवाले एशियाई लेखक-सम्मेलन को उन्हें बधाई देनी चाहिए।

हिन्दी की व्यंजना-शक्ति कितनी सीमित है, इसके उदाहरणस्वरूप 'अदीब' ने इलियट की दो पंक्तियों का अनुवाद दिया है—

हम खोखले हैं।

हमारे अन्दर भूसा भरा हुआ है।

महाकवि इलियट को नोबेल पुरस्कार मिल चुका है। अब हिन्दी के पाठक उनकी रचनाओं में ऐसे महान् विचार प्रकट होते देखकर आधुनिक अंग्रेजी कविता के बारे में क्या सोचेंगे, जो सोचेंगे, उससे भारत ब्रिटेन-मैत्री कैसे दृढ़ होगी और भारत में अंग्रेजी साहित्य-

रचना का भविष्य क्या होगा, इस तरह की समस्याएँ सभी चिन्तकों को चिन्तित कर सकती हैं। इलियट की महान् कल्पना—हम खोखले है; हमारे अन्दर भूसा भरा हुआ है !—'अदीब' के अनुसार हिन्दी के अनुवाद मे, सत्य बात कहते हुए भी हास्यास्पद हो जाती है। वास्तव में सत्य कभी-कभी हास्यास्पद हो ही जाता है, यद्यपि हिन्दी में हास्य-रस को उतना ही उच्च स्थान दिया गया है जितना अन्य रसों को। सहृदयों को तो साधारणीकरण द्वारा यहाँ भी रस-निष्पत्ति में आपत्ति न होगी !

इलियट-जैसे कवियों का उल्लेख करते हुए 'अदीब' ने पूछा है कि इनसे हिन्दी, बँगला या तमिल कैसे बुलवाएँ ? बहुत ही अदब से कहना चाहता हूँ कि बँगला या तमिल में बुलवाने की जरूरत क्या है ? राष्ट्रभाषा हिन्दी ही उन सब की बोलियों का प्रतिनिधित्व करने के लिए काफी है। फिर आपने हमारे प्रयोगवादियों की बोली नहीं सुनी ? इतने दिन इलियट के भूसे मे हिस्सा बँटाकर जो वत्स आनन्दमय स्वर में रँभाते रहे है, उनकी रागिनी पर आपने कान नही दिया ? माना कि 'हम खोखले हैं' और अंग्रेजी की मूल पंक्तियों का अनुवाद करना कठिन है, लेकिन उसी काव्य-परम्परा की इस एक पंक्ति का आप ही अंग्रेज़ी मे अनुवाद कर डालिए—"मैं ही मरघट का वह रिरियाता कुत्ता।"

'अदीब' ने क्या ही सुन्दर विचार प्रकट किया है—

A language is not a donkey ! भाषा गधा नहीं है। गधे तो भाषा के बोलने और लिखनेवालो मे होते हैं। भाषा को ठोकर मारो, चाहे पुचकारो, कोई लाभ न होगा। लेकिन यह क्रिया भाषा के बोलने या लिखनेवालो के साथ करो, अवश्य फल देगी। मेरी समझ में भारत में अंग्रेजी के लेखकों के प्रति हमारी राष्ट्रीय नीति पुचकारने की है और भारतीय भाषाओं के लेखको को ठोकर मारने की। मैं इस नीति की सफलता चाहता हूँ।

और इस नीति में बुरा क्या है ? भारत के लोगो ने अपनी भाषाएँ छोड़कर अभी तक अंग्रेज़ी नही अपना ली—जैसे कि जारशाही रूस के अभिजात वर्ग ने फ्रांसीसी भाषा अपना ली थी—इस सकीर्णता को क्या कभी क्षमा किया जा सकता है ? रूसी लेखक गोगल ने एक नगर की सम्भ्रान्त महिलाओं के बारे मे लिखा था—"रूसी भाषा का संस्कार करने और उसे ऊँचा उठाने के लिए उन्होने अपने शब्द-भण्डार के आधे शब्द बहिष्कृत करके उनकी जगह फ्रांसीसी शब्द रख लिये थे।"

आप स्वीकार करेंगे कि दिल्ली और बम्बई-जैसे नगरों के सज्जन—अर्थात् वास्तव में शिक्षित सज्जन—उन रूसी महिलाओं से बाज़ी मार ले गए है।

सम्भ्रान्त रूसी समाज के पाठकों के लिए गोगल ने लिखा था—"इनके मुँह से कभी कोई सभ्य रूसी शब्द सुनने को नही मिलता। फ्रांसीसी, जर्मन और अंग्रेजी शब्दावली का प्रवाह उनके मुँह से फूट पड़ता है। उनका उच्चारण भी तरह-तरह का होता है। वे फ्रांसीसी बोलते हैं तो नाक से, और थोड़ा तुतलाते हुए। अंग्रेज़ी बोलते हैं तो चिड़ियों की तरह, दुरुस्त चहचहाते हुए। और जब बोलते हैं तब चिड़ियों-जैसे दिखाई भी देते है।

वे उन पर हँसते हैं जो चिड़िया-जैसा मुँह नहीं बना पाते। वे रूसी में कुछ नहीं लिखते। उनकी दूरदर्शिता इससे प्रकट होती है कि वे ग्रीष्म-निवास के लिए रूसी शैली में झोंपड़ी बनवा लें।

लेकिन जब शिमला, मसूरी, नैनीताल आदि में अंग्रेज़ी शैली के 'कॉटेज' होने के कारण भारत के अन्तर्राष्ट्रीयतावादियों के लिए हिन्दुस्तानी ढंग की झोंपड़ी बनाना भी आवश्यक नहीं। यहाँ भी वे रूसियों से आगे हैं।

गोगोल की शिकायत है कि उस समय के सम्भ्रान्त विद्वान् रूसी भाषा के लिए स्वयं तो कुछ न करते थे लेकिन यह माँग अवश्य करते थे कि रूसी भाषा परिष्कृत और समृद्ध हो जाय, वह अपने परिष्कृत और समृद्ध रूप में आसमान से उतरे और उनका काम इतना ही हो कि जीभ निकालकर उसे गप कर लें।

लेकिन 'अशोक' की यह माँग नहीं है कि हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं को समृद्ध किया जाय। उनकी माँग यह है कि भारतीय भाषाओं के बदले अंग्रेज़ी में ही सारा काम होता रहे। यहाँ भी भारत के सम्भ्रान्त विद्वानों ने ज़ारशाही रूस के सम्भ्रान्त विद्वानों को पीछे छोड़ दिया है।

अशोक ने चेतावनी दी है कि अंग्रेज़ी का सहारा न लिया तो पुल टूटने लगेंगे और दूसरी-तीसरी चौथी पंचवर्षीय योजनाएँ असफल हो जाएँगी। यह चेतावनी एकदम सामयिक है। अभी हिन्दी को केन्द्रीय राजकाज की भाषा बनाने की बात ही चली है कि हैदराबाद राज्य में दो बार पुल टूट चुके हैं और जनता की भारी हानि हुई है। जब चर्चा का ही यह फल है तब व्यवहार में आने पर हिन्दी से कौन-सी क्षति न होगी, आप स्वयं अनुभव कर सकते हैं। इसी तरह योजनाओं के सम्बन्ध में भी। घूस और रिश्वत का बाज़ार गर्म है। योजना पूरी हो नहीं पाती कि घूस-गबन की जाँच के लिए समिति बैठाना आवश्यक हो जाता है। जब तक हिन्दी का पूर्ण बहिष्कार नहीं हो जाता, तब तक हर योजना को व्यवहार में लाने के साथ-साथ घूस और रिश्वत की जाँच के लिए पहले से ही एक समिति बना देनी चाहिए। इससे सिद्ध हो जायगा कि योजनाओं द्वारा पैसा खानेवालों का हिन्दी से कितना गहरा सम्बन्ध है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत का सम्मान बढ़ रहा है। राष्ट्रीय जीवन में भी अंग्रेज़ी का वैसा ही प्रभुत्व रहे तो अशिक्षा, बेकारी, बाढ़, भुखमरी आदि की समस्याएँ तुरन्त हल हो जाएँ और पं० नेहरू की गृहनीति में भी चार चाँद लग जाएँ। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में पंचशील का शब्द ज़रूर चल पड़ा है। यह 'पंचशील' या और किसी तरह का शील उन अंग्रेज़-अमरीकियों को पसन्द नहीं है, जिनकी अपनी भाषा अंग्रेज़ी है। इस शब्द को त्याग देना चाहिए। इसके सिवाय आपने ध्यान दिया होगा कि रूस के प्रधानमंत्री आए थे तो अपने साथ हिन्दी बोलनेवाला दुभाषिया लाए थे। स्पष्ट है कि साम्यवादी देशों के राजनीतिज्ञ अंग्रेज़ी के बदले हिन्दी को प्रश्रय देते हैं। इसलिए जो लोग राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत द्वारा अंग्रेज़ी के बदले हिन्दी के व्यवहार पर ज़ोर देते हैं, वे

जान में या अनजान में रूसी षड्यन्त्र के सहायक बन जाते हैं।

'अदीब' की घ्राण-शक्ति सराहनीय है कि उन्हें हिन्दी में मध्यकालीनता की गन्ध मिल गई। जिनकी घ्राण-शक्ति क्षीण हो गई है, वे हिन्दी को आधुनिक भाषा समझने लगे हैं। यद्यपि विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकें हिन्दी में काफ़ी निकली हैं, लेकिन वैज्ञानिकों ने उसमें मौलिक पुस्तकें तो नहीं ही लिखी। इसलिए हिन्दी और उसी की तरह अन्य भारतीय भाषाओं में भी मध्यकालीनता मिले, तो आश्चर्य क्या? अब अंग्रेज़ी को देखिए। उसके द्वारा अणु बम बनाए जाते हैं जिनसे विश्वशान्ति कायम है और भंग भी होगी तो जन-संख्या की समस्या हल हो जाएगी। हमारा विचार है कि प्राचीन भारत में गणित ने जो प्रगति की थी, वह भी अंग्रेज़ी के कारण। आर्य भट्ट ने अवश्य नेसफील्ड ग्रामर पढ़ी होगी। दशमलव-ज्ञान का श्रेय भारत को दिया जाता है, लेकिन उस श्रेय में नेसफील्ड का भी हाथ है, यह बहुतों को नहीं मालूम। पाणिनि ने अपना व्याकरण लिखा और आधुनिक भाषा-विज्ञान के विकास में उस व्याकरण की महत्त्वपूर्ण भूमिका स्वीकार की जाती है। दुर्भाग्य से पाणिनि पर नेसफील्ड के प्रभाव की खोज किसी भी डॉक्टरेट के उम्मीदवार ने अभी तक नहीं की। जर्मनी, इटली, फ्रांस, रूस आदि देशों में जो वैज्ञानिक प्रगति हुई है, उसका कारण यह है कि वहाँ की भाषाएँ अंग्रेजी से उत्पन्न हुई हैं। न उत्पन्न हुई होंगी, तो वहाँ का सारा वैज्ञानिक कार्य अंग्रेज़ी के माध्यम से होता होगा। न होता होगा, तो वह विशुद्ध वैज्ञानिक कार्य भी न होगा। जिस तरह भी विचार करें, आप यह स्वीकार किए बिना न रहेंगे कि संसार में वैज्ञानिक प्रगति अंग्रेज़ी द्वारा ही हुई है। सुना है कि मंगल नक्षत्र में जो प्राणी रहते हैं, वे भी अंग्रेज़ी बोलते हैं। अमरीकी खगोल-विशारदों ने रेडियो पर उनसे बातचीत की है। इस प्रकार अंग्रेज़ी का महत्त्व विश्वव्यापी ही नहीं, सृष्टिव्यापी है।

अस्तु! 'अदीब' के इस निष्कर्ष से सहमत होना ही होगा कि किसी राष्ट्र के जीवन में दस, सौ या हज़ार वर्ष भी क्या है, सोचने-विचारने और आगा-पीछा देखने के लिए समय की कमी नहीं है। तब तक आइए, हम इस मन्त्र का जप करें—

हम खोखले हैं!
हम में भूसा भरा हुआ है!

(१९५६)

१५

सोवियत क्रान्ति और भाषा-समस्या

आज से चालीस साल पहले संसार की महान् समाजवादी क्रान्ति की विजय ने पिछड़े हुए बहुजातीय देशों के सामने सामाजिक और सांस्कृतिक विकास का एक नया आदर्श रखा। यह विकास पिछड़ी हुई जातियों की भाषाओं के माध्यम से ही सम्भव था। इसलिए सामाजिक विकास की समस्याओं के साथ समाजवादी क्रान्ति ने भाषा-समस्या हल करने का भी एक नया मार्ग हमें दिखलाया।

अभी सौ साल न बीते थे जब रूस का अभिजात वर्ग रूसी को पिछड़ी हुई भाषा मानता था। वह अपने सांस्कृतिक जीवन में अधिकतर फ्रांसीसी भाषा का व्यवहार करता था। हमारे देश में भी अनेक विद्वान् हिन्दी ही नहीं, भारत की सभी भाषाओं को पिछड़ी हुई मानते हैं। इसलिए केन्द्रीय राजकाज के लिए वे बहुत दिनों तक अंग्रेजी का व्यवहार उचित समझते हैं। रूस के नेताओं ने अपने राजनीतिक पत्र फ्रांसीसी के बदले रूसी में ही प्रकाशित किये थे। रूसी उनके राजनीतिक जीवन की भाषा थी। ग़ैर-रूसी इलाकों के नेता वहाँ की भाषाओं का व्यवहार करते थे। इसलिए रूसी को पिछड़ी हुई भाषा मानकर संक्रमण काल के लिए अनेक वर्षों तक फ्रांसीसी भाषा के व्यवहार का प्रस्ताव उन्होंने नहीं रखा। रूसी जनता के लिए उन्होंने तुरन्त रूसी भाषा को राज-काज की भाषा घोषित कर दिया। आज तो लोग मानते हैं कि रूसी संसार की समृद्ध भाषाओं में से है लेकिन यह स्थिति १९१७ में न थी। तोल्स्तोय, चेखव, गोर्की आदि कुछ उपन्यासकार अवश्य हो गए थे, जैसे भारत में रवीन्द्रनाथ, भारती, प्रेमचन्द, शरत्चन्द्र, इकबाल आदि कवि और कथाकार हो गए हैं। लेकिन फ्रांस, जर्मनी और ब्रिटेन की तुलना में वैज्ञानिक शिक्षा की पुस्तकें उसमें कहाँ थीं? यह तर्क दिया जा सकता था कि किसी भी विषय की समुचित शिक्षा के लिए रूसी भाषा पर्याप्त नहीं है, इसलिए जब तक वह समृद्ध न हो जाय तब तक केन्द्रीय राजकाज फ्रांसीसी में होना चाहिए। लेनिन के नेतृत्व में स्वाभिमानी रूसी जनता ने अपनी पिछड़ी कहलानेवाली, अभिजात वर्ग द्वारा उपेक्षित भाषा में ही अपना सारा राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्य आरम्भ किया। भारत में जहाँ भाषा और शिक्षा की हज़ार वर्ष पुरानी परम्परा है (सिन्धु घाटी के जन भी लिखना-पढ़ना जानते थे) वहाँ आज यह दयनीय स्थिति है कि देश की सभी भाषाओं को पिछड़ा हुआ मानकर अनेक वर्षों के लिए अंग्रेजी के व्यवहार का समर्थन किया जाता है।

खैर, रूसी में तो रवीन्द्रनाथ, प्रेमचन्द की तरह तोल्स्तोय और गोर्की जैसे विश्व-विख्यात लेखक थे। वैज्ञानिक शब्दावली में फ्रेंच के मुकाबले में रूसी भले ही पिछड़ी रही हो, कथा-साहित्य में हिन्दी और बँगला की तरह रूसी समृद्ध थी। किन्तु बेलोरूसी, उक्रैनी, जार्जियाई आदि भाषाओं में तो इतने बड़े नाम न थे। सोवियत राज्यसत्ता ने उन्हें भी अपने-अपने क्षेत्र में राजकाज की भाषा बनाया। इनसे भी गई-गुजरी अजरबैजनी, ताजिक, कजाक आदि भाषाएँ थीं जिनमें मौखिक साहित्य ही अधिक प्रचुर था। ये भी राजकाज की भाषा बनीं। इनसे भी 'पिछड़ी हुई' चुक्ची, बुर्यात, मंगोल, चेरकास, समोयेद आदि भाषाएँ थीं जिनकी स्थिति भारत के अनेक आदिवासी जनों की भाषाओं से भी गई-बीती थी। इनको भी विकसित होने का मौका मिला। आज उनमें व्याकरण, कोश, विज्ञान, कथा-साहित्य, काव्य—सभी-कुछ है। हमारे देश में भाषा-समस्या के विवेचन में आदिवासियों की भाषाओं की चर्चा करने का अभी चलन नहीं है।

सोवियत संघ में कहीं भी यह दलील नहीं दी गई कि भाषाएँ पिछड़ी हुई हैं, इसलिए चालीस साल तक, उनके व्याकरण और शब्दकोश तैयार होने तक, उनकी जगह रूसी भाषा का व्यवहार होगा। भाषा जनता के लिए है, जनता भाषा के लिए नहीं है। हमारे देश में जनता की आवश्यकताओं को देखकर भाषा-समस्या हल नहीं की जाती; अंग्रेजी से हमारे जो काम हो जाते हैं, वे भारतीय भाषाओं से होंगे या नहीं, यह समस्या पहले आती है। पारिभाषिक शब्दावली इस तरह गढ़ी जाती है मानो वह जनता के काम आने के लिए नहीं, उसकी जीभ और तालू का व्यायाम कराने के लिए है! पूंजीवादी और समाजवादी दृष्टिकोणों में यही अन्तर है। यदि भारत में साधारण जनता शासन के कामों में भाग ले, यदि उसके अपने जन-संगठन राज्यसत्ता का वास्तविक आधार हों, अर्थात् यदि इस जनवादी देश में जनता का राज सचमुच हो तो क्या यह कल्पना की जा सकती है कि एक दिन भी यहाँ अंग्रेजी से काम चलेगा?

नवम्बर क्रान्ति ने मानवता के उद्धार और विकास का नया मार्ग दिखलाया; उस मार्ग पर चलकर नवनिर्माण का आदर्श हमारे सामने रखा। इस निर्माण में एक वर्ग दूसरे का शोषण और उत्पीड़न नहीं करता; उसमें एक जाति 'फ्री वर्ल्ड' के लुटेरों की तरह दूसरी जाति को दबाकर उसकी भाषा और संस्कृति को पैरों तले नहीं रौंदती। मानव-समाज जाति और वर्गों के रूप में ही संगठित हुआ है। वर्ग मिट जाने पर भी जाति बनी रहती है; इसलिए वर्ग-शोषण मिट जाने पर किसी सीमा तक जातीय उत्पीड़न की सम्भावना रहती है। सोवियत संघ ने सभी जातियों में परस्पर समानता, दूसरे की स्वाधीनता की रक्षा, उसके घरेलू मामलों में दखल न देने और एक-दूसरे की सहायता करने का आदर्श हमारे सामने रखा है। समाजवादी देशों की भाषा-सम्बन्धी नीति इसी मानववादी दृष्टिकोण का परिणाम है। भारत में इस दृष्टिकोण को अपनाकर हम अपनी भाषा-समस्या हल कर सकते हैं और अंग्रेजी की गुलामी से छुटकारा पा सकते हैं।

(१९५७)

१६

अंग्रेजी-प्रेमी भारतवासी

अंग्रेजी भाषा के आदि कवि चौसर की प्रसिद्ध पुस्तक 'कैण्टरबरी टेल्स' के 'प्रोलोग' (भूमिका) में एक पशवार ('समनर') है जिसे लैटिन से बहुत प्रेम है। अदालत की कार्यवाही के सिलसिले में वह लैटिन के शब्द सुना करता है। इसलिए कुछ लैटिन शब्द उसे भी याद हो गए हैं। वैसे तो वह लोगों से अंग्रेजी में बातें करता है लेकिन जब शराब के नशे में होता है तब लैटिन छोड़कर बात नहीं करता।

अंग्रेजी राज की कृपा से कुछ लोगों ने अंग्रेजी भाषा सीखी है। वैसे तो वे अपनी भाषा में भी बात कर लेते हैं लेकिन जब हिन्दी को केन्द्रीय राजभाषा बनाने का सवाल उठता है, तब वे अंग्रेजी छोड़कर बात नहीं करते।

ये अंग्रेजी-प्रेमी भारतवासी अंग्रेजों से, विशेषकर अंग्रेजी साहित्य से, यह सीख सकते थे कि अपने देश और अपनी भाषा से कैसे प्रेम करना चाहिए। इनका मुख्य तर्क है कि अंग्रेजी समृद्ध है विश्वभाषा है, हिन्दी दरिद्र है, चालीस फीसदी या उससे भी कम की भाषा है। थोड़ी देर के लिए हम यह तर्क स्वीकार कर लेते हैं। यदि इस मनोवृत्ति के लोग इंग्लैंड में होते तो शायद आज वहाँ अंग्रेजी को भी राजभाषा का पद न मिला होता, लोग 'समनर' की तरह लैटिन में ही राजकाज करते होते।

एक युग ऐसा भी था जब अंग्रेजी आज की हिन्दी से कहीं अधिक दरिद्र थी और अंग्रेजी जितना हिन्दी से बढ़कर आज है, उससे कहीं ज्यादा अंग्रेजी के मुकाबले में लैटिन बढ़कर थी। लैटिन यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा थी, वह ईसाइयों के संगठित धर्म-संघ की भाषा थी। सत्रहवीं सदी तक यूरोप और इंग्लैंड के लोगों में लैटिन द्वारा परस्पर कूटनीतिक सम्पर्क कायम रहता था और अन्तर्राष्ट्रीय वादविवाद लैटिन में होता था। इंग्लैंड में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो अंग्रेजी को क्षणभंगुर और लैटिन को स्थायी भाषा मानकर उसी में, अथवा उसमें भी अपने शाश्वत मूल्यों वाले ग्रन्थ रचते थे। लैटिन ही नहीं, चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदी में फ्रांसीसी भाषा अंग्रेजी से अधिक विकसित और समृद्ध थी। इंग्लैंड में ऐसे साहित्यकार भी थे जो फ्रांसीसी में रचना करके अमर होना चाहते थे। किन्तु इतिहास ने लैटिन और फ्रांसीसी में लिखे हुए इनके ग्रन्थों को कूड़े के ढेर में फेंक दिया जहाँ वे अब केवल अनुसंधानकर्ताओं के काम आते हैं।

अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान पर शासन किया; अंग्रेजों के देश पर भी रोमनों और फ्रांसीसियों ने शासन किया था। किसी समय इंग्लैंड के अभिजात वर्ग पर फ्रांसीसी भाषा का वैसा ही रौब गालिब था जैसा आज के समनर-गोत्रीय भारतवासियों पर अंग्रेज़ी का है। किन्तु लैटिन या फ्रांसीसी को अधिक समृद्ध मानकर अंग्रेज जनता ने उसे राष्ट्रभाषा न मान लिया। उसके साहित्यकारों ने अपनी भाषा को समृद्ध किया और उसे यूरोप की नवीन और प्राचीन भाषाओं की पाँति में सम्मानप्रद आसन दिलाया। अंग्रेज़ी समृद्ध होने के बाद राजभाषा नहीं बनी; राजभाषा होने के बाद वह समृद्ध हुई। वह लैटिन और फ्रासीसी भाषाओं की तुलना में समृद्ध हुई जिनके हिमायती उसके उचित आसन से उसे हटाना चाहते थे।

अंग्रेज शासकों ने यहाँ की जनता के आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास को रोका। उन्होंने यहाँ की भाषा के ऊपर साम्राज्ञी की तरह अंग्रेज़ी को प्रतिष्ठित किया। अंग्रेज़ी भाषा को अंग्रेज़-प्रेमी भारतवासियों के पूर्वजों ने विधान-सभा में प्रस्ताव पास करके स्वीकार न किया था। वह अग्रेज़ आततायियों द्वारा लादी हुईभाषा थी। संसार में अंग्रेजी का बोलबाला मिल्टन और शेली के कारण नही हुआ, उसका प्रसार करनेवाले क्लाइव और डलहौजी की बिरादरी के थे। उत्तरी अमरीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड आदि देशों में अंग्रेजी का प्रसार करनेवाले वे आक्रमणकारी थे जिन्होने वहाँ के आदिवासियों के नरमेध रचाये थे, जिनका मिल्टन और शेली से इतना ही सम्बन्ध था कि दोनों ही अंग्रेजी बोलते थे (कैसी अंग्रेज़ी बोलते थे, यह प्रश्न छोड़ दीजिए)। यदि समृद्धि के बल पर कोई भाषा अंग्रेजी की तरह 'विश्वभाषा' बनती तो पाणिनि और कालिदास की भाषा मृत भाषा न कहलाती; दान्ते, गेटे, तोल्स्तोय की भाषाएँ भी विश्वभाषा बन जातीं। अंग्रेज़ी के समर्थक उसके प्रसार के लिए मिल्टन और शेली का नाम लेते हैं; उस ब्रिटिश साम्राज्य की कहानी भूल जाते है जिसमें कभी सूर्यास्त न होता था और अर्नेस्ट जोन्स के शब्दों में जिसकी धरती पर कभी रक्त न सूखता था।

अंग्रेजी-प्रेमी भारतवासी अपनी प्रिय विश्वभाषा के पक्ष में जितनी दलीलें देते हैं उनमें एक भी ऐसी नहीं है जिसे पहले 'लिबरल' राजनीति-विशारदों ने न दी हो। ये 'लिबरल' भद्रजन अंग्रेजी राज और अंग्रेज़ी भाषा के मामले में अत्यन्त उदार थे, हिन्दुस्तानी जनता के राज और हिन्दी भाषा के बारे में अत्यन्त अनुदार थे। वे अंग्रेज़ी राज को प्रगतिशील मानते थे, अंग्रेजों को भारतीय अराजकता दूर करके यहाँ न्याय और शान्ति की व्यवस्था कायम करनेवाला मानते थे। कमी इतनी ही थी कि अंग्रेज़ उच्च पदों पर इन्हें नियुक्त न करते थे। भारतीय जनता के क्रान्तिकारी आन्दोलन से त्रस्त ये उदारपन्थी महानुभाव नौकरियों में रियायतें पाने के लिए परम प्रगतिशीश अंग्रेज शासकों के सामने प्रार्थना-पत्र पेश करने में महान् गौरव अनुभव करते थे। उन्हीं की परम्परा निबाहनेवाले ये वर्तमान 'लिबरल' है जिनके लिए अंग्रेजी के राजभाषा न रहने से राष्ट्र छिन्न-भिन्न हो जायगा, देश में गृहयुद्ध छिड़ जायगा, हिन्दीवाले सब नौकरियाँ

हथिया लेंगे, विश्व-संस्कृति से आदान-प्रदान के द्वार बन्द हो जाएँगे, इत्यादि। अंग्रेजों के चले जाने से बहुसंख्यक हिन्दू अल्पसंख्यक मुसलमानों और अछूतों को खा डालेंगे—राउंड टेबुल कान्फ्रेंसों में जैसे ब्रिटिश प्रधानमन्त्री यह दलील पेश करते थे, वैसे ही स्वाधीन भारत के ये 'लिबरल' अंग्रेजी के बारे में कहते हैं, अंग्रेजी गई नहीं कि हिन्दीवाले सारी नौकरियाँ हथिया लेंगे, उत्तरवाले दक्षिण पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लेंगे, अहिन्दी भाषाओं का नाम निशान मिट जायगा। यह बात नहीं है कि राउंड टेबुल कान्फ्रेंसों के दिनों में सम्प्रदायवादी रूढ़िवादी हिन्दू नहीं थे जो अछूतों को गुलाम बनाकर रखना चाहते, जो मुसलमानों को अपना शत्रु समझते थे। किन्तु इनसे अछूतों और मुसलमानों की रक्षा करने के लिए यह आवश्यक न था कि हिन्दू अहिन्दू सभी अंग्रेजों की शरण आते। आज भी ऐसे हिन्दी प्रेमी हैं जो अहिन्दी भाषाओं को दबाकर हिन्दी को वही स्थान देना चाहते हैं जो अंग्रेजी को प्राप्त था। इनसे अहिन्दी भाषाओं की रक्षा करने का मार्ग यह नहीं है कि हम अंग्रेजी की शरण में जाएँ।

अंग्रेजी को राजभाषा बनाये रखने के पक्ष में उदारपन्थियों की दलीलों का खंडन देशभक्त भारतवासियों ने ही न किया था, वरन् उनका खंडन भारत प्रेमी अंग्रेजों ने भी किया था। उदाहरण के लिए, उदार-हृदय सी० एफ० ऐण्ड्रूज ने 'द ट्रू इंडिया' नाम की अपनी पुस्तक में लिखा था—"अभी तक अंग्रेजी भाषा को समझनेवाले मुट्ठी-भर बुद्धिजीवी ही हैं किन्तु यह उभरती हुई साधारण भाषा, जो 'हिन्दुस्तानी' कहलाती है, उत्तर और मध्यभारत में पचीस करोड़ जनता द्वारा आसानी से समझी जाती है, दक्षिण में भी जहाँ द्रविड़ भाषाएँ बोली जाती हैं उत्तर की इस भाषा से लोग थोड़ा-थोड़ा परिचित हो गए हैं। यहाँ मद्रास प्रेसीडेन्सी के इस तिरुपत्तूर आश्रम में जब मैं लोगों की बातचीत सुनता हूँ तो उत्तर के उन संस्कृत शब्दों को पहचान लेता हूँ जो तमिल में घुल मिल गए हैं। कल एक व्यक्ति मुझसे मिलने आया था उससे जब मैंने अंग्रेजी में बातचीत करने की कोशिश की तो उसने कहा, 'कृपा करके हिन्दुस्तानी में बात कीजिए'। और जब मैं उस भाषा में बोला तो वह मेरी बात आसानी से समझ गया।"

सी० एफ० ऐण्ड्रूज की यह पुस्तक १९३९ में प्रकाशित हुई थी, तब से दक्षिण में हिन्दी पढ़नेवालों और हिन्दी समझनेवालों की संख्या बहुत बढ़ गई है। अंग्रेजी पढ़नेवालों और अंग्रेजी समझनेवालों की संख्या उसी अनुपात में नहीं बढ़ी। अंग्रेजी के समर्थक अब भी मुट्ठी-भर बुद्धिजीवी ही हैं।

भारत-प्रेमी ब्रिटिश महिला ऐनी बेसेंट ने 'इंडिया बाउण्ड और फ्री' में राजभाषा अंग्रेजी के विरुद्ध अपनी अन्य किसी रचना से यह वचन उद्धृत किया था—'जब मैकाले ने अंग्रेजी शिक्षा पर जोर दिया था, तब वह भारत के महान् साहित्य को घृणा की दृष्टि से देख रहा था। उसने यह न अनुभव किया था कि अंग्रेजी शिक्षा पर जोर देकर वह विशाल जनता को अज्ञान के हवाले कर रहा था। रोटी के बदले वह पत्थर दे रहा था। लड़के शिक्षा पाते थे और अपने देश की श्रेष्ठ कृतियों से अपरिचित रहते थे। वे अंग्रेजी में

वक्तृता झाड़ सकते थे, अपनी मातृभाषा में नहीं। किसी देश में राष्ट्रीयता के भाव नष्ट करने का इससे अधिक कुशल उपाय नहीं है कि एक विदेशी भाषा को उच्च वर्गों की भाषा, क़ानून और अदालतों की, कॉलेजों की भाषा बना दिया जाय और सरकारी नौकरियों के लिए उस विदेशी भाषा की जानकारी आवश्यक कर दी जाय।"

ऐनी बेसेंट का कथन जितना युक्तिपूर्ण तब था, उतना ही आज भी है। अंग्रेज़ों के जाने के बाद साम्राज्यवाद से भारतीय जनता का अन्तर्विरोध समाप्त नहीं हो गया। इन्दोनेशिया, पाकिस्तान, मिस्र, सीरिया आदि एशिया के देशों में साम्राज्यवाद अपने मित्रों की तलाश में है जिनकी सहायता से वह इन देशों के आन्तरिक जीवन में हस्तक्षेप करे। इसलिए भारतीय जनता की राष्ट्रीय एकता को दृढ़ करने की ओर हमें सचेत रहना चाहिए।

ऐनी बेसेंट ने 'इंडिया: बाउण्ड और फ्री' में उपर्युक्त कथन उद्धृत करने के बाद लिखा था, "मैं यही कहना चाहूँगी कि इंग्लैंड ने बहुत कुछ, यद्यपि पूरी तरह नहीं, उसी शिक्षा-नीति का अनुसरण किया था जिसे पोलैंड में रूस ने लागू किया था। स्कूलों में पोलिश भाषा में शिक्षा देना बन्द करा दिया गया था और वहाँ रूसी का वैसे ही प्रयोग होता था जैसे यहाँ अंग्रेज़ी का। सभी देशों के तानाशाह एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं।"

आज उसी तरह कुछ अंग्रेज़ी-प्रेमी सज्जन शिक्षा-संस्थाओं में भारतीय भाषाओं की तुलना में अंग्रेज़ी को उच्चतर स्थान देना चाहते हैं। इससे भारतीय भाषाओं के विकास में कितनी क्षति होती है, इसकी ओर वे ध्यान नहीं देते। अंग्रेज़ी भाषा के आधुनिक 'लिबरल' हिमायतियों से ऐण्ड्रूज़ और बेसेंट के विचारों की तुलना कीजिए तो पता चल जायगा कि इन भद्रजनों का दृष्टिकोण कितना प्रतिक्रियावादी है। राज्यसत्ता जनता के लिए है, जनता राज्यसत्ता के लिए नहीं है, यह सत्य उनकी समझ से परे है। वे राज्यतन्त्र को उसी पुराने नौकरशाही ढंग से चलाना चाहते हैं जिसमें नौकरशाह जनता के नौकर न होकर उसके शाह होते थे। यह युग जनतन्त्र का है; जनता अधिक-से-अधिक शासनतन्त्र में भाग लेगी। शासनतन्त्र जनता के उत्पीड़न का मन्त्र न होकर उसकी सेवा का माध्यम बनेगा। इस शासनतन्त्र में जनता अपनी भाषाओं द्वारा और केन्द्रीय राजकाज में हिन्दी द्वारा ही भाग ले सकती है। अंग्रेज़ी चाहे जितनी समृद्ध हो और हिन्दी चाहे जितनी दरिद्र हो, राजभाषा के रूप में अंग्रेज़ी का भविष्य अन्धकारमय है, हिन्दी का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल। अंग्रेज़ी के समर्थक इतिहास की प्रगति से युद्ध कर रहे हैं; इसलिए उनकी पराजय निश्चित है।

राजभाषा की समस्या किसी भाषा के समृद्ध होने की कसौटी पर न तो अन्यत्र हल हुई है, न यहाँ होगी। सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की आवश्यकताओं ने अनेक बुद्धिजीवियों को भारतीय भाषाएँ अपनाने पर पहले भी बाध्य किया था, आगे भी करेंगी। इन आवश्यकताओं में कुछ अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं ने इजाफा किया है। राष्ट्रीय आत्म-सम्मान का निर्वाह शायद देश में इतना आवश्यक नहीं होता जितना विदेश में। अखबारों

के अनुसार स्वाधीन भारत के प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने जनवरी में प्राग्ज्योतिषपुर में कहा था, "मैं अंग्रेजी का पक्षपाती हूँ। मैं चाहता हूँ कि न केवल भारत में अंग्रेजी पढ़ी जाय वरन् उसकी शिक्षा का और भी प्रसार हो। लेकिन मैं इसकी कल्पना नहीं कर सकता कि कोई अंग्रेजी को भारत की राष्ट्रभाषा कहे। मैं चाहता हूँ कि लोग इस बात पर ध्यान दें। यह कहना कि अंग्रेजी एक राष्ट्रीय भाषा है, सत्य के विरुद्ध है। यह झूठ है। मैं नहीं समझता कि यह दलील कैसे दी जा सकती है। यह बात विचारणीय है कि हम कब तक अंग्रेजी का व्यवहार करते हैं या व्यावहारिक कारणों से अंग्रेजी और हिन्दी दोनों को काम में लाते हैं।"

इसके बाद अखबारी विवरण के अनुसार "श्री नेहरू ने कहा कि विदेश मन्त्री की हैसियत से अन्य देशों को कागज-पत्र भेजते हुए वह बड़े असमंजस में पड़े कि जिन देशों में अंग्रेजी नहीं बोली जाती, उन्हें अंग्रेजी में लिखे हुए कागज-पत्र कैसे भेजे जाएँ। दुनिया अंग्रेजी बोलनेवाले देशों से बड़ी है। बड़े असमंजस की बात थी। उन्होंने अंग्रेजी में कागज भेजना बन्द कर दिया। अब वह सदा उन्हें हिन्दी में भेजते थे, उनकी सुविधा के लिए अंग्रेजी में अनुवाद साथ रहता था लेकिन मूल हिन्दी में होता था। जब उन्हें रूस या चीन से कोई खरीता मिलता था, तो वह हमेशा रूसी या चीनी में होता था। हो सकता है, साथ में अंग्रेजी अनुवाद भी रहता हो। कुछ भी हो, वह कह यह रहे थे कि दुनिया के सामने भारत में यह घोषित करना बड़ी अजीब बात थी कि भारत की राष्ट्रभाषा अंग्रेजी है। इस 'कल्पना से ही मेरा सिर चकरा उठता है।'"

अंग्रेजी-प्रेमियों के दुर्भाग्य से दुनिया अंग्रेजी भाषी देशों से बहुत बड़ी है। इस अंग्रेजी विहीन दुनिया में साठ करोड़ आबादी का महादेश चीन है। इसमें संसार के छठे भाग में फैला हुआ समाजवादी सोवियत देश है। सोवियत संघ, चीन और भारत में जो भाषा न चले, उसे विश्वभाषा नहीं कहा जा सकता। इन तीन देशों में एशिया और यूरोप का अधिकांश भाग घिरा हुआ है। इनके साथ अफ्रीका और दक्षिण अमरीका को मिला लीजिये, यूरोप से जर्मनी, इटली, फ्रांस, स्पेन और पूर्वी यूरोप के देशों को भी गिन लीजिये तो पता चल जाएगा कि अंग्रेजी का विश्वभाषा होना कितना सार्थक है।

अस्तु, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही तरह के कारणों से अंग्रेजी को राजभाषा का पद छोड़ना होगा। जो लोग भारतीय जीवन के कल्पित या वास्तविक अन्तर्विरोधों के कारण अंग्रेजी को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित रखना चाहते हैं, वे लिबरलों, अंग्रेज-भक्तों, अल्पसंख्यकों के इन तथाकथित प्रतिनिधियों का अनुसरण करते हैं जो अंग्रेजी राज को आवश्यक बनाकर, अंग्रेजों को न्यायकर्ता बनाकर पराधीनता के बन्धनों को दृढ़ करते रहे थे। भारतीय जनता की राष्ट्रीय भावना इन भारतवासियों के अंग्रेजी-प्रेम पर अवश्य विजय पायेगी।

(१९५८)

१७

बहुजातीय राष्ट्रीयता और राष्ट्रभाषा हिन्दी

विश्वविद्यालयों की शिक्षा और राष्ट्रीय एकता के सम्वन्ध में भाषण करते हुए समाचारपत्रों के अनुसार दिल्ली में श्री हुमायूँ कवीर ने कहा कि हिन्दी-भाषी लोग जव हिन्दी को राजभाषा वनाने पर जोर देते है, तव कम-से-कम अंशत: उनके मन में यह कामना रहती है कि वे सार्वजनिक जीवन और नौकरियों के मामले मे अहिन्दी-भाषियों के मुक़ावले में फायदे में रहेंगे।

देश ने अव इतनी प्रगति कर ली है कि कोई भी माँग जातीय स्वार्थ से परे नही समझी जा सकती ! हिन्दीभाषी जनता हिन्दी के राजभाषा वनाने की माँग करती है तो यह भी नौकरियाँ पाने के लिए ! अहिन्दी क्षेत्रों मे हिन्दी के एक प्रचारक महात्मा गांधी भी थे। पता नहीं, नौकरी पाने की किस छिपी हुई कामना से उन्होंने हिन्दी को राष्ट्रभाषा वनाने के लिए प्रचार किया था !

श्री कवीर ने कहा कि देश की सभी मुख्य भाषाओं को समानता का दर्जा मिले तो परस्पर शंका और संघर्ष की भावना दूर हो जाय। यह वहुत नेक सलाह है और हम उसका समर्थन करते हैं। किन्तु विभिन्न भाषाओं के वोलनेवालों में जो संघर्ष और मतभेद दिखाई देता है, उसका कारण भाषा ही नही है, हिन्दी भाषा तो और भी नही। पिछले दिनों आंध्र प्रदेश में जातीय एकीकरण के लिए प्रवल आन्दोलन उठा। इसका कारण भाषा न थी; हिन्दी भाषा और भी नहीं। वम्वई को लेकर गुजरात-महाराष्ट्र में, अलग राज्य (अथवा प्रान्त) वनाने की माँग को लेकर केन्द्रीय सत्ता और इन प्रदेशों की जनता में जो तनातनी अभी तक वनी हुई है, उसका कारण हिन्दी नही है। इस तरह के और वहुत-से झगड़े हैं जिनका सम्वन्ध जातीय प्रदेशों के एकीकरण, सीमा-निर्धारण, उद्योगीकरण आदि से है। इन सारे मतभेदों को भाषा-सम्वन्धी विवाद के खाते में नहीं डाला जा सकता। इनसे स्पष्ट है कि देश में राष्ट्रीय एकता को कमजोर करनेवाले जातीय मतभेद के जो चक्र चल रहे हैं, उनसे हिन्दी का वहुत कम सम्वन्ध है। राष्ट्रीय एकता के लिए खतरा हिन्दी से नहीं है वरन् इस जातीय विद्वेष और अलगाव की भावना से है। तमिलनाड में तमिल राजभाषा है किन्तु वहाँ का एक दल इस प्रदेश को भारत से अलग करने की माँग करता है। उत्तर में कश्मीर और दक्षिण में तमिलनाड—इन दो प्रदेशों में कुछ दलो का

भारत में अलगाव के नारे लगाना परिस्थिति की गम्भीरता की सूचना देता है।

यह बात सही है कि एक आदर्श जनतन्त्र में किसी भाषा को विशेषाधिकार न मिलने चाहिए। किन्तु यह बात सही नहीं है कि हिन्दी को राजभाषा बनाने के विरोधी अंग्रेजी के विशेषाधिकारों के बारे में चुप रहें, उन्हें सिर झुकाकर स्वीकार कर लें, अंग्रेजी को अन्तर्राष्ट्रीय और विश्व भाषा कहकर उन विशेषाधिकारों की रक्षा करें, इसमें उनके जनवादी अन्तःकरण को जरा भी कष्ट न हो किन्तु हिन्दी के विशेषाधिकार प्राप्त करने की सम्भावना मात्र से वे आसमान सिर पर उठा लें। यह मनोवृत्ति मुस्लिम लीग के उन नेताओं की याद दिलाती है जो बहुसंख्यक हिन्दुओं के शासन भय से अंग्रेजी राज की शरण लेते थे।

भारत एक बहुजातीय राष्ट्र है। राष्ट्रीयता और बहुजातीयता—इन दो पक्षों में से एक को भी भुलाना घातक होगा। जो लोग राष्ट्र का यह अर्थ लगाते हैं कि उसमें एक ही भाषा बोलनेवाले रहते हों, वे भारतीय राष्ट्रीयता के विकास को आँखों से ओझल कर देते हैं। शताब्दियों से यहाँ विभिन्न भाषाएँ बोलनेवाले लोग रहते आये हैं। आज यह तथ्य और भी स्पष्ट है—प्राचीन अतीत की समस्याओं की तरह अस्पष्ट और विवादास्पद नहीं, वर्तमान के ज्वलन्त सत्य के समान असंदिग्ध है। इन जातियों की सीमारेखाएँ कोई मिटाना भी चाहे तो वह सफल न होगा। उनकी समानता, भाईचारे, परस्पर सहयोग और एकता के बल पर ही राष्ट्रीय एकता दृढ़ हो सकती है।

साथ ही भारत देश एक राष्ट्र है, 'सब-कांटीनेन्ट' (उप-महाद्वीप) नहीं है। यहाँ सोवियत देश की तरह मजदूर वर्ग द्वारा सत्ता प्राप्त करने के बाद विभिन्न जातियों द्वारा स्वेच्छा से संघ बनाने का प्रश्न नहीं उठता। भारत विभिन्न जातियों द्वारा निर्मित संघ नहीं है, वह ऐतिहासिक विकासक्रम में संगठित एक राष्ट्र है। भारतीय जनता में राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास विश्व इतिहास की अभूतपूर्व घटना है। समाजवादी सत्ता कायम होने से पहले इस तरह की बहुजातीय राष्ट्रीयता का विकास किसी देश में नहीं देखा गया। चीन में गैर-चीनी जातियों की स्थिति हमारे यहाँ के कोल भीलों की दशा से मिलती-जुलती थी। वहाँ उस तरह की बहुसंख्यक और विकसित गैर-चीनी जातियाँ नहीं रहीं जैसी भारत में गैर हिन्दी जातियाँ हैं। यूरोप के पूँजीवादी देशों ने जो बहुजातीय राष्ट्र कायम किये उनमें शासक जाति से भिन्न सभी जातियाँ दासों की स्थिति में होती थीं।

भारतीय राष्ट्र की एकता की भावना अंग्रेजों की देन नहीं है, वह अंग्रेजों के आने से बहुत पहले की है। यह धार्मिक भावना मात्र नहीं है क्योंकि इसका सम्बन्ध एक ही धर्म से नहीं रहा। धार्मिक सहनशीलता और उदारता के कारण यहाँ प्राचीन काल से अनेक धर्म—अनीश्वरवादी धर्म तक—पल्लवित होते रहे किन्तु यह देश बौद्धों, जैनों या हिन्दुओं का राष्ट्र नहीं माना गया। यह एकता केवल भौगोलिक नहीं है। यहाँ के राज्यों की, विशेषकर उत्तर भारत के राज्यों की सीमाएँ देश से बाहर उत्तर-पश्चिम में दूर तक फैली रही हैं। यदि भौगोलिक एकता नियामक कारण होती तो भारत-विभाजन की नौबत

न आती। भौगोलिक और धार्मिक कारण भी रहे हैं किन्तु मुख्य कारण है यहाँ की जातियों का सामान्य इतिहास, उनकी सांस्कृतिक समानताएँ, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में उनका परस्पर सम्वद्ध और मिला-जुला विकास। इस ऐतिहासिक आधार पर ही यहाँ की राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ है।

मार्क्सवाद ने जातियों के विकास पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। लेनिन और स्तालिन के अनुसार जातियाँ पूँजीवाद के अभ्युदय-काल की देन है। किन्तु मार्क्सवाद की किसी पुस्तक में भारत-जैसी वहुजातीय राष्ट्रीयता के विकास की व्याख्या नही मिलती। कुछ लोग यांत्रिक ढग से यहाँ की परिस्थितियों पर मार्क्सवाद लागू करते हुए इस परिणाम पर पहुँचे थे कि यहाँ हर जाति अपनी सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न विधान सभा वनाये, फिर ये विधान सभाएँ यहाँ अपना संघ निर्मित करे। इस तरह के विचारकों के अनुसार सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति में राष्ट्रीय चेतना का अभाव था; कारण यह कि राष्ट्रीयता का आधार रेल-तार थे जिनका पूरी तरह चलन न हुआ था! भारतीय इतिहास की वास्तविकता पर ध्यान दिए विना यह कभी समझ में न आयेगा कि माधवजी सिन्धिया ने पेशवा को मुगल वादशाह का नायव क्यों घोपित किया, १८५७-५८ में देश के विशाल भाग की जनता शाही झण्डे के नीचे क्यों लड़ी, झाँसी मे 'मुल्क वादशाह का, अमल रानी लक्ष्मीवाई का' की डुग्गी क्यों पीटी गई। सी०एफ० ऐण्ड्रूज जैसे विदेशी लेखकों ने ज्यादा सचाई से लिखा था कि अंग्रेजों के आने के वाद राष्ट्रीय चेतना दृढ़ भले हुई हो, वह विद्यमान पहले से थी।

वर्तमान काल में जातियों की एकता और समानता की जो समस्या हमारे सामने है, उसका घनिष्ठ सम्वन्ध इस राष्ट्रीय चेतना के ऐतिहासिक विकास से है। हम जातीय समस्या और भापा की समस्या को अपना इतिहास भुलाकर हल करेंगे या उसे राष्ट्रीयता के सन्दर्भ में हल करेंगे? राष्ट्रीयता के सन्दर्भ को भुलाकर जव हम उसे हल करते है, तव सीमान्त पर साम्राज्यवादी अड्डे कायम होते है। दस साल में एक वार भी आम चुनाव नहीं होता, जनतन्त्र के वदले धर्म-विशेप का राज्य कायम किया जाता है। लाखों की तादाद में नर-नारी वेघर-वार होकर खुद तवाह होते हैं और देश के अर्थतन्त्र को सकट में डाल देते है। यह जातीय अलगाव वहुत जल्दी साम्राज्यवादी पड्यन्त्र का अंग वन जाता है। जिन उपनिवेशों पर साम्राज्यवाद ने शासन किया है, उन्हें वह स्वाधीन नहीं देखना चाहता। एक साम्राज्यवादी ताकत गई तो दूसरी उसे हड़पने को तैयार रहती है। अलगाव का नारा राष्ट्रीय एकता को कमजोर करनेवाला और साम्राज्यवाद तथा युद्ध की ताक़तों को शहजोर करनेवाला है।

इसलिए जातीय समस्या और भापाओं के समान अधिकारों की समस्या राष्ट्रीय एकता के सन्दर्भ में हल करनी होगी।

भारत में प्रत्येक भापा को अपने क्षेत्र में राजकीय और सांस्कृतिक कार्यों में पूर्ण अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ। साधारण हिन्दी जनता, हिन्दी का शिक्षित वर्ग और लेखक

इस स्थिति के पक्ष में हैं। हिन्दी-पक्षों में यह बार-बार कहा गया है कि हिन्दी किसी भाषा के अधिकार नहीं छीनना चाहती, अहिन्दी भाषी जातियों के परस्पर व्यवहार के लिए अंग्रेजी की जगह हिन्दी होनी चाहिए।

कई शताब्दियों से देश की विशेष परिस्थितियों के कारण हिन्दी अन्तर्जातीय व्यवहार की भाषा बनती रही है। उत्तर भारत में केन्द्रबद्ध मुगल शासन का होना, यहाँ आगरा जैसे व्यापार के बड़े-बड़े केन्द्रों का निर्माण, उन्नीसवीं सदी से पूर्व ही यहाँ के लोगों का विभिन्न प्रदेशों में फैलना ऐसे ही कारण थे। अंग्रेज व्यापारी भी उस समय अपनी सुविधा के लिए हिन्दी सीखते थे। वर्तमान काल में दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, सर्वत्र ऐसे व्यापारी और पूँजीपति मिलेंगे जिनकी सांस्कृतिक भाषा हिन्दी है। हिन्दी के प्रसार का एक बहुत बड़ा कारण कलकत्ता-बम्बई जैसे केन्द्रों में लाखों 'हिन्दुस्तानी' मजदूरों का निवास है। इन बड़े-बड़े नगरों के अतिरिक्त प्रत्येक जातीय प्रदेश में अल्पसंख्यकों के रूप में हिन्दुस्तानी मिलेंगे। विशेष आन्ध्र में हैदराबाद और उसके आस-पास हिन्दुस्तानियों का भारी जमघट है। अहिन्दी प्रदेशों में हिन्दी-भाषियों के इस प्रसार से हिन्दी को अन्तर्जातीय व्यवहार की भाषा बनाने में सुविधा मिली है।

इसके अतिरिक्त सीलोन रेडियो और विविध भारती (और पाकिस्तान रेडियो भी) की कृपा से फिल्मी संगीत द्वारा देश के चारों कोनों तक रोज शाम-सबेरे हिन्दी गूँजती रहती है। कभी इन फिल्मी गानों की फरमाइश करनेवालों के नाम सुनिए। जितने हिन्दी-भाषी प्रदेश के होते हैं, उतने ही अहिन्दी-भाषी प्रदेशों के। स्वयं गायकों और गायिकाओं में एक अच्छी संख्या अहिन्दी कलाकारों की रहती है। विशाल हिन्दी-भाषी प्रदेश फिल्मों के लिए सबसे अच्छा बाजार है। ये व्यावसायिक परिस्थितियाँ बहुतों के न चाहने पर—और शायद उनके न जानने पर भी—हिन्दी को राष्ट्रभाषा बना रही हैं।

इनके सिवाय हिन्दी भाषा, लिपि और साहित्य की कुछ विशेषताएँ हैं जो इस काम में सहायता करती हैं। हम यहाँ उनका उल्लेख नहीं करते।

हिन्दी अन्तर्जातीय व्यवहार की भाषा बन रही है, जनसाधारण के लिए अभी भी वह ऐसी भाषा है। वह केन्द्रीय राजकाज की भाषा भी जल्दी बन सकती है। इसमें एक बाधा है हिन्दी भाषियों का असंगठन, उनमें जातीय चेतना की कमी। हिन्दी भाषी प्रदेश के राज्यों में भी हिन्दी अभी पूरी तरह राजकाज की भाषा नहीं बनी है। दक्षिण के लोगों की यह आपत्ति अनुचित नहीं है कि पहले अपने घर में हिन्दी को राजभाषा बना लो, फिर उसे सारे देश की राष्ट्रभाषा बनाना। यदि हिन्दी भाषी जनता संगठित हो, यदि वह अपने प्रदेश में हिन्दी को पूर्ण रूप से राजकाज की भाषा बनाये तो यह असम्भव है कि यह विशाल प्रदेश और उसकी बहुसंख्यक जनता सारे देश को अपने साथ खींचकर न ले चल सके।

इस दृष्टि से भारतीय एकता के लिए हिन्दी-भाषी जनता की एकता आवश्यक है। देश की भाषागत समस्याएँ सुलझाने के लिए हिन्दी भाषा के लेखकों का संगठन आवश्यक है। हिन्दी को केन्द्रीय राजकाज की भाषा बनाने के लिए उसे अपने प्रदेश में पूर्ण रूप से शासन और संस्कृति की भाषा बनाना आवश्यक है। हिन्दी-भाषी जनता और उसके लेखक अपना यह उत्तरदायित्व दूसरों पर नहीं डाल सकते। (१९५८)

१८

हिन्दी की व्याकरण-सम्बन्धी कठिनाइयाँ

हिन्दी की व्याकरण-सम्बन्धी कठिनाइयों से कुछ अंग्रेजी-प्रेमी भारतवासी इतने परेशान हैं कि वे कभी-कभी उसके कलकत्ता-बम्बई जैसे नगरों में कुछ अहिन्दी भाषियों द्वारा व्यवहृत रूप को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करने की बात करते हैं। इनमें राजनीतिक नेताओं के अलावा कुछ प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक भी हैं जिन्होंने यथेष्ट गम्भीरता से यह प्रस्ताव रखा है। अंग्रेजों के सम्पर्क में आनेवाले हिन्दुस्तानी खानसामा भी अंग्रेजी का एक सरल रूप काम में लाते थे जो साहब और उनके बीच की तात्कालिक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए पर्याप्त होता था। कुछ देशों के कुलियों आदि ने इसी तरह अंग्रेजी को सरल करके अपना काम निकाला है। लेकिन इस देश में न तो हिन्दी भाषी जनता अंग्रेज साहबों की स्थिति में है, न अहिन्दी भाषी जनता कुलियों और खानसामाओं की। इस कारण जो लोग हिन्दी के तथाकथित सरल व्याकरण विहीन रूप को अपनाने की बात करते हैं, वे अपने और हिन्दी भाषियों के प्रति अन्याय ही करते हैं। कहना न होगा कि खानसामा अंग्रेजी को भारत की शिक्षा-माध्यम या विश्वभाषा बनाने की बात नहीं की जाती। इसके विपरीत इस कोटि के राष्ट्रभाषा प्रेमी अंग्रेजी शिक्षा का स्तर गिरने से नितान्त व्यथित रहते हैं और आए दिन इस स्तर को उठाने के लिए नये-नये उपाय भी सुझाया करते हैं। यह बात भी कम मनोरंजक नहीं है कि एक ओर वे हिन्दी के दरिद्र होने की, उसमें उच्च कोटि के साहित्य के अभाव की घोषणा करते हैं, दूसरी ओर व्याकरण की कठिनाइयों से मुक्त हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाने का 'जनतान्त्रिक' सुझाव भी देते हैं।

अंग्रेजी भाषा में व्याकरण-सम्बन्धी कठिनाइयाँ कम नहीं हैं। डेढ़ सौ साल से लगातार अंग्रेजी पढ़ने के बाद भी इस भाषा को सीखने का स्तर जो गिरता नज़र आ रहा है, उसका कारण विद्यार्थियों और शिक्षकों की प्रतिभा के अलावा उस भाषा की खूबियाँ भी हैं। किन्तु अंग्रेजी प्रेमी देशभक्त अपनी प्रिय भाषा की व्याकरणगत कठिनाइयों से ज़रा भी विचलित नहीं होते, उन्हें शिकायत है हिन्दी की कठिनाइयों से। इनमें भी सारे फसाद की जड़ उनकी समझ में हिन्दी का लिंग भेद है।

हिन्दी शब्दों की लिंग-सम्बन्धी कठिनाई वास्तविक है। यह कठिनाई अहिन्दी-भाषियों के लिए ही नहीं है, भोजपुरी आदि पूर्वी बोलियों के क्षेत्रों में हिन्दी बोलनेवाला

के लिए भी यह कठिनाई विद्यमान है। इतिहासकारों का कहना है कि एक बार दिल्ली के कत्लेआम में 'खारा पानी' कहनेवालों को पछाँह का समझकर छोड़ दिया गया; 'खारी पानी' कहनेवालों को पूरब का मानकर उन्हें तलवार के घाट उतार दिया गया। इस कठिनाई से ऐसे नतीजे भी निकल सकते हैं!

भाषा का निर्माण किसी अकादमी में नहीं होता, न उसका व्याकरण बनाने का काम राजनीति-विशारद करते हैं, वरना यह कठिनाई दूर हो जाती। संस्कृत के महान् वैयाकरण भी, जो भाषा को व्यवस्थित करने में अपना सानी नहीं रखते, इस कठिनाई से पार न पा सके। शत्रु पुल्लिग, मित्र नपुसक लिंग! वृक्ष जैसा जड़ पदार्थ पुल्लिग, हृदय जैसा तरल और गतिशील पदार्थ नपुसक लिंग! पांसु (धूल), परशु, इषु (बाण) जैसे निर्जीव पदार्थ पुल्लिग है; शरीर और शीर्ष जैसे सजीव पदार्थ नपुसक लिंग है।

इस देश के सांस्कृतिक इतिहास में संस्कृत का जो महत्त्व रहा है, उसे सभी लोग जानते हैं। भारत की भाषाओं पर उसका जो व्यापक प्रभाव पड़ा है, वह भी किसी से छिपा नहीं है। संस्कृत शब्दों की लिंग-सम्बन्धी कठिनाई से उसके प्रसार में कोई बाधा नही पड़ी। सम्भव है, कुछ सज्जन कहे कि इस कठिनाई के कारण ही वह मृतभाषा हुई। यदि ऐसा होता तो संस्कृत-भाषी प्रदेश की भाषाएँ—जिनमें हिन्दी सर्वोपरि है—इस कठिनाई से मुक्त होतीं।

संस्कृत के समान यूरोप की भाषाओं और संस्कृति पर प्राचीन यूनानकी भाषा—वहाँ अनेक भाषाएँ थी, हमारा तात्पर्य एथेन्स की भाषा से है—का प्रभाव पड़ा। किसी समय वह भूमध्य सागर के तट पर फैले हुए अनेक यूनानी उपनिवेशों के कारण एक विशाल भूभाग में फैल गई थी। इस भाषा में अरस्तू और अफलातून जैसे विचारकों ने, सोफ़ोक्लीज़, यूरिपिदीज़ जैसे नाटककारो ने, हेराक्लितस जैसे दार्शनिकों ने अपनी रचनाएँ कीं जिनके आधार पर यूरोप की संस्कृति का प्रासाद निर्मित हुआ। इस भाषा में गेनौस (संस्कृत जन) नपुंसक है किन्तु दिमौस (जनता) पुल्लिग है! थूरा (द्वार), माखइरा (तलवार), अकन्था (काँटा) जैसी बेजान चीज़ें स्त्रीलिंग है। यदि आप कहें ये आकारान्त हैं, इसलिए स्त्रीलिंग हैं, तो देखिए म्नीमा (समाधि), ओइको-दोइमा (भवन) आदि नपुंसक लिंग हैं। नेक्रौस (शव) तो पुल्लिग है, पाइदिऔन (शिशु) नपुंसक लिंग है!

प्राचीन यूनानी के समान और भी बड़े पैमाने पर लैटिन व्यवहार में आई। वह शताब्दियों तक इटली ही नहीं, यूरोप की धार्मिक और सांस्कृतिक भाषा रही। इसमें भी यूनानी भाषा की तरह लिंगभेद वर्तमान था। अग्नि के लिए दो शब्द हैं, 'इन्केण्डियम' और 'इग्निस'; पहला नपुंसक, दूसरा पुल्लिग है। जनता के लिए दो शब्द हैं, गेन्स (जन) और पोपूलुस; पहला स्त्रीलिंग है, दूसरा पुल्लिग। इम्ब्रेर (वर्षा), टूरिस (मीनार), मारे (समुद्र) तीनों को स्वभावतः नपुंसक लिंग होना चाहिए किन्तु ये क्रमशः पुल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग है। अकीला (बाज) और अग्रिकोला (कृषक) देखने में एक-से आकारान्त शब्द हैं किन्तु पहला स्त्रीलिंग है, दूसरा पुल्लिग

लैटिन की उत्तराधिकारिणी भाषाओं में फ्रांसीसी भाषा भी है। यह यूरोप में अन्तर्जातीय व्यवहार की भाषा रही है। उसमें घर के लिए दो शब्द हैं, मैजों, चार्नामों, पहला स्त्रीलिंग है दूसरा पुल्लिंग। इसी प्रकार धरती के लिए तेयर और सेर्या, भाग के लिए फ़ेन और गमें शब्दों में पहला स्त्रीलिंग है, दूसरा पुल्लिंग। फ्रांसीसी लोग पर्वत जैसी विशाल वस्तु (मांताञ्) का स्त्रीलिंग विज्ञापित करते हैं, पुस्तक जैसी छोटी चीज़ (लीव्र) का पुल्लिंग।

यूरोप में एक विशाल प्रदेश में व्यवहृत फ्रांसीसी की तरह एक हद तक अन्तर्जातीय व्यवहार की भाषा जर्मन है। उसमें संस्कृत के समान ही लिंगभेद है। पत्थर (स्टाइन), वृक्ष (बाउम), जूता (शु) जैसे निर्जीव पदार्थ पुल्लिंग हैं, जनता (फोल्क), नारी (इसके लिए एक शब्द स्त्राइब भी है), लड़की (मैड्शेन) आदि सजीव वस्तुएं नपुंसक लिंग हैं। संस्कृत के समान जर्मन में तीनों लिंग विद्यमान हैं और शब्द के अर्थ या रूप से उन्हें पहचानना आसान नहीं है।

संसार के छठे भाग में फैले हुए सोवियत संघ की अन्तर्जातीय व्यवहार की भाषा रूसी है। इसमें भी संस्कृत और जर्मन की तरह तीनों ही लिंग हैं। अधिकतर निर्जीव पदार्थ नपुंसक लिंग होते हैं किन्तु पुस्तक (कनीगा), होटल (गस्तीनित्सा), पुस्तकालय (बिब्लियोतेका) आदि शब्द स्त्रीलिंग हैं। यद्यपि शब्दों के रूप से उनका लिंग पहचाना जा सकता है, फिर भी इस विषय में नियमों के अनेक अपवाद हैं।

प्राचीन काल से आज तक संसार की अनेक और प्रमुख भाषाएँ शब्दों में लिंगभेद करती रही हैं। यह भेद वास्तविक न होकर—शब्दों द्वारा विज्ञापित वस्तु के लिंग का अनुसरण न करके—बहुधा शब्दों के रूप के अनुसार होता है। शब्दों का रूप देखकर उनका लिंग निश्चित करना सदा सरल नहीं होता। इस सम्बन्ध में कुछ मोटे नियमों का पालन किया जाता है किन्तु उनके अपवादों की संख्या कम नहीं है। भाषा संसार के पदार्थों, मनुष्य के व्यवहार और चिन्तन की अभिव्यंजना के लिए ही विकसित हुई है। वह इस भौतिक जगत् और मनुष्य के भौतिक जीवन से विलग होकर विकसित नहीं हुई। उसकी जड़ें इसी भौतिक जीवन और जगत् में हैं। किन्तु भाषा भौतिक जगत् से मनुष्य का सम्बन्ध विज्ञापित करने का साधन ही नहीं है। जैसे संगीत में विभिन्न प्रदेशों की जातियों को स्वरों का विशेष सामंजस्य, उनका विशेष आरोह-अवरोह पसन्द आता है, वैसे ही भाषा के क्षेत्र में विभिन्न जातियाँ शब्दों के साथ विशिष्ट रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती हैं। एक ही वस्तु के लिए विभिन्न भाषाओं के पर्यायवाची शब्दों में लिंग-सम्बन्धी अन्तर होता है। एक ही भाषा में किसी वस्तु के लिए भिन्न लिंग वाले पर्याय-वाची शब्दों का प्रयोग देखा जा सकता है। दूसरों के लिए इस वैचित्र्य के कारण भाषा कठिन हो जाती है किन्तु उसके बोलनेवालों के लिए इस वैचित्र्य का रागात्मक मूल्य है। भाषा के समस्त ऐतिहासिक विकास के फलस्वरूप यह भिन्नता उत्पन्न होती है। यह भाषा की सजीव परम्परा का अंग होती है। उसे समाप्त करना वैसे ही असम्भव है जैसे

मुहावरों को समाप्त करना। मुहावरों की तरह लिंग-भेद सीखना होता है। अन्तर्जातीय व्यवहार की कठिनाइयाँ दूर करने के लिए भाषा के रूप को न तो आज तक कहीं बदला गया है, न अब बदला जा सकता है। अन्य भाषाओं और जातियों के सम्पर्क में आने से भाषा में परिवर्तन होते हैं। किन्तु इन परिवर्तनों का सम्बन्ध व्याकरण से सबसे कम होता है। अंग्रेजों ने संसार की अनेक भाषाओं से शब्द लिये हैं—वास्तव में जर्मन या रूसी की तुलना में उसकी अपनी पूंजी नगण्य है—किन्तु उसके व्याकरण में कितना परिवर्तन हुआ है? उसने शब्द दूसरों से लिए किन्तु व्याकरण के रूप अपने रखे। उसका शब्द-भण्डार जितना मिश्रित है, उसका व्याकरण उतना ही अपेक्षाकृत विशुद्ध।

खड़ी बोली ने अरबी-फारसी से सैकड़ों शब्द लिये, उसका उर्दू रूप विकसित हुआ। कुछ विद्वानों का विचार है कि बाहर से आनेवाले मुसलमान यहाँ की भाषा समझते न थे, उनकी अपनी भाषाओं और यहाँ की बोलियों—अथवा खड़ी बोली और फारसी—के मिश्रण से फौजी खेमों और बाजारों में उर्दू का जन्म हुआ। बाहर से आनेवाले मुसलमानों की भाषा क्या थी, एक थी या एक से अधिक थी; बंगाल, कश्मीर, पंजाब, केरल आदि प्रदेशों में मुसलमान वहाँ की भाषा कैसे समझने लगे, इन प्रश्नों का विवेचन न करके हम केवल इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करेंगे कि उर्दू को जन्म देनेवाले मुसलमानों को यहाँ का शब्द-भण्डार स्वीकार करने में चाहे जो कठिनाई हुई हो, खड़ी बोली के व्याकरण-रूपों को उन्होंने सप्रेम स्वीकार कर लिया। इन रूपों में लिंग-भेद भी है। ऐसा नहीं हुआ कि लिंग-सम्बन्धी कठिनाई दूर करके बाहर से आनेवाले मुसलमानों ने खड़ी बोली को अपनाया हो। उन्होंने यहाँ की व्याकरण-परम्परा को—जिसे सीखना शब्दों को ग्रहण करने से ज्यादा कठिन था—स्वीकार किया। भारत की अनेक भाषाएँ—जैसे बँगला—शब्द-भण्डार की दृष्टि से हिन्दी के जितना निकट है, उतना उर्दू नहीं है। यदि बाहर से आनेवाले मुसलमान यहाँ के लिंग-सम्बन्धी भेद सीख सकते थे तो शब्द-भण्डार की इतनी समानता रहने पर बंगाली मित्र उनसे क्यों पार नहीं पा सकते? इस कारण 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी' में डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या द्वारा प्रस्तुत निम्नलिखित सुझाव अभी तक अग्राह्य रहा है: 'परन्तु यदि ये व्याकरण-विषयक विशिष्टताएँ, जो बाकी के भारतवासियों के लिए वास्तविक कठिनाइयाँ बन रही हैं, कम कर दी जायँ, जैसा कि पूर्वी हिन्दीवालों तथा बिहारियों ने किया है (?!), तो संस्कृतनिष्ठ प्रचलित हिन्दुस्थानी, एक अत्यन्त सहज, सुबोध तथा ओजपूर्ण भाषा बन जाती है। इस सहज बनी हुई हिन्दुस्थानी का सारा व्याकरण एक पोस्टकार्ड पर लिखा जा सकता है। 'बाजारू हिन्दुस्थानी' के सदृश सुगठित तथा ओजपूर्ण भाषा को हाट-बाज़ार से, जहाँ पर कि उसका स्वतन्त्र, अनवरुद्ध जीवन-प्रवाह पंडितों की घृणा की परवाह न करते हुए अनवरत रूप से बहा चला जा रहा है, उठाने की आवश्यकता है। हमें उसे आदरपूर्ण आन्तर्जातिक या आन्तर्देशिक भाषा के इतने उच्च स्तर तक उठाना होगा कि वह कम-से-कम सार्वजनिक सभा-सम्मेलनों आदि में प्रयुक्त होने योग्य बन

जाय। इसमें साहित्य का सृजन बाद में हो सकता है—आगे चलकर होगा ही (!)। परन्तु वह सारी भविष्य की बात है। अभी हाल के लिए इसे एक द्वितीय भाषा के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है, जिससे सर्वसाधारण को परिचित हो जाने के लिए कहा जा सकता है। यह उसी भाँति फारसी-युक्त उर्दू तथा नागरी-हिन्दी के साथ-साथ प्रयुक्त होती रहेगी, जैसे आज होती है।"

अस्तु परिणाम यह निकला कि हिन्दी की लिंग-सम्बन्धी कठिनाइयाँ दूर करके उसे सरल नहीं बनाया जा सकता। जिस तरह खानसामा-अंग्रेजी को राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का दर्जा नहीं मिला, उसी तरह अहिन्दी-भाषी प्रदेशों में कुछ लोगों द्वारा व्यवहृत हिन्दी के टूट-फूटे रूप को देश के राजनीतिक और सांस्कृतिक व्यवहार की भाषा नहीं बनाया जा सकता। यह सही है कि हिन्दी-भाषियों को दूसरों की त्रुटियों पर हँसना न चाहिए, वरन् भाषा-सम्बन्धी अपने प्रयोगों के प्रति उन्हें अधिक सचेत होना चाहिए। साथ ही यह भी सही है कि कुछ अहिन्दी भाषी मित्र हिन्दी की व्याकरण-सम्बन्धी कठिनाइयों को दुर्लंघ्य बतलाकर, उन्हें दूर करके भाषा को सरल करने का सुझाव देकर अन्तर्जातीय व्यवहार की भाषा-समस्या हल नहीं कर सकते। धैर्य, उदारता और परिश्रम से ही इस कठिनाई पर विजय प्राप्त हो सकती है। (१९५८)

१६
उर्दू की समस्या

प्रधानमन्त्री श्रीजवाहरलाल नेहरू, कांग्रेस की कार्यकारिणी तथा अन्य राजनीतिक संस्थाओं ने पिछले दिनों उर्दू के संरक्षण की समस्या की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया है। उनके वक्तव्यों का यह मूल्य है कि उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण समस्या पर ध्यान केन्द्रित किया है जिसके प्रति साधारणत: हिन्दी-भाषी जनता उदासीन हो गई थी। इससे सिद्ध यह होता है कि भारत के साम्राज्यवादी विभाजन से जो अनेक समस्याएँ नहीं सुलझीं, उनमें उर्दू की भी एक समस्या है। दुर्भाग्य से इन वक्तव्यों में यह नहीं वतलाया गया कि उर्दू के अरक्षण या दमन के लिए उत्तरदायी कौन है, विभाजन के वाद यह समस्या अव भी क्यों वनी हुई है, उर्दू के संरक्षण के लिए कौन से उपाय किये जानेवाले हैं, इत्यादि। संक्षेप में स्थिति यह है कि भावुकता के अलावा वैज्ञानिक स्तर पर इस समस्या पर इन वक्तव्यों में कुछ नही कहा गया।

एक समय था जव कांग्रेस का नेतृत्व हिन्दी-उर्दू को मूलत: एक भाषा मानता था, उनमें अनावश्यक संस्कृत और अरवी शब्द भरने का विरोधी था, हिन्दुओं और मुसलमानों की मिली-जुली भाषा को कौमी जवान कहता था और उसे राजभाषा वनाने पर ज़ोर देता था। आज स्थिति वदल गई है। कौमी ज़वान की वात करना तो महापाप है; जो सवसे प्रगतिशील वात कही जा सकती है, वह यह कि उर्दू को दवाया न जाय। और कौमी ज़वान के राष्ट्रभाषा वनने का सवाल नहीं, शुद्ध राष्ट्रभाषा हिन्दी भी राजभाषा नही वन पाई; सारे देश में नहीं वन पाई, और अपनी जन्मभूमि उत्तर प्रदेश—तथा अन्य हिन्दी-भाषी राज्यों—में भी वह राजभाषा नही वन पाई।

देश के राष्ट्रीय नेताओ ने साम्प्रदायिक समस्या को हल किया साम्प्रदायिक माँगों को स्वीकार करके। साम्प्रदायिकता के आधार पर किये हुए समझौते के वृक्ष में राष्ट्रीयता के फल न लगें तो इसमें आश्चर्य क्या? उर्दू का नाम सुनते ही वहुत से हिन्दी-प्रेमी स्वभावत: परेशान हो उठते हैं: आखिर इन्हीं समस्याओं को हल करने के लिए तो पाकिस्तान वना और यह उर्दू का वखेड़ा अव भी वना हुआ है!

उर्दू-प्रेमियों ने अलग परेशान होकर कौमी ज़वान को इलाकाई ज़वान वनाने के लिए दस्तखत इकट्ठे किये। उन्होंने उत्तर प्रदेश या अन्य राज्यों में अंग्रेजी को हटाने के

लिए आन्दोलन करना जरूरी नहीं समझा। न उन्होंने इस आन्दोलन की नीति निर्धारित करने के लिए हिन्दी प्रेमियों से सलाह-मशविरा किया। इसलिए वैधानिकता का जामा पहनने पर भी यह एक सीमित साम्प्रदायिक आन्दोलन ही रहा।

उर्दू के सम्बन्ध में अनेक गलत धारणाएँ हिन्दी प्रेमियों और उर्दू प्रेमियों दोनों के मन में बनी हुई हैं। इन पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक है।

एक धारणा यह है कि मुसलमानों ने यहाँ आकर उर्दू नाम की एक नई भाषा को जन्म दिया। बहुत से मुसलमानों को उर्दू से एक प्रकार का धार्मिक प्रेम है, वे उसे अपने धर्म और विशेष संस्कृति की भाषा समझते हैं। बहुत से हिन्दू इस धारणा को स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में मुसलमान कभी हिन्दुस्तानी नहीं बना, इसलिए उर्दू भी 'अरब जहादियों का कीर्ति-स्तम्भ' है। हिन्दुओं और मुसलमानों में जो चरम साम्प्रदायिकता-वादी हैं वे उसके प्रति एक-सा ही प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण अपनाते हैं। यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि अनेक साम्राज्यवादी भाषा-वैज्ञानिकों का भी यह मत रहा है कि उर्दू इस्लाम की भाषा है।

यदि उर्दू इस्लाम की भाषा है तो पूर्वी बंगाल के मुसलमान बँगला क्यों बोलते हैं? उन्होंने उर्दू को एकमात्र राजभाषा बनाये जाने के विरुद्ध संघर्ष क्यों किया? बंगाल के अलावा केरल, तमिलनाड, महाराष्ट्र, गुजरात, कश्मीर आदि प्रदेशों के मुसलमान घर में उर्दू क्यों नहीं बोलते? और हिन्दुस्तान-पाकिस्तान से बाहर तुर्की, ईरान, ईराक आदि राष्ट्रों में उर्दू क्यों नहीं बोली जाती?

स्पष्ट है कि संसार में एक हिन्दुओं की भाषा, एक मुसलमानों की भाषा, एक बौद्धों या ईसाइयों की भाषा नहीं है। भाषाओं का निर्माण और विकास धर्म के आधार पर नहीं हुआ। धार्मिक विचारधाराओं के कारण उनके लिखने-बोलनेवालों ने उनमें कुछ नई विशेषताएँ पैदा की हों, यह दूसरी बात है। भाषा का सम्बन्ध जातीयता से है, किसी जाति के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास से है। जाति और धर्म एक वस्तु नहीं हैं। ईरानी, ईराकी, तुर्की जातियाँ इस्लाम धर्म मानती हैं किन्तु उनकी भाषाएँ अलग-अलग हैं। इसी प्रकार भारत की विभिन्न जातियों की अपनी-अपनी भाषाएँ हैं। उन जातियों के प्रदेशों में हिन्दू मुसलमान दोनों ही उन भाषाओं को बोलते हैं, उनमें अपना और सब सांस्कृतिक काम-काज करते हैं। उर्दू का व्यवहार कहाँ के मुसलमान करते हैं? सबसे पहले हिन्दी भाषी प्रदेश के उत्तर प्रदेश, बिहार, दिल्ली, मध्यप्रदेश आदि के। कारण यह कि उर्दू यदि कहीं की जातीय भाषा है तो हिन्दी-भाषी प्रदेश की ही। इसके बाद कलकत्ता, हैदराबाद, बम्बई जैसे नगरों में मुसलमानों की बस्तियाँ हैं जो अपने मूल प्रदेश से वहाँ पहुँचे हैं या जिनके पुरखे पहले कभी पहुँचे थे। इसके बाद कश्मीर आदि प्रदेशों के मुसलमान हैं जिनकी मातृभाषा कश्मीरी है या अन्य कोई भाषा है और जो उर्दू भी जानते हैं और उसे काम में लाते हैं।

धर्म के आधार पर उर्दू की रक्षा की बात करना या उसे इस्लाम की भाषा समझ-

कर उसका नाश करने की बात सोचना एक अवैज्ञानिक और प्रतिक्रियावादी कार्य है।

उर्दू इस्लाम की भाषा है, इस धारणा से भिन्न एक दूसरी स्थापना है जो प्रगतिशील और राष्ट्रीय समझी जाती है। वह यह है कि उर्दू हिन्दुओं और मुसलमानों के मेल से बनी है। दूसरे शब्दों में उर्दू केवल इस्लाम की भाषा नहीं, वह इस्लाम और हिन्दू धर्म दोनों की भाषा है। यह स्थापना देखने में प्रगतिशील मालूम होती है क्योंकि वह राष्ट्रीयता के लिए आवश्यक हिन्दू-मुस्लिम-एकता की ओर संकेत करती है। इस स्थापना का सहारा लेकर ही अनेक राष्ट्रीय नेताओं और विचारकों ने भाषा-समस्या हल करने का प्रयत्न किया था और उसमें असफल भी हुए थे।

यदि हिन्दुओं और मुसलमानों के मिलने से उर्दू बनी होती तो बम्बई से कलकत्ता तक और कश्मीर से कन्याकुमारी तक हर जातीय प्रदेश में उर्दू ही बोली जाती; बँगला, मराठी, कश्मीरी, मलयालम आदि भाषाओं का अस्तित्व ही न होता। उर्दू एक विशेष जातीय प्रदेश की भाषा है, भारत के सभी जातीय प्रदेशों की नहीं। उसे मातृभाषा के रूप में काम में लानेवाले वही लोग हैं जो हिन्दी-भाषी प्रदेश के निवासी हैं या यहाँ से जाकर दूसरे प्रदेशों में बस गए हैं। हिन्दी-उर्दू एक ही जातीय प्रदेश की भाषा हैं, इसीलिए उनका बोलचाल का रूप एक-सा है या प्रायः एक-सा है।

भारत में जो मुसलमान आये उनमें कोई पश्तो बोलता था, कोई तुर्की, कोई अरबी, कोई फारसी। उनकी भाषाएँ कम-से-कम तीन भिन्न परिवारों की हैं। तुर्की, अरबी, फारसी एक-दूसरे से भिन्न भाषा-परिवारों की हैं। यदि उर्दू का निर्माण हिन्दुओं-मुसलमानों के मिलने से होता तो उसमें तुर्की के उतने ही शब्द होते जितने फारसी के। या इस्लाम धर्म का सम्बन्ध विशेष रूप से अरबी से जोड़ा जाय तो उर्दू में तुर्की-फारसी का बहिष्कार और अरबी-संस्कृति का बराबर सम्मिश्रण होना चाहिए था। बाहर से आनेवाले मुसलमानों ने राजभाषा के लिए अरबी नहीं, फारसी को चुना। उनका धर्मग्रन्थ अरबी में है, फारसी में नहीं। फारसी पर अरबी का प्रभाव है, फिर भी वह मूलतः भारत-यूरोपीय परिवार की भाषा है और अरबी की अपेक्षा वह संस्कृत के अधिक निकट है। मुसलमान सामन्तों ने अरबी को राजभाषा क्यों न बनाया? इस पद के लिए उन्होंने फारसी को क्यों चुना? इसलिए कि वे सामन्त अनेक बर्बरताओं के बावजूद मुस्लिम लीग के नेताओं से अधिक उदार थे। फारसी को चुनने में धार्मिक नहीं, सांस्कृतिक कारण प्रधान थे। सांस्कृतिक दृष्टि से ईरान समृद्ध राष्ट्र था; मध्य एशिया और मध्यपूर्व के देशों पर ईरानी संस्कृति की छाप थी। बाहर से आनेवाले मुसलमान यह छाप अपने साथ लाए थे। मुगल सम्राटों के यहाँ दरबारियों में काफी ईरानी होते थे; फारसी बोलचाल की भाषा थी। इस कारण मुग़ल राज्यसत्ता में फारसी का बोलबाला रहा।

मुसलमान सामन्तों ने ब्रजभाषा में रचनाएँ कीं, अनेक सूफियों ने अवधी में काव्य लिखे, रसखान और रहीम जैसे कवियों ने ऐसी सरस कविताएँ लिखीं कि वे आज भी गाँवों में लोगों की ज़बान पर हैं। हिन्दीभाषी प्रदेश से बाहर कश्मीरी, पंजाबी, बँगला आदि

भाषाओं और उनके साहित्य के उद्धार और विकास में मुसलमानों ने महत्वपूर्ण योग दिया। आजकल बहुत से हिन्दू मुसलमान इन बातों को याद करना पसन्द नहीं करते। उनसे यह अनचाहा परिणाम निकलता है कि मुगल शासनकाल में फारसी के राजभाषा रहते हुए भी यहाँ की जातीय भाषाओं ने अभूतपूर्व उन्नति की और इस उन्नति में मुसलमानों का बहुत बड़ा हाथ था। हिन्दू साम्प्रदायिकों को यह निष्कर्ष पसन्द नहीं है क्योंकि उनके अनुसार मुसलमानों ने भारत को कभी अपना देश नहीं समझा, फिर वे यहाँ की भाषाओं और उनके साहित्य की उन्नति में भाग कैसे दे सकते थे? मुस्लिम साम्प्रदायिकों को यह निष्कर्ष पसन्द नहीं क्योंकि जातीय भाषाओं के विकास के इस चौखटे में उनकी उर्दू-सम्बन्धी धारणाएँ फिट नहीं होतीं।

तब उर्दू का विकास क्या साम्प्रदायिक कारणों से हुआ? या उर्दू हमारी जातीय भाषा थी और उसके मुकाबले में हिन्दी का विकास साम्प्रदायिक कारणों से हुआ?

उर्दू का बोलचाल वाला रूप वही है जो प्रायः वही है जो हिन्दी का। इस रूप का एक नाम खड़ी बोली है। इसे बोलनेवाले हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध, ईसाई अनेक धर्मों के लोग हैं। इस रूप को न तो मुसलमानों ने जन्म दिया, न उसे अवध और बिहार में फैलाने में एकमात्र उन्होंने भाग लिया। फारसी के राजभाषा रहने के कारण इस खड़ी बोली में फारसी के सैकड़ों शब्द आये। फारसी के माध्यम से सैकड़ों अरबी शब्द भी खड़ी बोली में आये। उर्दू के समर्थकों का कहना है कि उर्दू को सँवारने और निखारने वाले हिन्दू भी थे। यह बात सही है। इन मित्रों को इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि उर्दू को सँवारने में हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों ने हिस्सा लिया, फिर भी खड़ी बोली का एक दूसरा रूप हिन्दी क्यों विकसित हुआ? प्रेमचन्द जैसे देशभक्त उर्दू-प्रेमी लेखकों ने हिन्दी-सेवा क्यों की?

बहुत से उर्दू-प्रेमियों की यह धारणा है कि एक अच्छी-खासी मुश्तर्का ज़बान बन गई थी, हिन्दीवालों ने एक साम्प्रदायिक आन्दोलन चलाया और अरबी फारसी के मीठे शब्दों की जगह संस्कृत के भारी भरकम शब्द रखकर एक नकली ज़बान गढ़ ली। उसी साम्प्रदायिक भाषा को अब लोग राष्ट्रभाषा कहने लगे हैं! हिन्दुओं की साम्प्रदायिकता और विश्वासघात के कारण उर्दू का गला घोंटा जा रहा है!

ये मित्र दो-तीन बातें भूल जाते हैं। खड़ी बोली में अरबी-फारसी के शब्दों की आमद हिन्दुओं और मुसलमानों के मिलन का परिणाम नहीं है वरन् यहाँ फारसी के राजभाषा बनाये जाने का परिणाम है। फारसी यहाँ के किसी प्रदेश की भाषा न थी, न वह बाहर से आनेवाले सभी मुसलमानों की भाषा थी, न वह भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों के मेल से बनी हुई भाषा थी। ईरान के प्रति अपनी सांस्कृतिक गुलामी के कारण उन सामन्तों ने उसे राजभाषा बनाया जिनकी मातृभाषा तुर्की या कोई अन्य ग़ैर-फारसी भाषा थी। फारसी को राजभाषा बनाना यहाँ की भाषाओं के साथ अन्याय करना था। इस अन्याय में मुसलमानों के साथ अनेक हिन्दू सामन्त और उनके आश्रित कर्मचारी

भी शामिल थे। किसी विदेशी भाषा का राजभाषा बनाना जातीय उत्पीड़न का एक रूप है। इस तरह के जातीय उत्पीड़न में पूंजीपति ही नहीं, उनसे पहले सामन्त भी भाग ले चुके हैं। इस उत्पीड़न में बहुत से हिन्दू शामिल हुए किन्तु इनके विपरीत बहुत से हिन्दू अपनी पहले से चली आती हुई भाषा या भाषाओं के लिए लड़े भी। उन्होंने फारसी के बदले ब्रज या अवधी में रचनाएँ की। इन हिन्दुओं के साथ बहुत से मुसलमान भी थे। सामन्त-वर्ग और जनसाधारण—इन दोनों की सांस्कृतिक नीति अलग-अलग थी। सामन्त-वर्ग मुख्यत: ईरानी संस्कृति का मुँह जोहता था; जनसाधारण अपनी भाषा और लोक-संस्कृति के विकास में लगा हुआ था।

अंग्रेजों ने अंग्रेज़ी लादकर जातीय उत्पीड़न को और तीव्र किया। अंग्रेज़ी और फारसी राजभाषाएं रहीं लेकिन दोनो के उत्पीड़न मे अन्तर था। फारसी एशिया की ही और हमारे पड़ोस की एक भाषा थी। उसे राजभाषा बनानेवाले हिन्दी या ब्रज मे कविताएं करते थे, यहाँ की भाषाओं को प्रोत्साहन देते थे, विशेष रूप से सगीत मे उन्होने यहाँ की समूची परम्परा को अपना लिया। उर्दू की तरह सगीत मे अरबी-फारसी तानों से लदी हुई शैली का चलन न हुआ। राजभाषा अंग्रेजी की तुलना में राजभाषा फारसी का उत्पीड़न बहुत सीमित था।

सामन्तकाल में शिक्षा का काम पुरोहित वर्ग के हाथ में रहता है। इसलिए शिक्षा के नाम पर संस्कृत या अरबी-फारसी की पढ़ाई होती रही। इस कारण शिक्षित वर्ग में फारसी पढ़े लोग दर्शन, साहित्य आदि की विशिष्ट शब्दावली के लिए फारसी से शब्द लेने लगे। नौकरी के लिए फारसी या उर्दू की जानकारी आवश्यक होती थी, इसलिए हिन्दू-मुसलमान दोनों काफ़ी संख्या में फारसी-उर्दू सीखते थे। किन्तु यह हिन्दू-मुस्लिम-एकता विशेष आर्थिक और सामाजिक कारणों से पैदा हुई थी। इसलिए वह टिकाऊ न हुई।

उर्दू ने दर्शन, साहित्य, राजनीति आदि के लिए, या सभ्य व्यवहार के लिए केवल अरबी-फारसी से शब्द लिये। उसके बोलचाल के रूप में तो हिन्दी-शब्दों की भरमार थी लेकिन सभ्य व्यवहार के रूपों मे—'तशरीफ़ लाइये, नोश फ़रमाइये' वाले रूपों मे—और साहित्य में जो नये शब्द आये, वे सब-के-सब अरबी-फारसी से। इस तरह उर्दू के बोल-चाल के रूप में तो भाषा की जातीय परम्परा कायम रही लेकिन उसके सांस्कृतिक रूप में वह नष्ट हो गई।

उर्दू ने अपने इस नये विकसित रूप को दो धाराओं से अलग कर लिया। एक तो वह हिन्दी की बोलियों—अवधी, ब्रज, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी और खड़ी बोली के ही ग्रामीण रूप—से बहुत दूर चली गई। दूसरे, वह भारत की अन्य भाषाओं—बँगला, मराठी, गुजराती आदि की सामान्य विशेषताओं से दूर जा पड़ी। संस्कृत के कठिन शब्दों के नाम पर उसने उन तमाम शब्दों का बहिष्कार करना शुरू किया जो भारत की अन्य सभी भाषाओं की सामान्य निधि है। इस तरह उर्दू-प्रेमियों ने यहाँ के हिन्दी-भाषियों से ही

अलगाव पैदा नहीं किया उन्होंने बंगला आदि भाषाएँ बोलनेवाले मुसलमानों से भी अलगाव पैदा कर लिया।

इसीलिए हिन्दी का आन्दोलन ज़ोर पकड़ता गया, हिन्दू मुस्लिम एकता का सीमित आधार रखने पर भी उर्दू अपना स्थान सुरक्षित रखने में सफल न हुई और प्रेमचन्द, बालमुकुन्द गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पद्मसिंह शर्मा आदि अनेक लेखकों ने उर्दू से परिचय और प्रेम होते हुए भी हिन्दी की सेवा की। हिन्दी के प्रति गलत धारणाओं के कारण उर्दू-प्रेमी सज्जन हिन्दी के सहयोग से कोई आन्दोलन नहीं चला सके। देश के विभाजन के बाद अब उनमें उर्दू को कौमी ज़बान बनाने का साहस नहीं रहा। उन्होंने पस्ती के कारण उसे इलाकाई ज़बान बनाने का नारा दिया। उर्दू को पढ़ने पढ़ाने और उसके व्यवहार के लिए सुविधाएँ होनी चाहिएँ, हम इस माँग का समर्थन करते हैं। किन्तु अपने बोलचाल के रूप में वह किसी विशेष इलाके की ज़बान नहीं है। इलाकाई ज़बान का नारा जातीय अलगाव और विघटन का नारा है, इसलिए हम उसका विरोध करते हैं। उत्तर प्रदेश और अन्य हिन्दीभाषी राज्यों से अंग्रेज़ी जाय, उसकी जगह हिन्दी को राज्यभाषा बनाया जाय, हिन्दी के साथ अल्पसंख्यकों—जिनमें मुसलमानों के साथ कुछ हिन्दू भी गिने जाएँगे—की भाषा के रूप में उर्दू का संरक्षण किया जाय, इस आधार पर हिन्दी उर्दू-प्रेमी अब भी एक मंच पर संयुक्त आन्दोलन कर सकते हैं।

आगे चलकर क्या होगा? उर्दू रहेगी या मिट जायगी? उर्दू का बोलचाल वाला रूप मिट नहीं सकता, क्योंकि वह कुछ गिने-गिने व्यक्तियों तक सीमित नहीं है। यह रूप हिन्दी के बोलचाल वाले रूप जैसा है और हिन्दी लेखक उसे अपनाकर हिन्दी को समर्थ बना सकते हैं। उर्दू का साहित्यिक रूप हिन्दी को काफी प्रभावित कर सकता है, अभी भी कर रहा है। अनेक हिन्दी-कवियों की छन्द-योजना और शैली पर उर्दू का प्रभाव देखा जा सकता है। यह प्रभाव कितना अधिक पड़ता है, यह उर्दूवालों पर भी निर्भर है। उर्दू-लेखक जितना ही अपना सीमित दायरा छोड़कर अपना साहित्य जनता के लिए लिखेंगे और देवनागरी के माध्यम से उस तक पहुँचायेंगे, उतना ही वे हिन्दी के विकास को प्रभावित कर सकेंगे।

हमारी समझ में उर्दू से प्रभावित होकर हिन्दी का बोलचाल वाला रूप पुष्ट होगा और हिन्दी से प्रभावित होकर उर्दू के 'सभ्य' अरबी फारसीवाले रूप में काफी परिवर्तन होगा। यह कहना आवश्यक है कि उर्दू में काफी देशभक्तिपूर्ण और जनतान्त्रिक साहित्य है। शब्दावली के कारण साहित्य की विषयवस्तु नहीं बदल जाती। हिन्दी प्रेमी काफी उर्दू-साहित्य पढ़ते हैं, उर्दू प्रेमियों को इस विषय में उनसे होड़ करनी चाहिए।

उर्दू की रक्षा करना और उसकी स्वस्थ विशेषताओं से सीखना हिन्दी के हित में है। उसका बोलचाल का रूप, कहावतें और मुहावरे हमारी भाषा की सम्पत्ति हैं। सैकड़ों शेर या उनके टुकड़े कहावतों का रूप ले चुके हैं। वे हमारी सांस्कृतिक सम्पत्ति का अंग हैं।

उर्दू में अरबी-फारसी के शब्द होने से उसके लिखने-बोलनेवाले देशद्रोही नहीं हो जाते।

दरो दीवार पै हसरत से नजर करते हैं।
खुश रहो अहलेवतन हम तो सफर करते हैं।।

इस तरह के शेर उन लोगों ने गुनगुनाये थे जिन्होंने अपना रक्त देकर अपनी देशभक्ति प्रमाणित की थी। हमारा उद्देश्य हिन्दीभाषी प्रदेश की सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करना, उसके साहित्य को जनता के हित में विकसित करना है। इसीलिए हम चाहते है कि हिन्दी-उर्दू-प्रेमी एक-दूसरे के निकट आएँ, यहाँ अंग्रेजी की जगह अपनी भाषा प्रतिष्ठित करे और उसके विकास मे मिल-जुलकर योग दें।

स्वर्गीय पद्मसिंह शर्मा ने अपने 'हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी' वाले प्रसिद्ध भाषण में हिन्दी-उर्दू की एकता के सम्बन्ध मे कहा था, "कुटुम्ब के बँटवारे की तरह भाषा का यह बँटवारा भी कुटुम्ब-कलह और सम्पत्ति-विनाश का कारण है, बहुत-से सम्पन्न घराने बँटवारे की बदौलत टुकड़े-टुकड़े होकर बिगड़ गये, राज-परिवार भिखारी बन गये··· यदि हिन्दी-उर्दू दोनों संयुक्त परिवार की दशा में आ जाएँ, तो फिर इसकी साहित्य-सम्पत्ति का संसार की कोई भाषा मुकाबला न कर सके।" इसमे सन्देह नहीं कि हमारे प्रदेश के हिन्दुओं, मुसलमानों तथा अन्य धर्मवालो में रचनात्मक प्रतिभा की कमी नहीं है। उर्दू किसकी सेवा करेगी ? पाकिस्तान के पंजाबियों, बंगालियों, पठानों और सिंधियों की या अपने प्रदेश के लोगों की ? यह युग जनतन्त्र का है। हिन्दी-उर्दू एक ही जनता की सेवा करेंगी, इसलिए उनका संयुक्त परिवार बनना अनिवार्य है। (१९५८)

२०

जातीय प्रतिद्वन्द्विता और हिन्दी

देश के स्वाधीन होने के बाद जातीयता का भाव तेजी से बढ़ा है। हम गुजराती हैं, बंगाली हैं, मलयाली या आन्ध्र हैं—अपने प्रदेश, भाषा और संस्कृति से सम्बन्धित इस भाव को हम जातीयता का भाव कहते हैं। कुछ वर्ष पहले पढ़े लिखे लोगों की बातचीत में एक शब्द अक्सर सुनाई देता था—'प्रोविन्शल'। जब हम किसी को अपनी भाषा और साहित्य की बेहद बड़ाई करते देखते थे तो कहते थे—ये लोग बड़े प्रोविन्शल होते हैं।

अपनी भाषा, जाति, प्रदेश, उसकी संस्कृति आदि पर गर्व करना बुरी बात नहीं है। इन अनेक जातियों से ही भारत राष्ट्र की रचना हुई है। इन प्रदेशों की विभिन्न संस्कृतियों से मिलकर ही भारतीय संस्कृति का निर्माण होता है। इसलिए अपने प्रदेश और उसकी संस्कृति को भुलाकर राष्ट्रीयता और भारतीय संस्कृति की बात करना सम्भव नहीं है।

इसमें एक परिणाम यह भी निकलता है कि अपनी भाषा और उसके साहित्य को ही श्रेष्ठ समझने का फेर देश की प्रगति के लिए हानिकर हो सकता है। हम एक-दूसरे से सीखकर, मिल जुलकर आगे बढ़ने के बदले जातीय प्रतिद्वन्द्विता में फँस जाएँगे और अपनी शक्ति का काफी भाग अपनी जातीय श्रेष्ठता सिद्ध करने में व्यय करेंगे। अत: जातीयता के इस खतरे को स्वीकार करते हुए यह मानना होगा कि उचित मात्रा में जातीयता की चेतना विकास के लिए आवश्यक है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि हिन्दी भाषियों में—विशेषकर पढ़े लिखे मध्यवर्ग के लोगों में—यह जातीयता का भाव उचित मात्रा में विद्यमान है या नहीं।

जातीयता की बात चलने पर कुछ मित्र कहते हैं—हिन्दी राष्ट्रभाषा है, हम सारे राष्ट्र की बात सोचते हैं, किसी प्रदेश के बारे में सोचने की संकीर्णता क्यों दिखाएँ?

देश की परिस्थितियाँ ऐसी हैं जो हिन्दी-भाषियों में न चाहने पर भी जातीयता का भाव उभार रही हैं। इनमें एक उल्लेखनीय परिस्थिति अहिन्दी भाषियों से हमारा सम्पर्क है। यातायात के साधनों के विकसित होने और आर्थिक कारणों से हजारों आदमियों को

एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश जाना पड़ता है या अपने प्रदेश में ही अन्य भाषाएँ बोलनेवालों से मिलना पड़ता है। इस जातीय प्रतिद्वन्द्विता का एक बहुत बड़ा केन्द्र कलकत्ता है। इस नगर से हिन्दी का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। 'भारत-मित्र' और 'मतवाला' जैसे पत्र यहीं से निकले हैं, निराला और उग्र जैसे लेखक यहाँ अपनी साहित्य-साधना कर चुके हैं। आज भी हिन्दी भाषा और साहित्य की प्रगति में कलकत्ता की भूमिका नगण्य नहीं है। यहाँ आकर हिन्दी-भाषी व्यक्ति को यह बार-बार सुनने को मिलता है कि वह हिन्दुस्तानी है। हिन्दी-भाषी प्रदेश के लिए 'हिन्दुस्तान' शब्द का प्रयोग काफी पुराना है। हिन्दी-भाषियों की चेतना में यह शब्द सारे देश का वाचक ही रहा है। हिन्दी-भाषी प्रदेश का कोई विशेष नाम प्रचलित नहीं है। इस नाम के अभाव में हिन्दी-भाषी जाति का अस्तित्व मिट नहीं जाता। अन्य जातियों के सम्पर्क में आने से हिन्दी-भाषी व्यक्ति को विवश होकर सोचना पड़ता है कि उनकी जाति क्या है। ऐसी परिस्थिति में अपनी जातीयता से सम्बन्धित कुछ बातें स्मरण रखना आवश्यक है।

सबसे पहले हिन्दी-भाषी जनता में जातीय चेतना के अपेक्षाकृत अभाव पर ध्यान देना चाहिए। जिस समय सारे देश में भाषा के आधार पर प्रान्त अथवा राज्य-निर्माण चर्चा चलती रही है, हमारे प्रदेश में अनेक राज्यों को मिलाकर विशाल हिन्द प्रदेश के गठन का आन्दोलन नहीं चला। इसके विपरीत उत्तर प्रदेश को ही विभाजित करने की बात कुछ राजनीतिज्ञों में सुनाई दी। अन्यत्र भाषाओं के आधार पर प्रान्त-निर्माण करने से—विशेषकर दक्षिण में—छोटे राज्यों का चित्र सामने आता था। किन्तु हिन्दी-भाषियों को एक प्रदेश में संगठित करने से अनेक राज्यों में एक बड़ा राज्य बनता था। विभाजन के बदले स्पष्ट ही देश की एकता दृढ़ होती थी। किन्तु इस ओर किसी राजनीतिक दल ने ध्यान नहीं दिया। यह स्थिति हमारे प्रदेश में जातीय चेतना के अपेक्षाकृत अभाव का प्रमाण है।

इस स्थिति के अनेक कारण हैं। हिन्दी-भाषी प्रदेश असाधारण रूप से विशाल है। उसमें भारत के किसी भी भाषा-क्षेत्र की तुलना में बोलियों की संख्या अधिक है। इस क्षेत्र में ब्रज, अवधी और मैथिल जैसी बोलियाँ हैं जिनका अपना विशाल साहित्य-भण्डार है। अनेक लोगों के मन में अब भी यह दुविधा है कि ये बोलियाँ दरअसल बोलियाँ हैं या हिन्दी से स्वतन्त्र भाषाएँ हैं। यातायात के साधनों का समुचित विकास न होने और उद्योग-धन्धों और व्यापार में हमारे प्रदेश के अनेक भागों के पिछड़े रहने से यह जातीय एकता का भाव विशृंखल-सा रहा है। इन बोलियों की समस्या के अलावा हमारे यहाँ हिन्दी-उर्दू की विशेष समस्या रही है। बोलचाल की भाषा के दो शिष्ट या साहित्यिक रूप होने से जातीय गठन में बाधा पड़ती रही है। एक ही दिशा में बढ़ने के बदले सांस्कृतिक शक्तियाँ दो दिशाओं में बँट गई थी। ये परिस्थितियाँ अब धीरे-धीरे बदल रही हैं।

इस प्रदेश के इतिहास के बारे में दो-चार बातें उल्लेखनीय हैं। संस्कृत भाषा और

साहित्य में हमारे प्रदेश का घनिष्ठ जातीय सम्बन्ध है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से संस्कृत से जितना सम्बन्ध हिन्दी और उसकी बोलियों का है उतना अन्य भारतीय भाषाओं और उनकी बोलियों का नहीं। संस्कृत साहित्य के विशाल भण्डार में भारत के सभी प्रदेशों के विद्वानों ने अपनी ज्ञानराशि संचित की है। फिर भी इस साहित्य के अधिकांश भाग की रचना उन लोगों ने की है जो वर्तमान हिन्दी-प्रदेश के निवासी थे। पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है।

आगे चलकर तुर्की बोलनेवाली अनेक जातियाँ यहाँ आईं। पश्तो, फारसी आदि अन्य विदेशी भाषाएँ बोलनेवाले जन भी यहाँ आये। एक-दो पीढ़ी के बाद वे अपनी पूर्व जातीयता खोकर यहाँ के लोगों में घुल-मिल गए। इसका एक रोचक प्रमाण बाबर-वंश से तुर्की भाषा का गायब होना है। बाबर की मातृभाषा तुर्की थी किन्तु उसके वंशज घर में तुर्की न बोलते थे। फारसी उनकी मातृभाषा न थी, साहित्यिक और राजनीतिक क्षेत्र में व्यवहार के लिए स्वीकार की हुई वह एक विदेशी भाषा थी—यद्यपि वह ईरानियों की ही भाषा थी और संस्कृत से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था। सभी मुसलमानों की भाषा फारसी नहीं थी—यह तथ्य स्मरण रखना चाहिए। भारत के विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में मुसलमानों की वही भाषा थी जो वहाँ के हिन्दुओं या अन्य धर्मवालों की थी। इसलिए यह समझना कि हिन्द-प्रदेश के मुसलमान किसी फारसी बोलनेवाली जाति के थे अथवा उनकी अलग जातीयता आज तक सुरक्षित है, सही नहीं है।

तीसरा महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य १८५७ के स्वाधीनता संग्राम से सम्बन्धित है। भारतीय जातियों का परस्पर सम्बन्ध सौ वर्ष पहले आज से भिन्न था। १८५७ में आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से हिन्द-प्रदेश भारतीय जीवन की धुरी था। सन् सत्तावन का स्वाधीनता संग्राम हिन्द-प्रदेश तक सीमित नहीं था। पंजाब, राजस्थान, महाराष्ट्र, हैदराबाद आदि प्रदेशों में भी संघर्ष हुए किन्तु मुख्य समरभूमि दिल्ली, झाँसी और शाहाबाद के विशाल त्रिकोण में सम्बद्ध थी इसमें सन्देह नहीं। सन् सत्तावन के संग्राम की मुख्य शक्ति हिन्द प्रदेश की हिन्दू मुसलमान जनता थी। अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने यहाँ के नगरों को उजाड़ डाला, यहाँ का व्यापार नष्ट कर दिया, भयंकर नरसंहार द्वारा उन्होंने यहाँ की जनता को भग्न और आतंकित करने में कुछ उठा न रखा। तब से जातीय सन्तुलन बदल गया। संख्या में विशाल होने पर भी आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से हमारी जाति बहुत-कुछ पिछड़ी रही। यह स्थिति धीरे धीरे बदल रही है।

भारत की अनेक समृद्ध भाषाओं की तुलना में हिन्दी गद्य का विकास विलम्ब से हुआ। खड़ी बोली का शिष्ट और सुसंस्कृत रूप पहले उर्दू के माध्यम से सामने आया। यदि हिन्दी गद्य का स्वतन्त्र विकास न होता, यदि उर्दू वास्तव में हमारी जातीय भाषा की भूमिका पूरी कर पाती तो हमारा गद्य-साहित्य आज बहुत समृद्ध होता। किन्तु हिन्दी शब्दों के बहिष्कार और फारसी-अरबी से ज्यादा शब्द उधार लेने के कारण उर्दू का

विकास भारत की अन्य भाषाओं से अलग एक निराली दिशा में हुआ। उर्दू में केवल दरबारी साहित्य नहीं है; खड़ी बोली के इस साहित्यिक रूप में राष्ट्रीय भावना और नये युग की चेतना प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। फिर भी शब्द-भण्डार की विशिष्टता के कारण वह हमारे जनपदों की बोलियों से दूर होती गई और हिन्दी गद्य का विकास अनिवार्य हो गया। यह प्रसन्नता की बात है कि उर्दू की बहुत सी पुस्तकें देवनागरी अक्षरों में छप रही हैं और हिन्दी साहित्य से सम्बन्धित बहुत-सी पुस्तकें उर्दू में निकली हैं। इनसे हमारी भाषा के दोनों साहित्यिक रूप एक-दूसरे के निकट आते हैं और एक मिली-जुली साहित्यिक भाषा की ओर बढ़ने की सम्भावनाएं उत्पन्न होती हैं।

जातीय प्रतिद्वन्द्विता का सामना करने के लिए यह आवश्यक है कि हिन्दी के सरल और मुहावरेदार रूप को ज्यादा-से-ज्यादा काम में लाया जाय। विशेष रूप से कथा-साहित्य में भाषा का साफ-सुथरा रूप आना जरूरी है। हिन्दी कथाकार जान-बूझकर कठिन भाषा नहीं लिखते। लेकिन सरलता ही काफ़ी नहीं है। बालमुकुन्द गुप्त और प्रेमचन्द की शैली ही की तरह भाषा इतनी आकर्षक होनी चाहिए कि पाठक स्वतः उसकी ओर खिचें। संस्कृत शब्दावली का प्रयोग करने से सारे भारत में हिन्दी लोकप्रिय हो जाएगी—यह धारणा कथा-साहित्य पर निगाह डालने से मिथ्या साबित होती है। हिन्दी और अहिन्दी-प्रदेशों में उन्हीं कथाकारों की रचनाएँ अधिक पढ़ी जाती हैं जो सरल और मुहावरेदार भाषा लिखने में सबसे आगे हैं।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास विलम्ब से हुआ, फिर भी यह विकास असाधारण वेग से हुआ है। पिछले साठ-सत्तर वर्षों में हिन्दी ने प्रेमचन्द जैसे उपन्यास-कार, निराला जैसे कवि, प्रसाद जैसे विचारक, कवि और नाटककार, बालमुकुन्द गुप्त जैसे व्यंग्य लेखक, हरिश्चन्द्र और बालकृष्ण भट्ट जैसे पत्रकार, महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे आलोचक और सम्पादक, वृन्दावनलाल वर्मा जैसे ऐतिहासिक उपन्यासकार उत्पन्न किए हैं। इन सबकी रचनाएँ न केवल हिन्दी साहित्य वरन् भारतीय साहित्य के इतिहास में उल्लेखनीय रहेंगी। साठ-सत्तर वर्ष की छोटी अवधि में हिन्दी साहित्य की कुछ जातीय विशेषताएँ उभरकर सामने आती हैं। इनमें प्रमुख विशेषता है जिन्दादिली। भारतेन्दु-युग के साहित्यकारों की जिन्दादिली का कहना ही क्या? भयानक कठिनाइयों का सामना करने पर भी वे अपनी विनोदप्रियता और उत्साह की रक्षा कर सके। कुछ लोग कहते हैं कि हिन्दी में हास्यरस का अभाव है लेकिन हिन्दी का शायद ही कोई लेखक हो जो व्यंग्य-विनोद से पूरी तरह बचकर सदा गम्भीर बना रहा हो। गम्भीर आलोचक रामचन्द्र शुक्ल तक रीतिकालीन कवियों की चर्चा होने पर अपनी विनोदप्रियता का दमन न कर पाते थे। छायावादी लेखक निरालाजी के रेखाचित्रों—'देवी', 'चतुरी चमार' आदि—और अनेक आलोचनात्मक निबन्धों—'कला के विरह में जोशीबन्धु' आदि—में उनका व्यंग्य-विनोद देखते ही बनता है। प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में—विशेषकर उनकी कहानियों में—उनका व्यंग्य अन्तर्धारा के समान प्रवाहित है। हम कह सकते हैं कि जिन्दादिली

हिन्दी-साहित्य की एक जातीय विशेषता है।

दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता हिन्दी लेखकों का राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन से सम्बन्ध, विशेषकर ग्रामीण जीवन से उनका गहरा सम्बन्ध है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके युग के अधिकांश लेखक देश में स्वाधीनता-प्रेम और नई राष्ट्रीय चेतना का प्रसार करते रहे थे। किसान-जीवन से प्रेमचन्द का कितना गहरा सम्बन्ध था, इसे सभी लोग जानते हैं। इसी कारण वे भारतीय साहित्य में एक नये यथार्थवाद की प्रतिष्ठा कर सके। प्रसाद जैसे साहित्यकार ने भी 'तितली' में प्रेमचन्द के समान किसानों का चित्रण किया। ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा की रचनाओं में बुन्देलखण्ड की लोक-संस्कृति का वैभव देखने को मिलता है। नागार्जुन जैसे लेखकों ने इस परम्परा को सुरक्षित रखा है। अमृतलाल नागर ने निम्न मध्यवर्ग और ध्वस्त होती हुई सामन्ती संस्कृति के अनुपम चित्र देकर इस यथार्थवाद को व्यापक और प्रशस्त बनाया है। हिन्दी साहित्य की मुख्य धारा समाज निरपेक्ष न होकर समाज से पूर्णतः सम्बद्ध है। हिन्दी साहित्य का यह यथार्थवादी पक्ष उसका सबल पक्ष है और हम उस पर उचित अभिमान कर सकते हैं।

हिन्दी साहित्य की इस प्रगति और जातीय प्रतिद्वन्द्विता में हिन्दी की स्थिति को ध्यान में रखते हुए नई कविता से सन्तोष नहीं किया जा सकता। यह धारा अन्तर्मुखी, सामाजिक जीवन की उपेक्षा करनेवाली और कलात्मक सौन्दर्य से हीन है। हिन्दी को हास्यास्पद बनाने के लिए पारिभाषिक शब्दावली के कुछ नमूने और नई कविता की कुछ चुनिन्दा पंक्तियाँ उद्धृत करना काफी होता है। नई कविता के समर्थक वर्तमान काल में हिन्दी के जातीय और राष्ट्रीय दायित्व को पहचानते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। आधुनिक हिन्दी कविता को समृद्ध करनेवाले ऐसे बहुत से कवि हैं जो नई कविता के रंग ढंग से दूर हैं। फिर भी यह मानना होगा कि दिनकर, सुमन, नरेन्द्र के बाद के कवियों की पीढ़ी उतनी समर्थ नहीं है। आधुनिक हिन्दी कविता की तुलना में हिन्दी कथा साहित्य आगे बढ़ा हुआ है।

हिन्दी पढ़ने लिखनेवाले अहिन्दी-भाषियों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। वे जब हिन्दी पढ़ते हैं तब अपनी भाषा के साहित्य से हठात् उसकी तुलना भी करते हैं। उनका दृष्टिकोण हमसे अधिक आलोचनात्मक होता है। ऐसे लोगों की संख्या निकट भविष्य में और भी बढ़ेगी। इसीलिए जातीय प्रतिद्वन्द्विता के इस युग में हिन्दी लेखकों का दायित्व बहुत बढ़ गया है। साहित्य के हर क्षेत्र में उनसे असाधारण परिश्रम की अपेक्षा है। आधुनिक साहित्य के विकास में हम कुछ देर से शामिल हुए हैं। विलम्ब से होनेवाली क्षति पूरी करनी है। हमारी जाति संख्या में भारत की सभी जातियों से बड़ी है और विश्व की तीन चार भाषाओं में—जिनके बोलनेवालों की संख्या सबसे अधिक है—हिन्दी भी है। परिमाण से सन्तोष न करके उसे गुणात्मक रूप से समृद्ध करना हमारा कर्तव्य है। व्यापार के प्रसार से हिन्दी में पुस्तक प्रकाशन खूब बढ़ा है। शोध प्रबन्धों से लेकर उपन्यासों तक सैकड़ों पुस्तकें हर साल प्रकाशित होती हैं। जल्दी लिखने और पुस्तकें छापने का मोह

अनेक लेखकों को खींचता है। साधना के बिना साहित्य का स्तर ऊँचा नहीं हो सकता। पुस्तकों की भारी संख्या साहित्य की गरिमा का प्रमाण नहीं है। यदि सम्भव हो तो प्रत्येक हिन्दी लेखक को कुछ दिन के लिए अपना प्रदेश छोड़कर किसी अन्य भाषा-क्षेत्र में जाना चाहिए, वहाँ की साहित्यि गतिविधि से परिचित होना चाहिए, छिद्रान्वेषण के बदले वहाँ की अच्छी बातें सीखने का प्रयत्न करना चाहिए और धैर्य से हिन्दी के सम्बन्ध में अहिन्दी-भाषियों की राय सुननी चाहिए। इससे आत्मसन्तोष की ग़लत भावना कम होगी और नई लगन से साहित्य-साधना करने की प्रेरणा मिलेगी। देश की वर्तमान परिस्थितियों में केवल हिन्दी-भाषी प्रदेशों तक—उनमें भी केवल बिहार या उत्तर प्रदेश तक, और इनमें भी अक्सर इलाहाबाद, बनारस या पटना तक—अपना दृष्टिकोण सीमित करके साहित्यकार विशेष प्रगति नहीं कर सकते। अपनी जातीय संस्कृति पर उचित गर्व करते हुए उस गर्व को अहंकार और दम्भ में परिवर्तित होने से बचाते हुए, भारत की सभी जातियों में सद्भावना और मैत्री को बढ़ाते हुए एक उदार दृष्टिकोण के आधार पर हम अपने प्रदेश के साथ समग्र देश की प्रगति में सहायक हो सकते हैं। (१६५६)

२१

राष्ट्रभाषा अंग्रेजी

सर्व-प्रभुत्व-सम्पन्न भारतीय गणराज्य की लोकसभा में पिछले महीने इस प्रश्न पर दिलचस्प बहस हुई कि अंग्रेजी को भारत की एक राष्ट्रभाषा माना जाय या नहीं। हिन्दी में जब हम राष्ट्रभाषा की बात करते हैं तब उसका अर्थ यह होता है कि सारे राष्ट्र के विभिन्न प्रदेशों में परस्पर-व्यवहार की भाषा। पहले अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भारतीय समस्याओं पर विचार करनेवाले विद्वान् इसी अर्थ में (अथवा प्राय: इस अर्थ में) 'द नेशनल लैंग्वेज' की चर्चा करते थे। लेकिन अब वही या उनमें से अनेक विद्वान् 'ए नेशनल लैंग्वेज' की बात करने लगे हैं अर्थात् भारत राष्ट्र में जितनी भाषाएँ बोली जाती हैं, वे सभी राष्ट्र के अन्दर ही बोली जाने से राष्ट्रभाषाएं हैं।

एक विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में पुस्तकें मँगाने का काम अर्थशास्त्र के एक आचार्य को सौंपा गया। वह अंग्रेजी के लिए निर्धारित रकम भी अर्थशास्त्र की पुस्तकों के लिए खर्च कर देते थे। आपत्ति करने पर उन्होंने उत्तर दिया— आप देखते नहीं, ये अर्थ-शास्त्र की पुस्तकें भी तो अंग्रेजी में लिखी हुई हैं!

उसी तरह राष्ट्र में जो भाषा भी कहीं बोली जाय, वह राष्ट्रभाषा है!

वस्तुतः राष्ट्र के लिए अंग्रेजी में कोई पर्यायवाची शब्द नहीं है। नेशन और नेशनल के लिए राष्ट्र और राष्ट्रीय शब्दों का प्रयोग होता है किन्तु इस प्रयोग को उचित मानें तो 'मल्टीनेशनल कंट्री' का अनुवाद बहुराष्ट्रीय राष्ट्र होगा (अर्थात् एक देश में अनेक राष्ट्र हैं!)। हिन्दी में राष्ट्र शब्द देश के समकक्ष है, उससे घटकर नहीं है। यह भी हिन्दी का दोष है कि अंग्रेजी जैसी समृद्ध भाषा में हिन्दी जैसी दरिद्र भाषा के राष्ट्र शब्द का कोई नपा-तुला पर्याय नहीं है। और हो भी क्यों? राष्ट्र कहते ही शुद्ध दकियानूसीपन की गन्ध नहीं आती क्या जैसे हिन्दी कहते ही देहातीपन की बू आने लगती है?

अंग्रेजी 'इंग्लिश'! 'नेशन'! कितने साफ़ सुथरे शब्द हैं! मुंह से निकलते ही चेहरा खिल उठता है! इसीलिए अंग्रेजी 'ए नेशनल लैंग्वेज' भी है, 'द नेशनल लैंग्वेज' भी है। वह भारत राष्ट्र में बोली जानेवाली अनेक भाषाओं में एक है और इन अनेक में एकमात्र नेक भाषा है।

ऐंग्लो इंडियन-कुल-कमल दिवाकर श्री फ्रैंक ऐन्थनी एम० पी० ने लोकसभा में

कहा कि कुछ लोग अंग्रेज़ी का नाश करने पर तुले हुए हैं। इनमें अग्रगण्य वे हैं जिनकी मातृभाषा हिन्दी है। ये हिन्दी-प्रेमी समझते हैं कि हिन्दी तब तक राजकाज की भाषा न बनेगी, जब तक अंग्रेज़ी का नाश न किया जाएगा।

श्री ऐण्टनी ने यह नहीं कहा कि अंग्रेज़ी को राजभाषा बनाये रखने के लिए हिन्दी का नाश करना ज़रूरी है। किन्तु इससे पहले अनेक अवसरों पर वह हिन्दी के लिए लोक-सभा में जिन विशेषणों का प्रयोग कर चुके हैं, उनसे यही ध्वनि निकलती है।

श्री ऐण्टनी इतिहास में भी दखल रखते हैं। उन्होंने राष्ट्रभाषा-समस्या के दायरे से बाहर निकलकर भारतीय इतिहास का विहंगावलोकन करते हुए घोषित किया, "द हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया बिफोर द ऐडवेण्ट ऑफ़ इंग्लिश वाज़ द हिस्ट्री ऑफ ट्राइबलिज्म।" (९ अगस्त, १९५९ के 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' में प्रकाशित विवरण)। अर्थात् अंग्रेज़ों के आने से पहले भारत का इतिहास कबीलों का इतिहास था।

कबीलों को शिक्षित करने, उन्हें राष्ट्रीय एकता का पाठ पढ़ाने, उनकी आदिम बर्बरता को दूर करने का काम अंग्रेज़ों ने किया। अंग्रेज़ शासकों को राष्ट्रीयता से इतना प्रेम था कि यहाँ से विदा होते समय वे एक के बदले दो राष्ट्र बना गए!

श्री फ्रैंक ऐण्टनी ने अपनी सहज विनम्रता से यह नहीं कहा कि सभ्यता के वाहन अंग्रेज़ शासकों के नामलेवा और पानीदेवा ऐंग्लो-इंडियन सम्प्रदाय के ऐण्टनी जैसे नेता अभी बचे रह गए हैं।

लेकिन ऐण्टनी महोदय देशभक्ति में किसी से पीछे नहीं। आज जब देश के अनेक कर्णधार जनता को यह समझाते नहीं थकते कि अंग्रेजों की पुरानी अत्याचार-गाथा भूल जाओ, नये सिरे से सत्य और अहिंसा के आधार पर उनसे मैत्री-सम्बन्ध कायम करो, तब भारतीय गणतंत्र की लोकसभा में श्री फ्रैंक ऐण्टनी ने माननीय सदस्यों को सूचित किया कि वह ऐंग्लो-इंडियन सम्प्रदाय का इतिहास लिख रहे हैं और वे ही जानते हैं (उनका दिल जानता है!) कि अंग्रेज़ी राज ने जितना नुकसान 'ऐंग्लो-इंडियन कम्युनिटी' का किया है, उतना और किसी का नहीं! उन्होंने सखेद निवेदन किया कि १८०६ से पहले ऐंग्लो-इंडियन कम्युनिटी के सदस्य सैनिक और श्रेष्ठी (मर्चेण्ट-प्रिंसेज) होते थे (और इस रूप में भारत राष्ट्र की सेवा करते थे!) किन्तु १८०६ के बाद वे उस गौरवशाली स्थान से हटा दिये गए। श्री ऐण्टनी के अनुसार अंग्रेज़ शासकों को सन्देह था कि वे हिन्दुस्तानियों से मिलकर किसी दिन विद्रोह कर देंगे।

उदारमना, सुसंस्कृत अंग्रेज शासकों की राज्यसत्ता का आधार शायद इतना व्यापक था कि उन्हें भारतीय जनता से ही भय नहीं था, वरन् उनसे भी संकट की आशंका थी जो अपने को अंग्रेज़ों का वंशज मानने में गर्व और गौरव का अनुभव करते थे, भले ही अंग्रेज़ रक्त सम्मिश्रण का सन्देह करके घृणा से मुँह फेर लेते हों। ऐंग्लो-इंडियनों से विद्रोह की शंका निर्मूल थी। १८०६ के पचास साल बाद, सन् अठारह सौ सत्तावन के साल अनेक ऐंग्लो-इंडियन देशभक्तों ने, हैदराबाद के निजाम और नेपाल के राना जंगबहादुर जैसे दूरदर्शी

राजनीतिज्ञों के समान ही प्रगतिशील अंग्रेजों की राज्यसत्ता फिर से स्थापित कराने में एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया। १९३७ में हर्बर्ट ऐरिक स्टार्क नाम के एक ऐंग्लो-इंडियन सज्जन ने 'द काल आफ द ब्लड' (खून की पुकार) नाम की पुस्तक लिखी थी। उसमें उन्होंने १८५७ में ऐंग्लो-इंडियनों की राष्ट्र-सेवा का चित्रण किया था। इसकी भूमिका में उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया था कि १७८६ के बाद (श्री ऐण्टनी के दिए हुए सन से कुछ वर्ष पहले) ऐंग्लो-इंडियनों को इस बात की मनाही कर दी गई थी कि वे ज़मीन खरीदें या फौज और सिविल सर्विस में ऊंची जगह पाएँ। फिर भी खून की पुकार तो खून की ही है, विशुद्ध अंग्रेज उसे कैसा भी खून समझें। स्टार्क ने गर्व से लिखा है कि लामार्टीनियर कॉलेज, लखनऊ के (ऐंग्लो-इंडियन) छात्रों ने रेजीडेंसी के घेरे के समय अंग्रेज सैनिकों के साथ रहकर उनकी अनुपम सेवा की, उनकी जूठी रकाबियाँ और गन्दे कपड़े धोये, चक्की पीसी, खाना पकाया और पंखा खींचा। इस सेवा का पुरस्कार छात्रों को क्या मिला, मालूम नहीं, लामार्टीनियर के प्रिंसिपल महोदय को ताल्लुकदार अवश्य बना दिया गया।

१८५७ में भारतीय सेना के साथ मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध लड़नेवाले कुछ गोरे अफसर भी थे। उनका उल्लेख करते हुए स्टार्क ने सगर्व लिखा है—अंग्रेजों में अंग्रेज तक लड़े, नहीं लड़े तो केवल ऐंग्लो-इंडियन !

श्री फ्रैंक ऐण्टनी भी कह सकते हैं—अंग्रेजों ने भी चाहे हिन्दी को राजभाषा स्वीकार कर लिया हो, नहीं स्वीकार किया है तो उन-जैसे एंग्लो-इंडियनों ने !

श्री एण्टनी के भाषण के समय चारों ओर से सदस्यों ने उस पर आपत्ति की और अपना तीव्र विरोध प्रकट किया। किन्तु प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने अंग्रेजी के भविष्य के सम्बन्ध में श्री ऐण्टनी को यथेष्ट आश्वासन दिया। कहना चाहिए, आश्वासन यथेष्ट से भी अधिक था क्योंकि प्रधानमन्त्री के भाषण के बाद श्री ऐण्टनी ने सन्तोष प्रकट करते हुए कहा कि उन्होंने जितने की आशा की थी, उससे भी अधिक प्रधानमन्त्री से उन्होंने पाया।

प्रधानमन्त्री अत्यन्त उदारचेता व्यक्ति हैं। सकीर्णता उनके स्वभाव के प्रतिकूल है। उनका अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण जितना व्यापक है, उतना ही और उससे कुछ अधिक ही व्यापक उनका राष्ट्रीय दृष्टिकोण है। विशेष रूप से उनका हिन्दी-सम्बन्धी दृष्टिकोण इतना व्यापक हो गया है कि अब वह कोण न रहकर रेखा बन गया है जिसमें चौड़ाई क्षीण होकर लम्बाई में परिवर्तित हो गई है।

—— भारत में कुछ लोग हिन्दी के हिमायती हैं, कुछ लोग अंग्रेजी के। पंचशील का तकाजा है कि दोनों का शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व कायम रहे। जैसे भारत की स्वाधीनता-रक्षा के साथ राष्ट्रीय सरकार ने देश में ब्रिटिश पूंजी के मुनाफे की रक्षा का भार भी लिया है, उसी तरह क्या अंग्रेजी का राजभाषा बना रहना हिन्दी के राष्ट्रभाषा बनने में सहायक नहीं हो सकता ? असली चीज़ है, दोनों के अलग अलग क्षेत्रों को पहचानना। यह पहचान

हासिल हो तो संघर्ष की नौबत ही न आए। भाषाएँ 'ओवरलैप' करती हैं; ओवरलैप करने से प्रधानमन्त्री का आशय क्या है, यह जितना हम समझते हैं, उतना अखबार पढ़कर आप भी समझ सकते हैं। 'लैंग्वेजेज टू ओवरलैप'—प्रधानमन्त्री के इस भाषाविज्ञानी सूत्र की व्याख्या करना हमारा काम नहीं।

प्रधानमन्त्री ने बताया कि पहले अंग्रेज़ी एक लादी हुई भाषा थी। फिर भी उसने आधुनिक ज्ञान के द्वार खोल दिये।

इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वर्तमान समय में जो लोग उस लादी हुई भाषा का लदाव अस्वीकार करके स्वेच्छा से उसे ढोते हैं, वे और भी जल्दी आधुनिक ज्ञान-भण्डार तक पहुँच जाएँगे। उनके लिए द्वार खोलने का सवाल भी न उठेगा; वे खिड़की या रोशनदान से ज्ञान-मन्दिर के आँगन में कूद पड़ेंगे !

प्रधानमन्त्री ने कहा कि ऐंग्लो-इंडियन सम्प्रदाय को पूर्ण अधिकार है कि वह अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा पाये। इसके सिवाय उन्होंने एक बात मार्के की और कही—"ऐंग्लो-इंडियन्स शुड बी गिविन एव्री फ़ैसिलिटी टु डिवेलप इंग्लिश लैंग्वेज।" ऐंग्लो-इंडियनों को यह पूर्ण अधिकार मिलना चाहिए कि वे अंग्रेज़ी भाषा को विकसित कर सकें। अभी तक हम सुनते थे कि हिन्दी को ही भाषा-रूप में विकसित करना आवश्यक है, वह पिछड़ी हुई भाषा है, उसका भाषागत अथवा साहित्यिक महत्त्व नहीं है, महज सुविधा के लिए, बोलनेवालों की विशाल संख्या के ही कारण उसे राष्ट्रभाषा या राजभाषा बनाना है, इसलिए उसे विकसित करना होगा। किन्तु सर्वज्ञान-समृद्ध, आधुनिकता की खान, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय महाभाषा अंग्रेज़ी को 'डिवेलप' कराना जरूरी है, और वह भी भारत के ऐंग्लो-इंडियन सम्प्रदाय द्वारा—इससे बड़ी सूझ-बूझ की बात लोकसभा में स्वयं प्रधानमन्त्री भी आगे कहेंगे, इसमें सन्देह है।

प्रधानमन्त्री ने अपनी नीति के समर्थन में कहा कि पांडिचेरी प्रदेश ('पांडिचेरी-टेरीटरी') की भाषा फ्रांसीसी है।

भले ही इस पांडिचेरी प्रदेश की भारतीय जनता की भाषा फ्रांसीसी न हो, लेकिन अगर एक यूरोपीय भाषा होने के नाते वहाँ उसे राजभाषा का पद मिल सकता है, तो सारे भारत में अंग्रेज़ी को राजभाषा—अथवा हिन्दी के साथ अतिरिक्त राजभाषा (और व्यवहार में एकमात्र राजभाषा) का पद क्यों नहीं दिया जा सकता ?

प्रधानमन्त्री ने कहा कि जो प्रदेश पुर्तगालियों के अधिकार में है, एक दिन वह भी भारत राज्य में मिल जाएगा। तब पुर्तगाली भी 'ए लैंग्वेज ऑफ़ इंडिया' (भारत की एक भाषा) होगी।

इससे स्पष्ट परिणाम निकला कि संविधान में उल्लिखित भारतीय भाषाओं में अंग्रेज़ी का नाम न होने पर भी वह है भारतीय भाषा ही !

लोकसभा के एक दक्षिण भारतीय सदस्य ने श्री ऐण्टनी के समर्थन में कहा कि दो शताब्दियों से भारत का बुद्धिजीवी वर्ग अंग्रेजी को अपनी भाषा के रूप में अपनाये

हुए हैं। देश की एकता के लिए यह आवश्यक है कि विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम एक ही भाषा अर्थात अंग्रेजी हो। प्रधानमन्त्री ने माननीय सदस्य की बात की चर्चा करते हुए कहा कि वह स्वयं भी चाहते हैं कि विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम एक ही भाषा अर्थात् अंग्रेजी रहे लेकिन उन्हें किसी तरह के दबाव से नफरत है, इन सब चीजों का सहज विकास ही वाञ्छनीय है। उन्होंने कहा कि हिन्दी के हिमायती जब दूसरों पर हिन्दी लादना चाहते हैं तो वह भी उन्हें नापसन्द है और अंग्रेजी के हिमायती अंग्रेजी लादें तो वह भी नापसन्द है।

नतीजा यह कि इन दो नापसन्दगियों के बीच अंग्रेजी हमारी पसन्द से, बिना किसी पर लदे हुए राजभाषा बनी रहती है।

अंग्रेजी के राजभाषा न रहने से क्या होगा ? प्रधानमन्त्री के अनुसार अंग्रेजी आधुनिक संसार की ओर खुलनेवाली बड़ी खिड़की है। 'वी डेयर नॉट क्लोज़ दैट विण्डो। इफ वी क्लोज़ इट, इट इज़ एट द पेरिल आफ अवर फ्यूचर।' (यह खिड़की हमें हर्गिज बन्द न करनी चाहिए। उसे बन्द किया तो हमारा भविष्य संकट में पड़ जाएगा।)

भारत का भविष्य यहाँ की निन्यानवे फीसदी जनता पर निर्भर नहीं है। भविष्य निर्भर है डेढ़ फीसदी अंग्रेजी जाननेवालों पर, जो इस खिड़की से आधुनिक संसार की ओर झाँकते हैं। इन डेढ़ फीसदी में भी बहुतों को खिड़की तक पहुँचने और बाहर झाँकने का सौभाग्य नहीं मिलता। अंग्रेजी व्याकरण, उसके बाद उच्चारण और उससे भी बढ़कर शब्दों के लेखन की ऐसी बाधाएँ हैं जो उन्हें झाँकने से रोकती हैं। इसी कारण कुछ प्रदेशों के मन्त्री और उपमन्त्री तक बहुधा अपने अंग्रेजीदाँ सेक्रेटरियों की पीठ का सहारा लेकर ही खिड़की से झाँकते हैं। झाँककर ये क्या पाते हैं, यह कहना कठिन है क्योंकि जनता से अधिक भाग्य-लक्ष्मी पर भरोसा होने के कारण वे ज्योतिष-शास्त्र को आधुनिक विज्ञान की चरम उपलब्धि मानते हैं।

प्रधानमन्त्री की युक्तिपूर्ण बातें कुछ समाचारपत्रों की समझ में नहीं आईं। इनमें ऐसे पत्र भी हैं जो हिन्दी के समर्थकों की आलोचना करते हैं और जिनकी भाषा अंग्रेजी है। उदाहरण के लिए, 'टाइम्स ऑफ इंडिया' ने १४ अगस्त की सम्पादकीय टिप्पणी में लिखा था, "राजभाषा के सम्बन्ध में लोकसभा की समिति ने अपने अत्यन्त तर्कसंगत विवरण में 'हिन्दी साम्राज्यवाद' के भय को निर्मूल कर दिया था। उसके बाद प्रधानमन्त्री द्वारा अधिक आश्वासन की अपेक्षा न थी। जो भय दूर हो चुके थे, उन्हें फिर से दूर करने के प्रयास में श्री नेहरू ने ऐसी बातें कहीं जो उन चरम-पंथियों के हाथ मजबूत करती हैं जो इस स्थिति को अस्वीकार करते हैं कि हिन्दी देश की राजभाषा हो।"

यह अखबार मानता है कि आधुनिक संसार को देखने के लिए अंग्रेजी खिड़की आवश्यक है लेकिन उसे खेद है कि श्री नेहरू आवश्यकता से अधिक आश्वासन दे गए। और हमें खेद है प्रेमचन्द की बुद्धि पर जो अंग्रेजी का राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व न समझकर उसे राष्ट्रभाषा माननेवाले देशभक्तों के लिए कह गए थे—"वे इतनी बुलन्दी

पर पहुँच गए हैं कि नीचे की धूल और गर्मी उन पर कोई असर नहीं कर सकती। वे मुअल्लक हवा में लटके रह सकते हैं। लेकिन हम सब तो हजार कोशिश करने पर भी वहाँ तक नहीं पहुँच सकते। हमें तो इसी धूल और गर्मी में जीना और मरना है। इंटेलीजेंशिया में जो कुछ शक्ति और प्रभाव है वह जनता ही से आता है। उससे अलग रहकर वे हाकिम की सूरत में ही रह सकते हैं, खादिम की सूरत में जनता के होकर नहीं रह सकते। उनके अरमान और मंसूबे उनके हैं, जनता के नहीं। उनकी आवाज उनकी है, उसमें जनसमूह की आवाज की गहराई और गरिमा और गम्भीरता नहीं है। वह अपने प्रतिनिधि हैं, जनता के प्रतिनिधि नहीं।" (१९५९)

२२

सोवियत संघ में भाषा-समस्या-समाधान

तोल्स्तोय ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'युद्ध और शान्ति' में एक क्लब की चर्चा की है जिसकी स्थापना इस उद्देश्य से की गई थी कि उसके सदस्य रूसी बोलें, जो रूसी न बोले वह जुर्माना दे। यह संस्था राष्ट्रीयता के आवेश में तब कायम की गई थी जब नेपोलियन मास्को के निकट पहुँच गया था। एक महिला सदस्य बीच में फ्रांसीसी बोलने लगती है और फिर भूल सुधारकर कहती है, आखिर इस बात को रूसी में कैसे व्यक्त करें! रूस के अभिजात वर्ग की यह फ्रांसीसी भक्ति भारत के बहुत से नौकरी-पेशा, नेता-पेशा भद्रजनों की अंग्रेजी-भक्ति से तुलनीय है। समाजवादी क्रान्ति ने यह विदेशी भाषा भक्ति खत्म कर दी।

समाजवादी क्रान्ति के बाद साम्यवादी नेता इस बात का इन्तज़ार नहीं करते रहे कि रूसी भाषा विकसित होकर फ्रांसीसी या जर्मन के बराबर हो जाय तब उसे राजभाषा बनाएँगे। उन्होंने रूसी को ही राजभाषा नहीं बनाया, उक्रैनी, जार्जियाई, बेलोरूसी आदि भाषाओं को भी राजभाषा बनाया। सोवियत संघ गणराज्यों का संघ है और प्रत्येक गणराज्य की अपनी राजभाषा है। जो जातियाँ पिछड़ी हुई थीं, जिनकी भाषाओं की लिपि नहीं थी, उन्हें भी लिपि-व्याकरण आदि से दुरुस्त करके स्वायत्त शासन के कार्यों के लिए चालू किया गया। जैसा कि गांधीजी ने कहा था, भारतीय भाषाओं के पिछड़ेपन की दुहाई देकर अंग्रेजी को बरकरार रखना आलस्य की निशानी है।

विभिन्न जातियों के बीच आपसी व्यवहार और केन्द्रीय राजकाज के लिए कोई भाषा हो या न हो? रूस में जातीय उत्पीड़न तीव्र था, इसलिए लेनिन ने यह नारा दिया कि कोई भी अनिवार्य केन्द्रीय राजभाषा न होनी चाहिए। साथ ही लेनिन ने अपने भाषा-सम्बन्धी लेखों में यह भी कहा कि सम्पूर्ण देश में लोग उस जाति की भाषा को आपसी व्यवहार के लिए स्वीकार करेंगे जिसके बोलनेवालों की संख्या ज्यादा होगी। इस तरह केन्द्रीय पार्टी-कार्यों और केन्द्रीय राजकाज के लिए रूसी भाषा का व्यवहार बराबर होता रहा।

पूँजीवादी बहुजातीय देशों और सोवियत संघ में केन्द्रीय भाषा की स्थिति में अन्तर है। सोवियत संघ में क़ानून से रूसी को केन्द्रीय भाषा नहीं बनाया गया, वह स्वेच्छा से

स्वीकृत हुई है। स्वेच्छा से स्वीकृत होने का सामाजिक आधार यह है कि किसी जाति के पूँजीपति दूसरी जाति के अधिकारों का दमन करने को नही बचे। इसके अलावा रूस में ग़ैर-केन्द्रीय भाषाओं को जितने अधिकार प्राप्त है, उतने किसी भी बहुजातीय पूँजीवादी देश में ग़ैर-केन्द्रीय भाषाओं को प्राप्त नही है। प्रत्येक गणराज्य (या रिपब्लिक) में उसकी अपनी राजभाषा है। स्वायत्त शासन-क्षेत्रों मे अन्य छोटी जातियों की भाषाओ में राजकाज होता है। युद्धकाल मे कालीनिन ने राजनीतिक कार्यकर्ताओं से कहा था कि वे सैनिकों से उन्ही की भाषा में बातचीत करे, तभी उनका प्रचार-कार्य सफल होगा। यू० एन० ओ० तक में उक्रैनी सदस्य अपनी भाषा का व्यवहार कर चुके है।

सोवियत संघ बहुजातीय देश है किन्तु वहाँ गणराज्यों की सरकारों के अलावा केन्द्रीय सरकार भी है। देश के राजकाज का सचालन करनेवाली पार्टी है जिसका संगठन-सिद्धान्त है जनवादी केन्द्रीयता। स्तालिन जार्जिया के थे लेकिन केन्द्रीय शासन और पार्टी-कार्य के लिए रूसी बोलते और लिखते थे। ख्रुश्चेव उक्रैनी हैं लेकिन पार्टी-काग्रेसों आदि में रूसी बोलते हैं। मिकोयान आर्मीनियन है। उनकी स्थिति भी वही है। रूसी जाने और उसका व्यवहार किये बिना वहाँ कोई राष्ट्रीय नेता नही बन सकता। इससे जो निष्कर्ष निकलते हैं, वे भारत के प्रगतिशील नेताओ के ध्यान देने योग्य हैं।

सोवियत सघ मे सौ से ऊपर जातियाँ है लेकिन इनके सोलह प्रजातन्त्र या गणराज्य ही है। प्रत्येक भाषा को लेकर एक राज्य क्यो नही बना? इसका कारण यह है कि रूसी नेताओं ने भाषा-समस्या को मूल सामाजिक समस्या के अधीन माना है, उससे स्वतन्त्र नहीं। मूल समस्या है, किसान-मजदूरों की मुक्ति की, समाजवाद के विकास की। आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से यदि किसी जाति का गणराज्य निर्बल पड़ता है तो उसे दूसरे के साथ मिलकर रहना होगा, अलबत्ता उसका अपना स्वायत्त शासन-क्षेत्र होगा जिसमें उसकी अपनी भाषा का व्यवहार जायज होगा। भारत में प्रत्येक भाषा को लेकर एक राज्य बने या न बने—यह प्रश्न मूल सामाजिक समस्या से अलग रखकर हल नहीं किया जा सकता।

सोवियत संघ में प्रत्येक जाति की भाषा को विकास की सुविधाएँ प्राप्त हैं। फिर भी ये अधिकार और जातीय समानता हर जगह सौ फीसदी एक-से नहीं है। रूसी भाषा हर नागरिक को सीखनी होती है; रूसी-भाषियों को दूसरी भाषाएँ उसी तरह नहीं सीखनी पड़ती। गणराज्य की भाषा वहाँ के प्रत्येक नागरिक को सीखनी होती है। जिनकी वह मातृभाषा नहीं है, उन्हें भी वह सीखनी होती है। यथा उक्रैनी गणराज्य मे उक्रैनी-भाषियों को मातृभाषा के अलावा रूसी सीखनी होगी; वहाँ उज़बेक हों तो वे उज़बेक के अलावा रूसी और उक्रैनी सीखेगे। इस तरह हर नागरिक को बराबर भाषाएँ नहीं सीखनी होती; किसी को एक, किसी को दो, किसी को तीन या अधिक परिस्थिति के अनुसार सीखनी होती हैं।

सोवियत संघ मे हर भाषा विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम नही है। निम्न-

स्तर के राजकाज और सांस्कृतिक कार्यवाहों के लिए मातृभाषा का ही व्यवहार किया जाता है। उच्च शिक्षा का माध्यम बनानेवाली भाषाओं की संख्या सीमित है और इनमें भी जितना उच्च अनुसंधान और शिक्षा-कार्य रूसी में होता है, उतना अन्य भाषाओं में नहीं। इस बात का ध्यान में रखने से राजस्थानी, पंजाबी आदि भाषाओं के प्रति न्याय करने की समस्या हल की जा सकती है। साथ ही इस बात पर ज़ोर देना आवश्यक है कि सभी सोवियत विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम रूसी नहीं है। उक्रैन की विज्ञान-अकादमी अपना विवरण आदि उक्रैनी में ही प्रकाशित करती है।

मूल बात यह है कि सोवियत-विधान जनता की सेवा के लिए है, सोवियत शिक्षा जनता को सुसंस्कृत करके उसे साम्यवाद की ओर ले जाने के लिए है। पूंजीवादी शोषण का समाप्त कर देने से सोवियत संघ में भाषा और धर्म को लेकर दंगे नहीं होते, सभी जातियां परस्पर सहायता और सहयोग का जीवन बिताती हैं। इसलिए वहां भाषा-समस्या भी सन्तोषजनक ढंग से हल कर ली गई है। (१९६१)

२३

हिन्दी-उर्दू की बुनियादी एकता

किसी जाति की भाषा-समस्या पर विचार करते हुए हमे सबसे पहले उसके बोलचाल के रूप पर ध्यान देना चाहिए। क्या बोलचाल के रूप में भी हिन्दी-उर्दू दो भाषाएँ हैं ? इसमें सन्देह नहीं कि बहुत कठिन हिन्दी और बहुत कठिन उर्दू बोली जा सकती है ; लेकिन आम लोग उन्हे बोलते नहीं हैं। इसलिए प्रेमचन्दजी का यह कहना ठीक था कि "बोलचाल की हिन्दी और उर्दू प्रायः एक-सी है।" उर्दू-हिन्दी के सर्वनाम एक हैं—वह, मैं, तू, हम इत्यादि। हिन्दी-उर्दू की क्रियाएँ एक ही हैं—जाना, सोना, खाना, पीना, करना, मरना, जीना, लिखना, पढ़ना इत्यादि। आजमाना, गुजरना, लरजना जैसी क्रियाएँ बहुत थोड़ी हैं, कुल मिलाकर एक दर्जन से ज्यादा नही, जो फारसी-अरबी शब्दों के आधार पर बनी हैं। वे हिन्दी में मतरूक (उपेक्षित) नहीं है। बोलचाल में उनका प्रयोग बराबर होता है। हिन्दी-उर्दू के सम्बन्धवाचक शब्द—मे, पर, से, का आदि—वही हैं जो हिन्दी के। दोनों का मूल शब्द-भण्डार भी एक है ; लेकिन यहाँ बहुत दिनो तक फारसी के राजभाषा रहने से हिन्दी शब्दो के फारसी या अरबी पर्यायवाची शब्द प्रचलित हो गए हैं—जैसे देश-मुल्क, आकाश-आसमान, धरती-जमीन, भाषा-जबान, किसान-काश्तकार, नदी-दरिया, रोगी-बीमार इत्यादि।

इन शब्दों का व्यवहार बोलचाल की हिन्दी-उर्दू में बिना किसी भेदभाव के होता है। देश, आकाश, धरती जैसे शब्द उर्दू-साहित्यकारों की रचनाओं में मिलेंगे और मुल्क, आसमान, जमीन जैसे शब्द हिन्दी-साहित्यकारों की रचना मे। इसके सिवाय हल, बैल, खेत, खलिहान, बीज, जुताई, बुवाई, कारखाना, मजदूर, काम, छुट्टी आदि हजारों ऐसे शब्द हैं, जिनके पर्यायवाची शब्द बोलचाल की भाषा में व्यवहृत नही होते, साहित्यिक भाषा में भले होते हों। लखनऊ और हैदराबाद के हिन्दू-मुसलमान बोलचाल की भाषा में फारसी शब्दों का व्यवहार ज्यादा करेंगे, उन्ही फारसी शब्दों की जगह बिहार और मध्य प्रदेश के मुसलमान हिन्दी या संस्कृत शब्दों का प्रयोग करेंगे। यह स्थानीय भेद हुआ, इससे दो भाषाओं का निर्माण नहीं होता। हिन्दी-उर्दू का व्याकरण एक, वाक्य-रचना एक-सी, शब्द-भण्डार और क्रियाएँ एक-सी—इसीलिए हिन्दी-उर्दू-भाषियों की दो कौमें नहीं हैं। उनकी जाति एक है और बोलचाल की भाषा एक है।

हिन्दी-उर्दू में सबसे पहला भेद लिपि का है। लिपि लिखने के काम आती है, न कि बोलने के। इसीलिए लिपि-भेद को हम बुनियादी भेद नहीं मानते। हिन्दी-उर्दू में दूसरा भेद है शब्द-भण्डार का। यह भेद साधारण लोगों की बोलचाल में बिलकुल नहीं है, पढ़े-लिखे लोगों में बहुत थोड़ा है और भाषा के लिखित रूपों में बहुत ज्यादा है। बोलचाल में जो शब्द सामान्य सम्पत्ति हैं, लिखते समय उनमें भी अलगाव करने की प्रवृत्ति देखी जाती है। धरती, आकाश, किसान, नदी, भाषा, रोगी, देश जैसे शब्द उर्दू में कम मिलेंगे, कारखाना, दरिया, आसमान, जबान जैसे शब्द साहित्यिक हिन्दी में कम मिलेंगे।

लेकिन मूल भेद दूसरा है। दर्शन, राजनीति, साहित्य आदि में जब हमें ऐसे शब्दों की जरूरत होती है, जो किसान-मजदूरों की बोलचाल में नहीं हैं, तो उर्दू लेखक अरबी-फारसी से उधार लेते हैं, हिन्दी लेखक संस्कृत से। राजनीति-सियासत, साहित्य-अदब, लिपि-रस्मुलखत, भाषाविज्ञान-लसानियात, आलोचना-तनकीद, अन्तर्राष्ट्रीय-बैनुलअकवामी, इतिहास-तारीख, जनतन्त्र-जम्हूरियत, कोण-जुगत—मुल्तन इस तरह की शब्दावली हिन्दी-उर्दू में अलगाव उत्पन्न करती है।

पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि हिन्दी-उर्दू का यह अलगाव हमारे जातीय विकास के लिए घातक है। पढ़े-लिखे लोगों की शक्ति एक जगह सिमटकर पूरी जाति को आगे बढ़ाने के बदले बिखर जाती है और लिपि के आधार पर पाठक-वर्ग दो हिस्सों में बँट जाता है। यदि भाषा और साहित्य उच्च वर्गों के थोड़े-से पढ़े-लिखे आदमियों के लिए ही हो, तो वे चाहे उर्दू में मनोरंजन करें, चाहे हिन्दी में, बाकी जनता इस मनोरंजन से दूर रहेगी। लेकिन सवाल है देश के साधारण लोगों का, मेहनत से अन्न पैदा करनेवालों और पंचवर्षीय योजनाएँ पूरी करनेवालों का। भाषा और साहित्य इनके लिए हैं। समाजवादी व्यवस्था में सबसे पहले इन्हीं के लिए परिवर्तन होंगे। तब यह भाषा और लिपि का बँटवारा कब तक चलेगा?

समाजवादी व्यवस्था के निर्माण के लिए जनता का संगठन, उसकी शिक्षा और आन्दोलन जरूरी हैं। यदि एक ही कारखाने के मजदूर दो लिपियों से काम लेते हैं, तो इससे उनकी शक्ति कम होगी, उनकी संस्कृति में दरारें पड़ेंगी। इसके सिवाय हिन्दुस्तानी जाति दुनिया की सबसे बड़ी जातियों में है। अंग्रेजी बोलनेवाले बहुत हैं, लेकिन वे अनेक जातियों के हैं। एक ही भाषा बोलनेवाली कोई जाति हमसे संख्या में बड़ी हो सकती है, तो चीनी है। भारत की सभी जातियों में हमारी जाति सबसे बड़ी है, यह निर्विवाद है। ऐसी स्थिति में हमारी भाषा का राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है। स्पष्ट है कि हमारी भाषा अपनी पूरी ताकत से तभी प्रगति कर सकती है, जब उसमें जाति के सभी तत्वों का सहयोग हो।

हिन्दी-उर्दू को एक होना चाहिए—यह हमारे ऐतिहासिक विकास की माँग है। इसके लिए आवश्यक सांस्कृतिक आधार यह है कि साधारण जनता की बोलचाल की भाषा एक है। हमें इस एकता की ओर बढ़ने के लिए मजबूर करनेवाला सामाजिक कारण

देश का पिछड़ापन, जनता की गरीबी, समाजवादी निर्माण की आवश्यकता है। इसके सिवाय यह भी याद रखना चाहिए कि भारत के हर प्रदेश का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन अलग-अलग रहकर विकसित नहीं होता, वह अखिल भारतीय जीवन-प्रवाह की एक धारा है। और उस प्रवाह के साथ ही आगे बढ़ता है। यहाँ की भाषाएँ भी एक-दूसरे को प्रभावित करती रही हैं और करेंगी। भारत के हर जातीय प्रदेश की भाषा और लिपि एक हो, लेकिन हिन्द-प्रदेश की दो लिपियाँ और दो भाषाएँ हों, यह सम्भव नहीं है।

उर्दू अलग किसी कौम की भाषा नहीं है। इसलिए उसे इलाकाई जबान मनवाने के आन्दोलन का विरोध करना उचित है। किन्तु वह सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों की साहित्यिक भाषा है, इसलिए उसे पढ़ने-पढ़ाने और उसका व्यवहार करने की सुविधा मिलनी चाहिए। राजभाषा के रूप में हिन्दी होनी चाहिए, राजकाज के लिए दो लिपियाँ और उनमे लिखी हुई दो भाषाएँ नहीं हो सकतीं। हिन्दी-उर्दू के शब्द-भण्डार में काफ़ी आदान-प्रदान की गुंजाइश है। हिन्दी में बोलचाल के बहुत से शब्द साहित्यिक कृतियों में छोड़ दिये जाते हैं। बहुत से मुहावरे, कहावतें, बोलचाल के शब्द ऐसे हैं जो उर्दू में है, लेकिन जिनका प्रयोग हिन्दी में नहीं होता, कम होता है या ग़लत भी होता है। यह सब उर्दू से हिन्दी में आएगा। हमारी साहित्यिक भाषा ज्यादा सरल और मुहावरेदार होगी।

उर्दू में संस्कृत शब्दों से जो परहेज है, उसे कम होना है। भारत की भाषाओं के लिए अरबी-फारसी का वही महत्त्व नहीं है, जो संस्कृत का है। व्याकरण और मूल शब्द-भण्डार की दृष्टि से उर्दू संस्कृत-परिवार की भाषा है, न कि अरबी-परिवार की। इसलिए अरबी से पारिभाषिक शब्द लेने की नीति ग़लत है, केवल अरबी से शब्द लेने और संस्कृत शब्दों को मतरूक समझने की नीति और भी ग़लत है। भारत की भाषाएँ प्रायः संस्कृत के आधार पर पारिभाषिक शब्दावली बनाती हैं। उर्दू इन सब भाषाओं से न्यारी रहकर अपनी उन्नति नहीं कर सकती। जहाँ तक पाकिस्तान का सम्बन्ध है, यह याद रखना चाहिए कि वहाँ की भाषाएँ सिंधी, पंजाबी, पश्तो, बंगाली आदि हैं। उर्दू उनके अधिकार छीननेवाली राजभाषा है। पाकिस्तान में उर्दू का सामाजिक आधार बहुत ही संकुचित है। इसमें ज़रा भी सन्देह न होना चाहिए कि सिंध, पंजाब, पूर्वी बंगाल आदि प्रदेशों की जनता अपनी भाषाओं की रक्षा करेगी और उन्हीं के माध्यम से अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति करेगी। इसलिए यदि कोई यह सोचे कि पाकिस्तान उर्दू की रक्षा करेगा, तो यह उसका भ्रम है। पाकिस्तान बनने से उत्तर प्रदेश के मुसलमानों की न सामाजिक समस्याएँ हल हुईं, न उनकी भाषा-समस्या हल हो सकती है। इसीलिए उर्दू की समस्या का हल कहीं है, तो इसी हिन्द-प्रदेश में है, जहाँ की जनता में उसकी बोल-चाल का रूप कायम है।

शब्द-भण्डार में आदान-प्रदान सम्भव है, लेकिन लिपि मे इसकी सम्भावना बिलकुल नहीं है। उर्दू से अलिफ और हिन्दी से 'इ' लेकर कोई नई लिपि नहीं बनाई जा सकती। रोमन लिपि का सवाल नहीं है। हम अपनी लिपि छोड़कर रोमन लिपि न

अपनाएँगे। यदि रोमन लिपि कोई बहुत पूर्ण और वैज्ञानिक लिपि होती, तो उस पर विचार भी किया जाता। हिन्दी-उर्दू के लिपि-भेद को दूर करने के लिए रोमन लिपि को अपनाना वैसे ही है, जैसे हिन्दी-तमिल, मराठी गुजराती या बंगला-असमिया के झगड़ों को दूर करने के लिए अंग्रेजी को यहाँ राजभाषा रखना।

उर्दू लिपि के व्यवहार के लिए पूर्ण स्वाधीनता देते हुए प्रगतिशील विचारकों को चाहिए कि उर्दू-भाषियों को देवनागरी लिपि सिखाएँ। देवनागरी लिपि में उर्दू की जितनी किताबें छप रही हैं, उन्हें देखते हुए यह अनुमान होता है कि आगे चलकर देवनागरी लिपि में ही उर्दू के लेखकों की रचनाएँ छपेंगी। साक्षरता-प्रसार के साथ और दक्षिण में हिन्दी प्रचार के साथ हिन्दी पुस्तकों के लिए एक बहुत बड़ा बाज़ार तैयार हो गया है। यह नामुमकिन है कि उर्दू के होशियार पंजाबी लेखक इस स्थिति से फायदा न उठाएँ। सीधी मुनाफे की बात है। उर्दू में किताब छपेगी कम बिकेगी, हिन्दी में छपेगी ज्यादा बिकेगी। यह एक तरह का आर्थिक दबाव है, जिससे देवनागरी लिपि को उर्दू लेखक अपनाएँगे।

इस प्रकार सामाजिक जीवन की परिस्थितियाँ हिन्दी-उर्दू को बराबर एक-दूसरे के नज़दीक लाती रही हैं। सिनेमा और रंगमंच के लिए लिखनेवाले शुद्ध हिन्दी-उर्दू का ख़याल रखें तो उनकी रचनाएँ असफल हों। किसानों और मज़दूरों में राजनीतिक काम करनेवालों को मजबूरन ऐसी सरल भाषा का प्रयोग करना पड़ता है, जिसे हिन्दू-मुसलमान दोनों समझें। जन-आन्दोलन की एकता हिन्दी-उर्दू के रूपों पर बराबर असर डाल रही है, और इसीलिए हमें यह दृढ़ विश्वास है कि ये दोनों रूप अपने अच्छे तत्वों से एक ही साहित्यिक भाषा के विकास में सहायता करेंगे। (१९६१)

२४

राष्ट्रीय एकता और अंग्रेज़ी

राष्ट्रभाषा ऐसी होनी चाहिए जिसे देश की बहुसंख्यक जनता जानती हो और जो लोग उसे न जानते हों, वे उसे आसानी से सीख सकें। यह दृष्टिकोण राष्ट्रीय ही नहीं जनतांत्रिक भी है क्योंकि बहुसंख्यक जनता द्वारा बोली-समझी जानेवाली भाषा के पक्ष में दिये जानेवाले तर्क के पीछे भावना यह है कि राष्ट्रीयता मुट्ठी-भर अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की बपौती नहीं है, उसका सम्बन्ध देश की बहुसंख्यक जनता से है।

पं० जवाहरलाल नेहरू ने बीस-बाईस साल पहले लिखा था, "प्रान्तीय भाषाओं के अधिकार-क्षेत्र की सीमाओं का जरा भी उल्लंघन किये बिना हमारे लिए आवश्यक है कि अखिल भारतीय व्यवहार की एक सामान्य भाषा हो। कुछ लोग सोचते हैं कि अंग्रेज़ी ऐसी भाषा बन सकती है; एक हद तक हमारे उच्च वर्गों के लिए और अखिल भारतीय राजनीतिक कार्यों के लिए अंग्रेज़ी ऐसी भाषा बनी भी है। किन्तु यदि हम आम जनता को ध्यान में रखकर सोचें तो यह बात स्पष्ट ही असम्भव प्रतीत होगी। हम करोड़ों लोगों को एक नितान्त विदेशी भाषा द्वारा शिक्षित नहीं कर सकते।" (नेशनल लैंग्वेज फॉर इंडिया—ए सिम्पोजियम, इलाहाबाद, १९४१; पृ०४९-५०)

यदि राष्ट्रीयता उच्च वर्गों तक सीमित कर दी जाय, यदि जनतंत्र का उद्देश्य मुट्ठी-भर लोगों का ऊँची सरकारी नौकरियाँ पाना हो, तो अवश्य अंग्रेज़ी ही राष्ट्रभाषा रहेगी जैसे कि वह पिछले पन्द्रह वर्षों (या और भी पहले से) रही है। अंग्रेजी को हटाने और हिन्दी को व्यवहार में राष्ट्रभाषा बनाने का प्रश्न राष्ट्रीयता को व्यापक बनाने, राज्यसत्ता को जनतांत्रिक रूप देने का प्रश्न है। जितने ही दिन अंग्रेज़ी असली राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित रहती है, उतने ही दिन राष्ट्रीयता का आधार क्रमशः सकुचित होता जाएगा, राज्यसत्ता जनता का विशद सम्पर्क और समर्थन खोती जाएगी। अनिश्चित काल के लिए अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाये रखने का अर्थ है, निश्चित रूप से जनतंत्र के आधार को संकुचित करते जाना और अन्त में उसे निर्मूल कर देना।

पराधीन भारत में ऊँची सरकारी नौकरियाँ पाने का अर्थ होता था, जनता पर हुकूमत करना। स्वाधीन भारत में सरकारी नौकरियों का अर्थ होना चाहिए जनता की सेवा करना। जिस भाषा को देश की जनता का एक प्रतिशत भाग समझता है, उससे

विशाल जनता की सेवा कैसे हो सकती है ? आज भी बंगाल, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में—पंजाब और कश्मीर की तो बात ही क्या—जितने लोग हिन्दी समझते हैं, उतने अंग्रेजी नहीं। अंग्रेजी न जाननेवाले इन करोड़ों अहिन्दी भाषियों की सेवा ऊँची सरकारी नौकरियाँ पानेवाले सज्जन हिन्दी के माध्यम से अधिक कर सकते हैं या अंग्रेजी द्वारा ?

कुछ लोग राष्ट्रीय एकता—या भावात्मक एकता—अंग्रेजी के माध्यम से दृढ़ करने का स्वप्न देखते हैं। यदि राष्ट्रीय एकता का अर्थ मुट्ठी भर अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की एकता है तो सम्भव है, वह अंग्रेजी से दृढ़ हो यद्यपि अंग्रेजीदाँ नेताओं की कलह देखकर यह सम्भावना भी बहुत विश्वसनीय नहीं जान पड़ती। किन्तु यदि राष्ट्रीय एकता का अर्थ जन-साधारण की एकता है तो उसे दृढ़ करने में अंग्रेजी बाधक ही हो सकती है, साधक नहीं।

राष्ट्रीय गौरव की भावना के बिना भावात्मक एकता की कल्पना नहीं की जा सकती। जिस राष्ट्र की अपनी भाषा न हो, जो राष्ट्रभाषा के पद पर एक विदेशी भाषा को बिठाए हो, उसके नागरिकों में राष्ट्रीय गौरव की भावना कैसे दृढ़ हो सकती है ?

अंग्रेजी के पक्ष में जो मुख्य तर्क दिया जाता है कि अंग्रेजी एक विकसित और समृद्ध भाषा है किन्तु हिन्दी तथा अन्य सभी भारतीय भाषाएँ अविकसित और दरिद्र हैं—राष्ट्रीय गौरव की भावना पर कुठाराघात करता है। अंग्रेजी के विकास और समृद्धि के गीत गाकर राष्ट्रीय गौरव को जगाने और भावात्मक एकता दृढ़ करनेवाले मेधावी लोग विषपान करके अमर होने का स्वप्न देख रहे हैं। यदि सुब्रह्मण्य भारती, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, वल्लत्तोल, प्रेमचन्द आदि साहित्यकार अंग्रेजी की समृद्धि से इसी तरह आतंकित होते तो भारतीय साहित्य का बेड़ा मँझधार में कभी का डूब चुका होता।

हम न दूसरों की तुलना में अपने को अकारण बड़ा बताकर डींग हाँकते हैं, न हीनभाव से अकारण अपने को सबसे पिछड़ा हुआ मानने को तैयार हैं। पश्चिमी यूरोप ने विज्ञान में अधिक उन्नति की है किन्तु साहित्य में हम यूरोप से बढ़कर नहीं तो घटकर भी नहीं हैं। विशेषकर पिछले सौ वर्षों में भारतीय साहित्य ने जो उन्नति की है, वह पश्चिमी यूरोप के किसी भी देश के लिए स्पृहणीय हो सकती है।

वास्तव में समस्या साहित्यिक समृद्धि की नहीं है समस्या है राष्ट्रीय आत्मसम्मान और जनता की सेवा भावना की। मिस्र देश हमसे अधिक विकसित नहीं है किन्तु वहाँ की राष्ट्रभाषा अरबी है। सोवियत संघ में कज़ाक, उज़बक, ताजिक आदि भी अपनी भाषाओं को शिक्षा, राजनीतिक कार्यों आदि के लिए प्रयुक्त करते हैं। चीन तक ने चीनी को राष्ट्र-भाषा बना रखा है। संसार में सबसे प्राचीन संस्कृति का धनी भारत स्वाधीन होने पर भी अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाये रहे, इससे अधिक लज्जास्पद बात और क्या हो सकती है ?

यह ध्यान देने की बात है कि जो लोग अंग्रेजी को विकसित और समृद्ध कहकर उन

राष्ट्रभाषा बनाये रखना चाहते हैं, वे न केवल हिन्दी को, वरन् सभी भारतीय भाषाओं को न्यूनाधिक दरिद्र और अविकसित मानते हैं। हिन्दी के लिए हमारा संघर्ष, अंग्रेज़ी के विरुद्ध सभी भारतीय भाषाओं के अधिकारों के लिए संघर्ष है। अंग्रेज़ी भारत में साम्राज्यवादी ढंग से प्रतिष्ठित है। वह प्रत्येक प्रदेश में वहाँ की भाषा के अधिकार छीनती है, उसे उच्च शिक्षा का माध्यम बनने से रोकती है; राजकाज में, उच्च न्यायालयों में वहाँ की भारतीय भाषा को अपदस्थ करती है। अंग्रेज़ी की यह साम्राज्यवादी स्थिति सारे देश में देखी जा सकती है; कागज पर कुछ भी लिखा हो, व्यवहार की बात दूसरी ही है।

इसके विपरीत हिन्दी के समर्थकों का कहना है कि प्रत्येक प्रदेश में वहाँ की भाषा को उचित अधिकार मिले, वहाँ के समस्त राजकाज में, शिक्षा-केन्द्रों, न्यायालयों आदि में वह प्रयुक्त हो, केवल विभिन्न प्रदेशों में आपसी व्यवहार के लिए, केन्द्रीय राज्य-सत्ता और उसकी संस्थाओं के लिए हिन्दी का व्यवहार हो। यह स्थिति साम्राज्यवादी नहीं है, वरन् जनतांत्रिक और राष्ट्रीय है। प्रत्येक प्रदेश की भाषा को अंग्रेज़ी के स्थान पर राजनीतिक-सांस्कृतिक कार्यवाही का माध्यम बनाना जनतन्त्र की भावना के अनुकूल है। इन विभिन्न प्रदेशों के बीच तथा केन्द्र में हिन्दी का व्यवहार करना राष्ट्रीयता की भावना के अनुकूल है। भाषागत साम्राज्यवाद अंग्रेज़ी का है, न कि हिन्दी का। विभिन्न भारतीय भाषाओं के अधिकारों को इस समय पददलित कर रही है अंग्रेज़ी, न कि हिन्दी। अंग्रेज़ी की वास्तविक साम्राज्यवादी स्थिति को भुलाकर जो लोग कल्पित हिन्दी-साम्राज्य-वाद से जनता को आतंकित करते हैं, वे राष्ट्रीय एकता दृढ़ करने के बदले राष्ट्रीय विघटन को जबर्दस्त प्रोत्साहन देते हैं।

अंग्रेज़ी से सभी भारतीय भाषाओं के हित टकराते हैं, हिन्दी से किसी भी भारतीय भाषा के हित नहीं टकराते; अंग्रेज़ी के जानने-समझनेवाले मुट्ठी-भर हैं, हिन्दी बोलने-समझनेवाले करोड़ों हैं; अंग्रेज़ी कायम रखने में जनता पर हुकूमत करनेवालों का निहित स्वार्थ है; हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने से विशाल जनता की सेवा करने का अवसर मिलता है; अंग्रेज़ी राष्ट्रीय गौरव की भावना पर कुठाराघात करती है, हिन्दी राष्ट्रीय आत्मसम्मान को जाग्रत और पुष्ट करती है इसलिए हमें दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि अंग्रेज़ी अनिश्चित काल के लिए एकमात्र या सह-राष्ट्रभाषा नहीं रहेगी, निश्चित और सीमित अवधि में ही उसे अपना स्थान छोड़ना होगा।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के विरुद्ध जितने तर्क दिये जाते हैं, उनमें ज़रा भी मौलिकता नहीं है, वे पराधीन भारत में भी दिये जाते थे, अन्तर केवल इतना है कि तब ऐसे तर्क देने-वालों को अराष्ट्रीय कहा जाता था। अंग्रेज़ों के चले जाने पर मुसलमानों और अछूतों को सवर्ण हिन्दू खा जाएँगे, दक्षिणवालों पर उत्तरवाले अपना आतंक फैलाएँगे, हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने से भारत की सांस्कृतिक उन्नति रुक जाएगी—ये सब तर्क ऊँची सरकारी नौकरियों के अंग्रेज-भक्त उम्मीदवार पहले भी दिया करते थे। अब इस तरह के तर्क अंग्रेज़ी-भक्त शासक या शासकपद के उम्मीदवार दिया करते हैं। इन सब तर्कों का सार-

तरह यह है कि साहब का बेटा भी साहब होगा, कान्वेंट में पढ़ेगा और अंग्रेजों की तरह अंग्रेजी बोलेगा, बनावटुलर बोलनेवालों पर हुकूमत करेगा।

अंग्रेजी प्रेमी शासकों को भय है कि अंग्रेजी के राजभाषा न रहने पर राज्यसत्ता उनके हाथ में न रहेगी। यह वर्ग इस समय काफी प्रभावशाली है किन्तु देश की विशाल जनता के सामने उसकी शक्ति नगण्य है। जो लोग भी अपनी मातृभाषा से प्रेम करते हैं, उनकी मातृभाषा चाहे हिन्दी हो, चाहे कोई अहिन्दी-भाषा, उनका कर्तव्य है कि विभिन्न प्रान्तों में अंग्रेजी की जगह वहाँ की प्रादेशिक भाषाओं को प्रतिष्ठित करें और केन्द्रीय शासन के क्षेत्र में अंग्रेजी की जगह हिन्दी का व्यवहार करें।

हिन्दी पिछड़ी हुई भाषा है इसलिए उसे विकसित होने का अवसर देना चाहिए, यह आलोचकों का तर्क है। हिन्दी में कितने आवश्यक शब्द हैं तथा कितने और होने चाहिए—इस समस्या की कोई वैज्ञानिक जाँच-पड़ताल अभी तक नहीं हुई। यदि भारत की किसी भी भाषा को समृद्ध माना जाय तो हम उससे पारिभाषिक शब्द लेने को तैयार हैं क्योंकि जो स्रोत हमारे पारिभाषिक शब्दों का है, वही उसके शब्दों का होगा—अर्थात् संस्कृत (उर्दू को छोड़कर)।

हिन्दी पिछड़ी हुई भाषा है, यह तर्क वे लोग देते हैं, जो भारत की प्रत्येक भाषा को पिछड़ा हुआ मानते हैं। राष्ट्र के लिए इससे अधिक अपमानजनक दूसरा दृष्टिकोण हो नहीं सकता। आज से पैंतीस वर्ष पहले अंग्रेज भाषाविद ग्रियर्सन ने हिन्दी के बारे में अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लिंग्विस्टिक सर्वे' की भूमिका में लिखा था, "इट हैज ऐन एनार्मस नेटिव वकैबुलरी एण्ड ए कम्प्लीट अपरेटस फॉर द एक्सप्रेशन ऑफ ऐब्स्ट्रैक्ट टर्म्स" (देशी शब्दों का उसका विशाल शब्द-भण्डार है और सूक्ष्म धारणाएँ प्रकट करने के लिए पूर्ण पारिभाषिक शब्दावली है।) ग्रियर्सन ने उन लोगों की आलोचना की थी, जो हिन्दी शब्दों को छोड़कर संस्कृत के कठिन और दुरूह शब्दों की ओर भागते थे और इसी प्रसंग में लिखा था—"वट इज स्ट्राइट ऑफ हिन्दी पजेसिंग सच ए वकैबुलरी एण्ड ए पावर ऑफ एक्सप्रेशन नॉट इन्फीरियर टु इंग्लिश इट हैज बिकम द फैशन ..." (यद्यपि हिन्दी के पास ऐसा शब्द-भण्डार है और व्यंजना-शक्ति में वह अंग्रेजी से घटकर नहीं है, फिर भी यह फैशन हो गया है ...)। जो लोग अंग्रेजियत में अंग्रेजों के कान काटते हैं, वे यह कभी न मानेंगे कि व्यंजना शक्ति में हिन्दी अंग्रेजी से घटकर नहीं है।

यूरोप और अमरीका में भारतीय संस्कृति के अग्रदूत महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गुजराती साहित्य परिषद् के छठे अधिवेशन में भाषण देते हुए कहा था, "आपकी सेवा में खड़ा होकर विदेशीय भाषा कहूँ यह हम चाहते नहीं। पर जिस प्रान्त में मेरा घर है वहाँ सभा में कहने लायक हिन्दी का व्यवहार है नहीं। महात्मा गांधी महाराज की भी आज्ञा है हिन्दी में कहने के लिए। यदि हम समर्थ होता तब इससे बड़ा आनन्द और कुछ होता नहीं। असमर्थ होने पर भी आपकी सेवा में दो बात हिन्दी में बोलूँगा।" ('प्रभा', कानपुर, मार्च, १९२५)

जो लोग उठते-बैठते गांधीजी के नाम की माला जपते हैं और जिन्होंने अखिल भारतीय पैमाने पर रवीन्द्र-जयन्ती-समारोह संगठित किया था, वे कृपया विचार करें कि वे अपने व्यवहार में गांधी-रवीन्द्रनाथ के मार्ग से कितनी दूर आ पड़े हैं। महाकवि ने अपनी असमर्थता प्रकट की, किसी भाषा को असमर्थ नहीं कहा; गांधीजी ने गुजरातियों के बीच उनसे अंग्रेजी में नहीं, हिन्दी में बोलने को कहा।

राष्ट्रीय एकता को दृढ़ करने का यही एक मार्ग सन् '२५ मे था, वही मार्ग अब सन् '६२ में भी है। और दूसरे रास्ते सब गलत हैं। (१९६२)

२५

राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय प्रभुसत्ता

सन् ६५ में हिन्दी केन्द्रीय राजकाज की भाषा न बनेगी। कब बनेगी, यह अंग्रेजी-प्रेमी भारतवासियों की इच्छा पर निर्भर है। इस पर भी कुछ सज्जन असन्तुष्ट हैं। असन्तुष्ट इस बात पर हैं कि अंग्रेजी सदा-सर्वदा के लिए भारत की एकमात्र राष्ट्रभाषा घोषित नहीं की गई। हो सकता है, दो-चार शताब्दियों बाद लोग हिन्दी को राष्ट्रभाषा बना दें। इस सम्भावना को रहने ही क्यों दिया जाय ?

ऐसा सोचनेवाले सज्जन अंग्रेजी के माध्यम से शासनतन्त्र पर अपना इजारा हमेशा के लिए पक्का कर लेना चाहते हैं। वे और उनके भाई-भतीजे तो इस युग में शासन की बागडोर सँभाल ही हुए हैं, वे चाहते हैं कि युगों-युगों तक उन्हीं की तरह उनके वंशज भी—यानी मुट्ठी भर विदेशी भाषा के उपासक—शासन की बागडोर इसी तरह मजबूती से थामे रहें। कुछ दिन हुए ऐसे लोगों को लक्ष्य करके मद्रास में प्रधानमन्त्री ने प्रश्न किया था—क्या उनमें राष्ट्रीय आत्मसम्मान की भावना का एकदम लोप हो गया है ?

इस प्रश्न से नतीजा यह निकलता है कि जो लोग थोड़े समय के लिए अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा मानते हैं, उनमें उतने ही समय के लिए आत्मसम्मान का लोप होता है, जो लोग सदा के लिए अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाये रखना चाहते हैं, उनमें सदा के लिए आत्मसम्मान का लोप हो जाता है। सदा के लिए आत्मसम्मान खोने से अच्छा है उसे थोड़े समय के लिए खोया जाय। भले ही इस थोड़े समय की अवधि का क्रमशः विस्तार होता जाय—सन् '४६ से '६५ तक, '६५ से बीसवीं सदी के अन्त तक, बीसवीं सदी के बाद इक्कीसवीं सदी के अन्त तक, और इसी तरह अनिश्चित काल के लिए आगे भी। मुख्य बात यह है कि अनिश्चित काल को निश्चित न किया जाय, वरना राष्ट्रीय आत्म-सम्मान का सापेक्ष लोप शाश्वत और निरपेक्ष हो जाएगा।

एक बहुत दिलचस्प सवाल यह पैदा होता है कि राष्ट्रीय आत्मसम्मान का यह लोप भाषा के क्षेत्र तक सीमित है या वह देश के राजनीतिक, आर्थिक आदि अन्य क्षेत्रों में भी पाया जाता है? क्या आपने संसार के इतिहास में किसी ऐसे देश का नाम सुना है जो आर्थिक और राजनीतिक रूप से पूर्ण स्वाधीन रहा हो किन्तु जो भाषा के क्षेत्र में परमुखापेक्षी हो ? क्या वर्तमान काल में कोई ऐसा देश है जो स्वाधीन होते हुए भी अपनी

भाषा छोड़कर विदेशी भाषा का व्यवहार करता हो? इन स्वाधीन देशों में इस बात को लेकर पंचायत नहीं जुड़ती कि विश्व की सबसे समृद्ध भाषा कौन-सी है, देश की भाषा को हटाकर उसके बदले विश्व-भाषा का व्यवहार कब तक किया जाय। आखिर जर्मन, फ्रांसीसी, अंग्रेजी, इतालवी, स्पेनी आदि भाषाएँ समान रूप से तो समृद्ध हो नहीं सकतीं। किन्तु जहाँ ये भाषाएँ बोली जाती है, वहाँ यह प्रश्न कोई नही करता कि सबसे समृद्ध विश्वभाषा को राजकाज की भाषा क्यों न बनाया जाय? यह प्रश्न केवल उन देशो में सामने आता है जो पश्चिमी राष्ट्रों के उपनिवेश हैं, या रह चुके हैं। कुछ लोग कहते है कि हिन्दी से चिपके रहना और अंग्रेजी का विरोध करना कूप-मडूकता है। मालूम होता है कि अपनी भाषा से प्रेम करनेवाले तो कुओं मे पड़े हैं. केवल भारत के अंग्रेजी-प्रेमी मण्डूक कुएँ से बाहर निकलकर अपनी अनोखी अंग्रेजी-ध्वनि से दशो दिशाएँ गुंजरित कर रहे हैं।

आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए तो पैसा-कौड़ी दरकार होता है, स्वर्ण की आवश्यकता होती है। किन्तु शब्द-ब्रह्म तो अमूल्य है। बात करने मे क्या खर्च होता है? फिर भारत में संस्कृत की कृपा से किसी भी भाषा के शब्द-भण्डार को यथेच्छ भरने मे विलम्ब नही होता। भाषा के क्षेत्र में परमुखापेक्षी होना परले सिरे की गुलामी है। जो भाषा के क्षेत्र में स्वाधीन नही हो सकता, वह अन्य क्षेत्रों में क्या स्वाधीन होगा? भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सुब्रह्मण्य भारती, निराला, प्रेमचन्द आदि साहित्यकारो ने देश के पराधीन रहते हुए भी भाषा के क्षेत्र मे उसकी प्रभुसत्ता की रक्षा की। भाषा के क्षेत्र में भारतीय साहित्यकारो ने अंग्रेजी का प्रभुत्व कभी स्वीकार नही किया। स्वाधीनता-सूर्य की किरणों ने सबसे पहले भाषा के क्षेत्र को प्रकाशित किया। आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों के नेता साहित्यकारो के अनुगामी रहे हैं, उनके पथ-निर्देशक नही।

आये दिन जो राजनीतिज्ञ हिन्दी-प्रेमियों को सकीर्ण और संकुचित विचारवाला कहते हैं, जो हिन्दी से विमुख और अंग्रेजी के मुखापेक्षी वसुधैव कुटुम्बकम् का उपदेश देते नहीं थकते, उनसे पूछा जा सकता है—देश मे अन्न का क्या हाल है? भुखमरी से बचने के लिए आपको अन्य राष्ट्रों का दरवाजा तो खटखटाना नही पड़ता? अपनी पंचवर्षीय योजनाओं की पूर्ति के लिए आपको विदेशी बहीखातों में कर्जदार बनकर नाम लिखाना तो नहीं पड़ता? देश-रक्षा के लिए आप विदेशी अस्त्र-शस्त्रों के मोहताज तो नही हैं? आपके आयात-निर्यात व्यापार में विदेशी पूँजी का ताना-बाना बुना हुआ तो नही है? आप विदेशी दबाव के कारण कश्मीर-जैसे किसी प्रदेश की भूमि का विनिमय करने की ओर तो नही बढ़े?

पुराने जमाने में लोग कहते थे—अंग्रेजी हमारी गुलामी की निशानी है। ऊपर के प्रश्न पढ़कर बताइए वह बात अब भी सही है या नहीं? क्या आप समझते हैं कि दासता की मनोवृत्ति केवल भाषा के क्षेत्र में प्रतिफलित होती है, अंग्रेजी को हटाने का प्रश्न केवल एक भाषागत समस्या है? गुलाम तो गुलाम। उसकी गुलामी न केवल उसके बोलने से प्रकट होगी वरन् उसके हर तरह के आर्थिक और राजनीतिक व्यवहार से प्रकट होगी।

राष्ट्रभाषा की समस्या कोई विशुद्ध भाषा-विज्ञान की समस्या नहीं है। वह मूलतः देश की प्रभुसत्ता की समस्या है। यह तो सम्भव है कि केन्द्रीय राजकाज के लिए एक से अधिक भाषाओं का व्यवहार किया जाय, किन्तु देश की प्रभुसत्ता के लिए यह असह्य है कि सभी भारतीय भाषाओं के अधिकारों को पैरों तले रौंदकर अंग्रेजी उन सबके ऊपर प्रतिष्ठित हो। जो लोग यह कहते हैं कि हिन्दी के माध्यम से बड़े-बड़े पूंजीपति छोटी-छोटी अहिन्दीभाषी जातियों को दबाते हैं, वे यह कभी नहीं कहते कि अंग्रेजी के माध्यम से साम्राज्यवाद भारत की सभी जातियों को दबाता है, यहाँ की सभी भाषाओं के स्वत्वों का अपहरण करता है।

हिन्दी को केन्द्रीय भाषा बनाने में कुछ बड़े पूंजीपतियों का स्वार्थ हो सकता है, यद्यपि देखा यही जाता है कि अंग्रेजी के दैनिक पत्रों की शृंखलाएँ इन्हीं बड़े पूंजीपतियों के हाथ में हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हिन्दी को केन्द्रीय भाषा बनाने में छोटे पूंजीपतियों तथा श्रमिक जनता का हित सबसे ज्यादा है। हिन्दी के बिना सामान्य जनता शासनतन्त्र, केन्द्रीय राजकाज में भाग नहीं ले सकती। वह राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्यवाही में अन्त्यजों के समान दूर रखी जाती है। इस तरह हमारे जनतन्त्र का आधार संकुचित रहता है, हमारी राष्ट्रीयता मुट्ठी-भर अंग्रेजी पढ़े लोगों के हाथ का खिलौना बनी रहती है।

जो लोग अंग्रेजी को हटाना चाहते हैं, हिन्दी को केन्द्रीय भाषा बनाने के लिए जल्दी करते हैं, उन्हें 'हिन्दी-एथूजिऐस्ट' आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता है। मानो अपनी भाषा का समर्थन करना गुनाह हो, 'अंग्रेजी एथूजिऐस्ट' होना कोई बहुत बड़ा पुण्य हो। केन्द्रीय भाषा के पद से अंग्रेजी को हटाने में किसी एक भारतीय भाषा का स्वार्थ नहीं है। अंग्रेजी की वर्तमान स्थिति से सभी भारतीय भाषाओं की प्रतिष्ठा को धक्का लगता है, उनकी अधिकार-मर्यादा नष्ट होती है। इसलिए अंग्रेजी के विरुद्ध संघर्ष आज सभी भारतीय भाषाओं की अधिकार-रक्षा का संघर्ष है। इन भाषाओं के बीच परस्पर आदान प्रदान के लिए हम हिन्दी का व्यवहार चाहते हैं, उनके अधिकारों की रक्षा करते हुए, न कि उनके अधिकारों को रौंदकर। अधिकारों को रौंदने का काम अंग्रेजी कर रही है, न कि हिन्दी।

प्रत्येक जाति का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह अपनी सांस्कृतिक, राजनीतिक, हर तरह की सामाजिक कार्यवाही अपनी भाषा के माध्यम से सम्पन्न करे। हर तरह के राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में अपनी भाषा का प्रयोग उसकी प्रभुसत्ता की उन्मुक्त घोषणा है। जातीय भाषा का व्यवहार राष्ट्र के स्वाधीन होने की पहचान है। भाषा के समृद्ध या दरिद्र होने से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। संसार के किसी देश ने किसी समय यह नियम स्वीकार नहीं किया कि विश्व की सबसे समृद्ध भाषा को वह राष्ट्रभाषा बनायेगा। ऐसा नियम होता तो सारे संसार में संस्कृत, ग्रीक या लैटिन का ही प्रभुत्व होता।

हिन्दी समृद्ध है या दरिद्र है, यह तय करने के लिए कोई वैज्ञानिक कसौटी नहीं अपनायी गई। उदाहरण के लिए, हिन्दी में राजनीतिक शब्दावली कम है या पर्याप्त है, यह जानने के लिए कोई शब्द-गणना नहीं की गई। एक प्रवाद फैला दीजिए, दस राजनीतिज्ञ उस प्रवाद को दोहरा दें, अंग्रेजी अखबारों में वह प्रवाद छप जाय, बस उसे प्रमाणित सत्य मान लिया जाएगा। देश में प्रचार के साधनों का इतना केन्द्रीयकरण है कि नक्कारखाने में हिन्दी-सम्बन्धी सत्य की पुकार तूती की आवाज़ से अधिक कारगर साबित नहीं होती।

शासनतन्त्र चलानेवाले बुद्धिजीवी अंग्रेजी में अथवा किसी देशी भाषा में अंग्रेजी शब्दों की मिलावट करके चिन्तन का काम पूरा करते हैं। उनकी अभिव्यंजना का माध्यम अंग्रेजी या यह खिचड़ी भाषा होती है। आप यह न समझे कि पारिभाषिक शब्दों के अभाव के कारण वे ऐसा करते हैं। उनके बच्चे बोलना सीखते हैं, पापा, डैडी, मम्मी, अंकल, आण्टी जैसे पारिभाषिक शब्दों के ज्ञान के साथ। "जरा फादर को रिसीव करने जा रहा हूँ," "उसका रिमार्क ऐसा मिली था कि माई ब्लड बिगैन टु बॉयल"; "आजकल आप पोलिटिकल ऐक्टिविटी से इतने इण्डिफरेण्ट क्यों रहते हैं"; "एजूकेशन का स्टैंडर्ड इतना गिर गया है कि आर्डिनरी एप्लीकेशन लिखने में एम० ए० पास लोग मिस्टेक करते हैं"—इस तरह के वाक्य उत्तर भारत के अनेक शहरों में आप सुन सकते हैं। इन वाक्यों में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग पारिभाषिक शब्दों की कमी के कारण नहीं है। मानसिक शिथिलता, अंग्रेज़ी शब्दों का मोह, अपनी भाषा के प्रति अवज्ञासूचक दृष्टिकोण—इन कारणों से इस तरह के भोंडे वाक्यों की रचना होती है। इन्हीं कारणों से अंग्रेज़ी-प्रेमी बुद्धिजीवियों को यह तय करने में देर नहीं लगती कि अंग्रेजी समृद्ध है, हिन्दी दरिद्र है।

एक समिति में लोग आलोचना-सम्बन्धी शब्द-सूची एकत्र कर रहे थे। समिति के अधिकांश सदस्य न हिन्दी के आलोचक थे, न हिन्दी-आलोचना से परिचित थे। फिर भी वे इस काम में लगे हुए थे क्योंकि वे समिति के सदस्य बना दिये गए थे। शब्द-संग्रह करने का तरीका क्या था? आप शायद सोचें कि हिन्दी की आलोचना-पुस्तकों से अथवा संस्कृत के सिद्धान्त-ग्रन्थों से ऐसी शब्द-सूची सकलित की जा रही थी। समिति के सामने काम दूसरा था। काम हिन्दी-शब्दों की सूची बनाना न था, काम था अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी पर्याय निश्चित करना। इस तरह की सूची बनाने की ज़रूरत क्यों हुई? इसलिए कि अंग्रेजी का आलोचना-शास्त्र अधिक समृद्ध है, उसके शब्द-भण्डार के अनुरूप हिन्दी पर्याय स्थिर करके ही राष्ट्रभाषा को समृद्ध किया जा सकता है। आप समझ सकते हैं, समिति में इस पद्धति का विरोध करनेवाले को किसी का समर्थन प्राप्त न हुआ होगा।

प्राकृतिक परिवेश, सामाजिक परिस्थितियाँ, दैनिक जीवन की आवश्यकताएँ विभिन्न देशों में बहुत-कुछ समान हैं। इसलिए उनके शब्द-भण्डार में अर्थ-सम्बन्धी बहुत बड़ी समानता है। किसी भी भाषा के हज़ारों शब्दों के लिए दूसरी भाषा में उन्हीं के समानार्थी शब्द मिल जाते हैं। यातायात के साधनों में प्रगति होने से, व्यापार, उद्योग-

धन्धों और विज्ञान में उन्नति होने से (और उन्नति करने के लिए) अनेक देश एक-दूसरे के अधिक निकट आये हैं। इसलिए ऐसे शब्दों की संख्या बहुत बड़ी है जो रूप में भिन्न होते हुए भी अर्थ में समान हैं। हिन्दी में भी उद्योग, व्यापार, राजनीति आदि से सम्बन्धित हजारों शब्द प्रचलित हैं जो उसी कोटि के अंग्रेजी या जर्मन शब्दों के समानार्थी हैं।

इसके साथ यह भी सही है कि प्रत्येक देश के प्राकृतिक परिवेश, सामाजिक परिस्थितियों, दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की अपनी विशेषताएँ हैं। इसलिए प्रत्येक भाषा में हजारों शब्द ऐसे मिलेंगे जिनके ठीक समानार्थी शब्द दूसरी भाषाओं में दुर्लभ होंगे। किन्तु भाषा प्राकृतिक या सामाजिक परिवेश का दर्पण मात्र नहीं है। भाषा प्रत्येक जाति की विशिष्ट चिन्तन प्रक्रिया, उसके रसबोध, भाव सम्बन्धी प्रतिक्रिया का दर्पण भी होती है। इस दृष्टि से विचार करने पर पता चलेगा कि कोई भी भाषा किसी से घटकर नहीं है, प्राणि-जगत् की प्रत्येक जीव योनि के समान संसार की प्रत्येक भाषा की अपनी विशेषता है।

इस देश के लोगों ने अनेक शताब्दियों तक मनुष्य के मन पर, उसकी चेतना पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। दर्शन और मनोविज्ञान के क्षेत्रों में अनेक धारणाओं का जैसा सूक्ष्म भेद संस्कृत शब्द प्रकट करते हैं, वैसा संसार की कोई भाषा प्रकट नहीं करती, कम-से-कम ग्रीक, लैटिन और इनसे प्रभावित यूरोप की भाषाएँ तो अवश्य नहीं करतीं। संस्कृत की यह शब्द-सम्पदा भारत की समस्त भाषाओं की सामान्य सम्पत्ति है। उन लोगों के सांस्कृतिक पतन का अनुमान कीजिए जो 'मेडिटेशन' के लिए अपनी शब्द-सूची में 'ध्यान' शब्द बिठाकर यह समझ लेते हैं और दूसरों को समझाते भी हैं कि 'ध्यान' अब 'स्टैण्डर्ड' शब्द हो गया, 'मेडिटेशन' का पर्याय बनकर। इसके बाद वे कहते हैं कि जो पुस्तकें लिखी जाएँ या अनुवादित की जाएँ, उनमें 'ध्यान' शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त होना चाहिए जिसमें अंग्रेजी का 'मेडिटेशन' शब्द प्रयुक्त होता है। और 'समाधि' के लिए अंग्रेजी का कोई पर्याय न हुआ तो वह बेचारा स्टैण्डर्ड-च्युत होकर शब्द-संग्रह के बाहर पड़ा रह गया।

भारतीय शब्द 'राष्ट्र' का ठीक समानार्थी अंग्रेजी शब्द 'नेशन' नहीं है। सोवियत संघ में एक से अधिक 'नेशन' हैं किन्तु यह 'राष्ट्र' एक है, अनेक नहीं। 'राष्ट्र' में केवल मनुष्यों का बोध नहीं होता जैसा कि 'नेशन' में होता है। 'नेशन' किसी देश की भूमि को नहीं कह सकते, किन्तु 'राष्ट्र' से भूमि का बोध भी होता है। जे० डी० बेट की 'ए डिक्शनरी ऑफ द हिन्दी लैंग्वेज' में राष्ट्र का भूमि वाला अर्थ लिया गया है—"ऐन इनहैबिटेड कण्ट्री, ए रेल्म, किंगडम, एम्पायर, रीजन।" अन्त में मनुष्यों से भी सम्बन्धित एक शब्द जोड़ दिया गया है, 'पब्लिक'। इससे उन कोशकारों की कठिनाइयों का अनुमान किया जा सकता है जिन्हें हिन्दी शब्दों के अंग्रेजी पर्याय ढूँढ़ने पड़ते हैं। बेचारे 'राष्ट्र' के लिए 'पब्लिक' लिखकर सन्तोष कर लेते हैं। प्रसिद्ध कोशकार मोनियर विलियम्स को अपने महान् संस्कृत-अंग्रेजी कोश की भूमिका में कैफियत देनी पड़ी थी कि उन्होंने एक-एक

संस्कृत शब्द के अनेक अंग्रेज़ी पर्याय क्यों दिये हैं। इसका एक कारण और भी था जिसका उल्लेख उन्होंने नही किया। वह यह कि किसी एक संस्कृत शब्द का ठीक समानार्थी शब्द अंग्रेज़ी में मिलता न था; इसलिए उसके अर्थ के निकट पहुँचनेवाले अनेक शब्द देने पड़ते थे, जिससे अंग्रेज़ी जाननेवाला विद्यार्थी उन सभी की सहायता से अर्थ-बोध कर सके। यथा 'समाधि' के लिए 'इण्टेन्स अॅप्लीकेशन ऑर फिक्सिंग द माइण्ड ऑन, इण्टेण्टनेस, अटेन्शन; कन्सण्ट्रेशन ऑफ़ द थॉट्स, प्रोफाउण्ड ऑर ऐब्सट्रैक्ट मेडिटेशन, इण्टेन्स कन्टेम्प्लेशन ऑफ़ ऐनी पर्टीकुलर ऑब्जेक्ट (सो ऐज टु आइडेण्टीफाई द कण्टेम्प्लेटर विद द ऑब्जेक्ट मेडिटेटेड अपॉन)'। 'समाधि' का समानार्थी शब्द अंग्रेज़ी में है नहीं। यह भी स्पष्ट है कि 'अटेन्शन', 'कन्टेम्प्लेशन', 'मेडिटेशन' आदि शब्द समाधि के निश्चित अर्थ के निकट पहुँचते हैं किन्तु उसे प्रकट नही कर पाते। वास्तव में 'समाधि' की अपेक्षा वे 'ध्यान' के अधिक निकट हैं।

मोनियर विलियम्स ने भारतीय वाङ्मय के बारे मे लिखा था, "कुछ विषयों में, विशेषकर प्रकृति और पारिवारिक प्रेम के कवित्वमय वर्णनों में वह यूनान और रोम की सर्वश्रेष्ठ कृतियों के मुकाबले हेठा नही सिद्ध होता और ज्ञान की गरिमा और नैतिक विचारों की सूझ-बूझ में वह अद्वितीय है।" वैज्ञानिक विषयों का उल्लेख करते हुए उन्होंने आगे उसी भूमिका में लिखा था, "इससे भी बढ़कर यह कि हिन्दुओं ने खगोल-विज्ञान, गणित, बीजगणित, वनस्पति-विज्ञान और औषध में काफी प्रगति की थी; व्याकरण में उनकी श्रेष्ठता का उल्लेख करना अनावश्यक है; और यह सब उस समय जब यूरोप की प्राचीनतम जातियों में भी इनमें से कुछ विज्ञान विकसित न हुए थे।" मोनियर विलियम्स ने संस्कृत के शब्द-भण्डार की बहुविषयक समृद्धि को लक्ष्य करके लिखा है कि उसका कोश बनानेवाले को लगभग सर्वज्ञ होना चाहिए। उनके अनुसार इंग्लैंड में यूनिवर्सिटी-शिक्षा प्राप्त तरुण संस्कृत की "वैज्ञानिक शब्दावली की सही-सही व्याख्या नहीं कर सकते।" मोनियर विलियम्स ने यह और जोड़ दिया है कि यदा-कदा यह वैज्ञानिक शब्दावली संस्कृत में यूनानियों से उधार ली गई है। किन्तु यहाँ इस पर विवाद नही करना कि भारत में यूनान से पहले अनेक विज्ञान विकसित हुए, फिर भी वहाँ के शब्द यहाँ वालों ने क्यों उधार लिये। मुख्य बात यह है कि यूरोप की नवीन और प्राचीन भाषाओं के महापंडित कोशकार मोनियर विलियम्स को यह स्वीकार करना पड़ा था कि इंग्लैंड की प्रसिद्ध यूनिवर्सिटियो के तरुण ग्रेजुएट—भारत में जिनके रोबदाब की सीमा नही है—संस्कृत की वैज्ञानिक शब्दावली ('द साइंटीफिक एक्सप्रेशन') की बारीकियों को समझने में असमर्थ थे। आज मालूम होता है, मोनियर विलियम्स प्रभृति विद्वानों द्वारा अभिनन्दित हमारा वह महान् रिक्थ कहीं खो गया है। सरकारी कोशकार हिन्दी में यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली से पारिभाषिक शब्द उधार लेने की बात करते हैं यद्यपि वे जो विदेशी शब्द लेते है वे निरपवाद रूप से अंग्रेजी के ही होते हैं (अर्थात् ऐसे शब्द होते है जो ग्रीक-लैटिन के आधार पर गढ़कर अंग्रेज़ी में

चलाये गए हैं) । ये सम्मान्य सरकारी कोशकार वह अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली प्रकाशित कर दें तो यूरोप के भावात्मक एकीकरण में बड़ी सहायता मिले ।

एक समय था जब स्वामी विवेकानन्द जैसे भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि गरज-कर मदान्ध यूरोप में कहते थे स्वार्थ लिप्सा ने तुम्हें पतन के गर्त में ढकेल दिया है, आओ, इस गर्त से बाहर निकलो, ज्ञान की दीक्षा भारत से लो ।

विवेकानन्द और रवीन्द्रनाथ का यह भारत आज परमुखापेक्षी है, न केवल आर्थिक सहायता के लिए वह पश्चिमी राष्ट्रों का द्वार खटखटाता है वरन् शब्दावली के लिए भी वह उनका मुँह जोहता है, वह अंग्रेजी के बिना अपनी भाषा-समस्या हल नहीं कर सकता । (१९६२)

२६

हिन्दीभाषी प्रदेश में हिन्दी-प्रचार की आवश्यकता

हम हिन्दी-भाषियों में अधिकांश जनो की धारणा यही है कि हिन्दी यदि अभी तक राष्ट्रभाषा नहीं हो पाई तो इसका मुख्य कारण अहिन्दी-भाषियों का अंग्रेज़ी-प्रेम अथवा हिन्दी-विरोध है। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में इस विषय पर जो लेख निकलते है, उनसे यह प्रकट नही होता कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का सर्वाधिक उत्तरदायित्व हमारा है और हम उसे निवाह नहीं रहे है।

हमारे देश में एक पूरा वर्ग है, जो राष्ट्रभाषा के पद पर अंग्रेजी को प्रतिष्ठित रखना चाहता है। यह वर्ग किसी प्रदेश-विशेष में सीमित नही है वरन् सारे देश मे फैला हुआ है; अमर-बेल की तरह वह विशाल हिन्दीभाषी प्रदेश में भी फैला है। आये दिन अपने प्रदेश के शिक्षित जनों के व्यवहार मे हम अंग्रेजी का यह महत्त्व देख सकते हैं। हिन्दी-भाषी प्रदेश में इस वर्ग के लोग उतने मुखर नही है जितने उनके सहयोगी अन्य प्रदेशों मे हैं। फिर भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सभी प्रदेशों के अंग्रेजी-प्रेमी एक-दूसरे की सहायता करते है।

पिछले दिनों उत्तर प्रदेश के अनेक नगरों में भावात्मक एकता पर राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों के नेताओ ने भाषण किये, अनेक शिक्षा-संस्थाओ में परिसंवाद आयोजित किये गए। आगरा और मेरठ की दो ऐसी गोष्ठियों में मैंने देखा कि अधिकाश भाषण अंग्रेजी में हुए। ये नेतागण अवश्य ही मन में सोचते होंगे कि अंग्रेजी ही उनके उच्च विचारों का वाहन हो सकती है, अंग्रेजी द्वारा ही वे देश में राष्ट्रीय एकता दृढ़ कर सकते हैं। अभी पिछले महीने चीनी आक्रमण के विरोध में विद्यार्थियों की सभाओं में अध्यापकों के प्रोत्साहन-प्रद भाषण भी अंग्रेजी में हुए! यदि हमारे प्रदेश के शिक्षा-विशारद भी नवयुवकों को देश-रक्षा का महत्त्व समझाने के लिए अंग्रेज़ी का प्रयोग करते है, तब अन्य प्रदेशों से हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की माँग हम किस मुँह से कर सकते हैं? सभी शिक्षित जनों का व्यवहार ऐसा नही होता, काफ़ी लोग ऐसे हैं, जो ऐसे अवसरों पर सचेत ढंग से हिन्दी का ही व्यवहार करते है। फिर भी यह मानना होगा कि हिन्दी क्षेत्र के शिक्षित जनों में अंग्रेजी का चलन आवश्यकता से अधिक है।

हिन्दी क्षेत्र के विश्वविद्यालयों में शिक्षा का सामान्य माध्यम अंग्रेजी है। कुछ

विषयों में जहाँ-तहाँ हिन्दी द्वारा शिक्षण भी होता है किन्तु कुल मिलाकर शिक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी का स्थान गौण है, अंग्रेज़ी का स्थान प्रमुख है। इसी प्रकार शासन संस्थाओं की कार्यवाही के लिए अंग्रेज़ी का व्यवहार प्रचुर मात्रा में होता है। जब तक उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश की शासन-संस्थाओं में असली रूप में हिन्दी राजभाषा नहीं बन जाती, तब तक समूचे देश में उसका राष्ट्रभाषा बनना स्वप्नवत् ही रहेगा।

हिन्दी-भाषी प्रदेश के शिक्षित जन बंगाल या तमिलनाड के लोगों पर अक्सर भाषागत संकीर्णता या प्रान्तीयता का दोष लगाते हैं। वास्तविकता यह है कि बंगाल या तमिलनाड के शिक्षित जन अपनी भाषा से जितना प्रेम करते हैं, अपने सामाजिक जीवन में उसका जितना प्रयोग करते हैं, उतना हम नहीं करते। अन्य प्रदेशों के शिक्षित-जन यदि अपने यहाँ के साहित्य से अपरिचित हों तो उन्हें शर्म आएगी। हमारे प्रदेश के शिक्षित जन हिन्दी-साहित्य से अपरिचित होने में गर्व का अनुभव करते हैं। अपने अज्ञान पर गर्व करते हुए वे पिछले तीस वर्षों से लगातार एक ही प्रश्न दोहराते चले आए हैं—हिन्दी में है ही क्या?

हिन्दी-भाषी प्रदेश की जनता से वोट लेना और उसकी भाषा और साहित्य को गालियाँ देना कुछ नेताओं का दैनिक व्यवसाय है। हमारे प्रदेश के शिक्षित जनों में जातीय भावना की कमी है। वे हिन्दी के प्रति उदासीन हैं, इसीलिए वे कुछ राजनीतिज्ञों की अपमानजनक बातों का समुचित उत्तर नहीं दे पाते। यहाँ का राजनीतिज्ञ राजनीति के अलावा अंग्रेज़ी सचिव में जनता का नेतृत्व करता है। अंग्रेज़ी में जितनी पुस्तकें केवल उत्तर प्रदेश के राजनीतिज्ञों ने लिखी हैं, उतनी शेष भारत के सारे राजनीतिज्ञों ने नहीं लिखीं। अन्य प्रदेशों के नेताओं ने एक पुस्तक अंग्रेज़ी में लिखी तो दो अपनी भाषा में भी लिखीं। यहाँ का राजनीतिज्ञ यदि देवनागरी में हस्ताक्षर कर दे तो समझता है कि उसने हिन्दी को कृतार्थ कर दिया।

यह किसी नेता विशेष का प्रश्न नहीं है, प्रश्न है एक समूचे अंग्रेज़ी प्रेमी वर्ग का, जो प्रदेश का शासक है या शासक बनना चाहता है। राजनीतिज्ञ इसी वर्ग का प्रतिनिधि है। एक नेता हट जाएगा तो दूसरा आ जाएगा क्योंकि उसे जन्म देनेवाला वर्ग मौजूद है। इसीलिए हिन्दी-भाषी प्रदेश में हिन्दी प्रचार की आवश्यकता है, हिन्दी-प्रचार द्वारा शिक्षित जनों का दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है, उनके सामाजिक व्यवहार में, सांस्कृतिक जीवन में, शिक्षा संस्थाओं के अन्तर्गत उनकी कार्यवाही में अंग्रेज़ी की जगह हिन्दी को प्रतिष्ठित कराने की आवश्यकता है।

मिथ्या जातीय अहंकार हानिकर होता है। अपनी भाषा और साहित्य को ही श्रेष्ठ समझना और दूसरों की भाषा और साहित्य को सदा हीन समझना मूर्खता है। किन्तु जातीय भावना से हीन होकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का मंत्र जपना भी कोई बहुत बड़ी बुद्धिमत्ता का चिह्न नहीं है। हमारा राष्ट्र अनेक भाषाएँ बोलनेवाली जातियों से मिलकर बना है। राष्ट्रीय एकता के लिए इन जातियों की एकता आवश्यक है। सभी जातियाँ

मिलकर राष्ट्र को दृढ़ करें, इसके लिए आवश्यक है कि प्रत्येक जाति अपने भीतर दृढ़ हो, अपने-आप में एकताबद्ध हो। कोई भी जाति अपने भीतर शिथिल होकर राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने में उचित योग नहीं दे सकती।

हिन्दी-भाषी जाति विभिन्न राज्यों में बँटी हुई है। हिन्दी-भाषी प्रदेश की सीमाएँ अनिश्चित हैं। यही नहीं, भाषागत विवाद जितने यहाँ हैं, उतने किसी अन्य प्रदेश में नहीं हैं। दूसरी जगह विवाद होगा तो बँगला-असमिया या गुजराती-मराठी जैसी दो भिन्न भाषाओं को लेकर। यहाँ के विवाद एक ही भाषाक्षेत्र के अन्तर्गत हैं।

मिथिला के कुछ राजनीतिज्ञ हिन्दी को अपनी जातीय भाषा नहीं मानते। पिछले चुनाव में उन्होंने अपने राजनीतिक प्रचार के पर्चे मैथिल और उर्दू में छपवाये। हिन्दी का बहिष्कार किया! भोजपुरी क्षेत्र में जन्म लेनेवाले कुछ हिन्दी के आचार्य भाषा-विज्ञान पर ग्रन्थ लिखकर यह सिद्ध करते हैं कि भोजपुरी हिन्दी से स्वतन्त्र भाषा है। जिन्हें हम हिन्दी की बोलियाँ कहते है, उनके क्षेत्रों में हिन्दी-प्रचार आवश्यक है, जिससे वहाँ के शिक्षित-जनों का वह भाग, जो अपनी बोली को स्वतन्त्र भाषा मानता है, जातीय भाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकार करे। जब तक साधारण जनता के सामने यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि हिन्दी-प्रदेश की सीमाएँ कौन-सी हैं, उसमें कौन-सी बोलियो का चलन है, उन्हें अब स्वतन्त्र भाषा न मानना चाहिए, तब तक समूचे देश में तथा अपने ही प्रदेश मे हिन्दी को उसका उचित स्थान दिलाने के लिए यह विशाल जनता सक्रिय नहीं हो सकती। हिन्दी-प्रचार का एक लक्ष्य होना चाहिए : जातीय प्रदेश का गठन, उसमें सर्वत्र जातीय भाषा के रूप में हिन्दी का चलन।

जातीय भाषा और राष्ट्रभाषा में अन्तर है। महाराष्ट्र, बंगाल या तमिलनाड के लोगों की जातीय भाषा मराठी, बंगला या तमिल है, हिन्दी नही। हिन्दी इन लोगों की राष्ट्रभाषा है, जो पारस्परिक आदान-प्रदान का माध्यम बनती है। हिन्दी-भाषियों के लिए हिन्दी जातीय भाषा है जैसे महाराष्ट्र के लोगों के लिए मराठी जातीय भाषा है। जातीय भाषा होने के साथ-साथ हम हिन्दी-भाषियों के लिए हिन्दी राष्ट्रभाषा भी है। मिथिला के कुछ शिक्षित-जन हिन्दी को राष्ट्रभाषा तो मानते है किन्तु अपनी जातीय भाषा नहीं मानते। मराठी के समान वे मैथिल को हिन्दी से स्वतन्त्र भाषा मानते हैं।

अनेक अहिन्दी-भाषी अंग्रेज़ी-प्रेमी विद्वान् इसी तर्क का आश्रय लेते है और कहते हैं कि हिन्दी अपने ही क्षेत्र मे दूसरों पर लादी गई भाषा है। वे प्रचार करते है कि ब्रज, अवधी, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी आदि सब स्वतन्त्र भाषाएँ हैं जिन पर कृत्रिम साहित्यिक हिन्दी जबरदस्ती लादी गई है। ये लोग भूल जाते हैं कि इंग्लैण्ड, रूस, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में अंग्रेजी, रूसी, फ्रांसीसी, जर्मन आदि भाषाओं की वैसी ही बोलियाँ है जैसी हिन्दी की। इन सब भ्रान्तियों के निवारण के लिए हिन्दी-भाषी प्रदेश में हिन्दी-प्रचार आवश्यक है।

हिन्दी-उर्दू समस्या को अधिकांश हिन्दी-प्रेमी भूल-से गए थे। रेडियो द्वारा हिन्दी

के सरलीकरण ने उर्दू नींद से जगा दिया। भारतेन्दु से लेकर प्रेमचन्द तक हिन्दी के तमाम लेखक अपनी भाषा को कठिन बनाते रहे, जिससे जनता उनका साहित्य समझ न पाये, अब उस हिन्दी को सरल बनाने का बीड़ा उठाया है आकाशवाणी ने। यह सरलीकरण का प्रश्न उस समय उठाया गया जिस समय अंग्रेजी को अनिश्चित काल के लिए राजभाषा घोषित किया गया। हिन्दी-उर्दू के झगड़े में फिर से जान डालकर राष्ट्रभाषा के रूप में अंग्रेजी को नवजीवन दिया गया।

हिन्दी के कुछ विद्वान् मानते हैं कि मुसलमानों की भाषा उर्दू है, जो हिन्दी से स्वतन्त्र है। बंगाल के मुसलमानों की बंगला से स्वतन्त्र कोई भाषा क्यों नहीं है, इस प्रश्न का उत्तर वे नहीं देते। सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि हमारे देश की श्रमिक जनता में कहीं भी धर्म के आधार पर भाषागत विभाजन नहीं दिखाई देता। कानपुर, लखनऊ, पटना आदि के हिन्दू-मुसलमान मजदूर आपस में एक ही सामान्य भाषा का व्यवहार करते हैं। जो लोग हिन्दुओं और मुसलमानों की दो भाषाएँ मानते हैं, जो हिन्दी और उर्दू को मूलतः दो भाषाएँ मानते हैं, उन्हें यह समझना चाहिए कि भाषा की आधारभूमि कोटि-कोटि श्रमिक जनता है न कि मुट्ठी भर पढ़े-लिखे लोग।

उर्दू प्रेमियों में इस बात का प्रचार करना आवश्यक है कि उनकी अलग कौम नहीं है, वे विशाल हिन्दी-भाषी जाति का अंग हैं, प्रत्येक जाति की एक ही भाषा होती है, दो नहीं; हिन्दी उर्दू मूलतः एक ही भाषा हैं, इसलिए उनका साहित्यिक रूप दो न होकर एक ही होगा, हिन्दी-उर्दू के अलगाव से हमारी जातीय संस्कृति पूरी शक्ति से विकसित नहीं हो पाती। उर्दू-प्रेमी कबीर, जायसी, रसखान, रहीम आदि की साहित्यिक परम्परा से अपना सम्बन्ध जोड़ें, भारत की अन्य भाषाओं के विकास के अनुकूल उर्दू को मोड़ें, इससे तुरन्त नहीं किन्तु कुछ समय बाद हमारी सामान्य साहित्यिक परम्परा विकसित होगी। उर्दू प्रेमियों के साथ इस तरह का प्रचार उन हिन्दी प्रेमियों में भी करना आवश्यक है, जो हिन्दुओं और मुसलमानों को दो भिन्न जातियाँ मानते हैं।

हिन्दी भाषी जनता की शक्ति अपार है किन्तु वह असंगठित और बिखरी हुई है। हिन्दी भाषियों के जातीय हित में इस शक्ति को संगठित करना आवश्यक है। समूचे राष्ट्र को एकताबद्ध और दृढ़ करने के लिए हिन्दी भाषी जाति की एकता आवश्यक है। इस एकता के मार्ग में पहली बाधा है अंग्रेजी प्रेम। दूसरी बाधा है आंचलिक बोलियों को स्वतन्त्र भाषा मानने की भ्रान्ति। तीसरी बाधा है हिन्दी-उर्दू-प्रेमियों का दो खेमों में बँटकर जातीय संस्कृति को कमजोर करना। इन तीनों बाधाओं के फलस्वरूप अपनी जातीय शक्ति के उपयोग द्वारा हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के अपने उत्तरदायित्व को हम निबाह नहीं पाते।

यदि समस्त हिन्दी भाषी प्रदेश में शिक्षा संस्थाओं, न्यायालयों, राजकीय कार्यों में हर स्तर पर हिन्दी का व्यवहार होने लगे, यदि विधान-परिषदों के सदस्य प्रतिज्ञा करें कि वे अपना सार्वजनिक कार्य हिन्दी में ही करेंगे, यदि लोकसभा के सदस्य तय कर लें कि

वे राजभाषा के रूप में हिन्दी का ही व्यवहार करेंगे तो क्या इसमें किसी को सन्देह हो सकता है कि समूचे राष्ट्र का वातावरण बदल जाएगा और हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनते जरा भी देर न लगेगी ?

हम हिन्दी-भाषी किसी पर हिन्दी लादना नहीं चाहते। जो अंग्रेजी ही बोलना पसन्द करे उससे जबरदस्ती हिन्दी बुलवाना नहीं चाहते। किन्तु हमें भी अंग्रेजी बोलने के लिए कोई बाध्य नहीं कर सकता। लोकसभा और राज्यसभा के वे सदस्य और मन्त्री, जो हिन्दी-भाषी प्रदेश से चुने गए हैं, जिस दिन तय कर लेंगे कि अंग्रेजी के बदले हिन्दी का ही प्रयोग करेंगे, उसी दिन हिन्दी व्यवहारतः राष्ट्रभाषा बन जाएगी। यदि ऐसा नहीं होता तो कमज़ोरी हमारी है। हमें हिन्दी-प्रचार द्वारा स्वयं अपने प्रदेश की जनता को जाग्रत करना है, अपने प्रदेश के नेताओं में हिन्दी की उपेक्षा दूर करनी है, स्वयं अपने प्रतिनिधियों को बाध्य करना है कि वे राजकाज में और सर्वत्र हिन्दी का व्यवहार करें। इस तरह के प्रचार और संगठन द्वारा ही अपनी जातीय शक्ति के अनुरूप हम हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का अपना गहन उत्तरदायित्व पूरा कर सकते हैं। (१९६२)

२७

सरकारी कोशकार और राष्ट्रभाषा

तीस से अधिक वर्ष हुए, जनवरी, १९३२ की 'सुधा' में अंग्रेजी-हिन्दी कोश-सम्बन्धी एक टिप्पणी प्रकाशित हुई थी। टिप्पणी के अनुसार श्री सुखसम्पत्तिराय भण्डारी ने 'विद्वान् और विशेषज्ञों की सहायता से' लगभग बीस हजार रुपये खर्च करके प्राय डेढ़ लाख शब्दों का यह कोश तैयार किया था जिसकी प्रशंसा प्रयाग विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर डॉ० गंगानाथ झा, पंजाब विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर डॉ० ए० सी० वूलनर, डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, डॉ० काशीप्रसाद, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी आदि विद्वानों ने की थी और सर पी० सी० राय ने इसे महान प्रशंसनीय साहित्यिक कार्य कहते हुए बंगाली, मराठी और गुजराती भाषा-भाषियों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी बतलाया है।'

हिन्दी भाषी विद्वान इस बात की ओर बहुत पहले से सचेत रहे हैं कि हमारी भाषा आधुनिक विज्ञान तथा संस्कृति से सम्बन्धित विचारों को प्रकट करने में सक्षम हो। सरकारी सहायता के अभाव में, अक्सर प्रच्छन्न सरकारी विरोध का सामना करते हुए सुखसम्पत्तिराय भण्डारी जैसे विद्वानों ने घोर परिश्रम करके पारिभाषिक शब्दों की कमी को पूरा किया। नागरी प्रचारिणी सभा जैसी संस्थाओं ने इस कार्य को आगे बढ़ाया। डॉ० सत्यप्रकाश जैसे विद्वानों ने वैज्ञानिक विषयों पर लेख लिखकर और दूसरों से लिखा-कर पारिभाषिक शब्दों के प्रचार में सहायता की। भारत के स्वाधीन होने पर जब अंग्रेजी को हटाने, भारतीय भाषाओं को उनका स्वत्व देने और परस्पर व्यवहार तथा केन्द्रीय राजकाज के लिए हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का सवाल सामने आया तब हिन्दी से नितान्त अनभिज्ञ, देवनागरी में कठिनाई से हस्ताक्षर कर पानेवाले देश के अनेक सम्मान्य राजनीतिज्ञों ने घोषित किया कि हिन्दी को विकसित होने, आधुनिक विचारों की अभिव्यक्ति के योग्य बनने के लिए अभी और समय देना चाहिए। संविधान में इस बात को [illegible] दिया गया कि हिन्दी को विकसित किया जाय और संस्कृत तथा अन्य भाषाओं से आवश्यकतानुसार शब्द लेकर (या नये शब्द गढ़कर) उसे समृद्ध किया जाय।

भारत सरकार ने १९५० में विज्ञान-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द-संग्रह के लिए एक समिति स्थापित की। शिक्षा मंत्रालय के तत्वावधान में हिन्दी को विकासमान और समृद्ध करने का वृहत् कार्य बारह साल तक चलता रहा और १९६२ में 'पारिभाषिक

शब्द-संग्रह' नामक सरकारी कोश प्रकाशित हो गया।

भूमिका में सरकारी नीति स्पष्ट कर दी गई है। शिक्षा मन्त्रालय के तत्वावधान में दस वर्षों की अवधि में जितने पारिभाषिक शब्द रचे गए, उन्हें कोशबद्ध किया गया। अंग्रेजी में श्री आर० पी० नायक लिखित इस भूमिका में 'इवोल्व' और 'इवोल्यूशन' शब्दों का अनेक बार प्रयोग किया गया है। इन शब्दों का आशय यही है कि हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों का अभाव था, इसलिए शिक्षा मन्त्रालय द्वारा संचालित हिन्दी निदेशालय में नवीन शब्दावली रची गई। एक जगह यह स्पष्ट लिखा है कि १९६१ के मध्य तक विशेषज्ञ-समितियों की संख्या २६ हो गई थी और 'नव-निर्मित' शब्दों की संख्या लगभग तीन लाख तक पहुँच गई थी (द टर्म्स क्वायण्ड केम टु नियरली थ्री लैक्स)। ये शब्द 'क्वायन' किये गए थे, हिन्दी में थे नहीं, उसे विकसित करने के लिए निदेशालय में ये तीन लाख शब्द ढाले गए थे।

अधिकांश भारतीय राजनीतिज्ञों के लिए जीवन के अनेक स्वीकृत मूल्यों के समान हिन्दी की दरिद्रता भी स्वयसिद्ध सत्य है जिसे प्रमाणित करने के लिए किसी आयोग या समिति की जरूरत नही है। अंग्रेज़ी की समृद्धि उसी प्रकार दूसरा ध्रुव सत्य है जिसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। इन दो ध्रुवों की धुरी पर भारतीय जनतन्त्र की राजनीति अनवरत आवर्तन करती है।

यदि इस सरकारी कोश के सभी या अधिकांश शब्द नये सिरे से गढ़े गए हों, तो वे हिन्दी-भाषी बुद्धिजीवियों के लिए अपरिचित होंगे, कोश के पन्ने पलटने पर ऐसा लगेगा कि हम शब्दों की नई दुनिया मे आ गए है जिनके रूप और अर्थ मे हमारा पहली बार साक्षात्कार हो रहा है। वैसे तो किसी अपारिभाषिक कोश में भी साधारण पाठको को हज़ारों शब्द मिल जाएँगे जिनसे वे परिचित न होंगे। इसलिए पारिभाषिक कोश में अजनबी लगनेवाले शब्दों का होना आश्चर्यजनक नही है। आश्चर्यजनक बात यह है कि हर पृष्ठ पर अनेक ऐसे शब्द मिल जाते हैं जिनसे साधारण पाठक अच्छी तरह परिचित है और जिन्हें नायक साहब के अनुसार 'क्वायन' किया गया है।

एक निगाह इन शब्दों पर डालिए: वायुमण्डल, उपलब्धि, आक्रमण, ध्यान, प्रायश्चित, मन्त्रिमण्डल, नैतिक, उपहास, त्वचा, बुद्धि, आशय, अभिप्राय, सौन्दर्यशास्त्र, रसायन, विनिमय, द्रव्य, पदार्थ, विषयवस्तु, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण, सापेक्ष, नीति-शास्त्र, पुरातत्व, प्रतियोगिता, घनत्व, प्रत्याख्यान, प्रत्यक्ष, परोक्ष, उद्योग, संक्रमण, आकर्षण, विकर्षण इत्यादि। इस तरह के हज़ारों शब्द इस कोश में हैं जो हिन्दी में वर्षों से प्रचलित हैं और जिनके लिए कोई यह दावा भी नही कर सकता कि उन्हें नये सिरे से गढ़ा गया है। इनके लिए यह दावा भी नही किया जा सकता कि वे अन्य कोशों में नहीं हैं! किन्तु हिन्दी को समृद्ध करने, उसे राष्ट्रभाषा-पद के योग्य बनाने के लिए शिक्षा मन्त्रालय और विशेषज्ञ-समितियों ने जो घोर परिश्रम किया, उसमें इस तरह के शब्दों का संग्रह भी शामिल है।

इनके अलावा इस कोश में हिन्दी के ऐसे हजारों अतिप्रचलित शब्द हैं जिन्हें साधारण बुद्धि के लोग पारिभाषिक स्वीकार ही न करेंगे। प्रचलित शब्द भी पारिभाषिक हों, इस पर आपत्ति नहीं है। प्रश्न दूसरा है। क्या ये शब्द गढ़े गए हैं? क्या ये पहले से हिन्दी में या हिन्दी कोशों में थे नहीं? कपूर, अलाप, डेरा, कमरा, खरीदारी, सदी, शताब्दी, मसग, निश्चित, नाट्यशाला, जादूगर, छपाई, जुड़ाई, उपाय, रोष, याद, माफी, दमा, पुनर्विवाह, प्रभावित, विनाश, अजवायन, सौंफ, सुपारी, उधार, शोरा, मदिरा, अर्दली, सरगर्मी, किराया, रोजगार, कार्यालय, दफ्तर, मुठभेड़, तैरना, आधुनिक, देवालय, चखना, छिलका, सामने, छितराना, मरम्मत करना, प्रयत्न करना, चिपकाना, पर्याप्त, काम रोकना, शपथ दिलाना, स्नान मोम, से, परे, ठीक है, धर्म, छूट देना, छुट्टी पाना, जरा हट के, गिर गया, दौड़ते हुए, इस हालत में, इत्यादि। इस तरह के शब्दों को देखकर यह प्रस्ताव करने की इच्छा होती है कि कोश के द्वितीय संस्करण में खाना, पीना, उड़ना, बैठना, चलना, माना, धरती, आकाश, पानी, हवा, धूल, आलू, मटर, टमाटर, बैंगन, गाजर, मकान, छत, फर्श, दरवाजा, खिड़की, पिता, पुत्र बहन, भाई, चाचा, ताऊ आदि-आदि शब्दों को भी पारिभाषिकों में गिन लेना चाहिए और भूमिका में अगले दस वर्षों के समृद्धीकरण प्रोग्राम की सफलता के रूप में उन्हें पेश कर देना चाहिए! किन्तु सम्भव है, इनमें और इन जैसे अनेक शब्द इस कोश में पहले से ही हों और मैंने उन पर ध्यान न दिया हो। जो भी हो, जब तक ये शब्द सरकारी कोश में दर्ज नहीं हुए, तब तक हिन्दी दरिद्र थी! दर्ज होने के बाद भी हिन्दी समृद्ध होकर राष्ट्रभाषा नहीं बनी—यह प्रश्न अलग है।

यह कहा जा सकता है कि ऊपर जिस तरह के शब्दों का उल्लेख किया गया है, वे हिन्दी में थे जरूर किन्तु अर्थ निश्चित नहीं था, पारिभाषिक शब्द-संग्रह करनेवालों ने हिन्दी की यह सेवा की है कि अस्थिर अर्थवाले शब्दों को अंग्रेजी पर्यायों के साथ निश्चित ढंग से नत्थी कर दिया है। भूमिका में भारतीय कोशकारों के प्रयत्नों का उल्लेख करते हुए शब्दों के अरण्य की चर्चा की गई है, जहाँ लेखकों और साधारण जनों को रास्ता नहीं सूझता। किन्तु इस कोश के पन्ने पलटने पर यह समझने में किसी को देर न लगेगी कि यहाँ हजारों अंग्रेजी शब्द ऐसे हैं जिनके एक से अधिक हिन्दी-पर्याय दिये गए हैं। उदाहरण के लिए, न्याय क्षेत्र में 'ऐप्लाई' शब्द के लिए—विनियोग करना, प्रयोग करना, लागू करना, आवेदन करना, प्रार्थनापत्र देना, जीव-विज्ञान के अन्तर्गत 'लैरिंक्स' के लिए—कण्ठ, स्वरयन्त्र, लैरिंक्स! 'डस्क' शब्द के आगे यह नहीं लिखा कि वह किस क्षेत्र का पारिभाषिक शब्द है, किन्तु उसके तीन पर्याय दिये गए हैं—गोधूलि, धुरी (?), साँझ। अर्थशास्त्र के प्रचलित शब्द 'मर्चेण्ट' के लिए—सौदागर, सार्थवाह, व्यापारी, वणिक्। प्रचलित शब्द 'रिलीव' के लिए—छुट्टी देना, छुट्टी पाना (!), छुट्टी मिलना (नौकरी से), भारमुक्त करना, अवमुक्त करना। 'यूनिट' शब्द के आगे भी संकेत नहीं है कि वह किस क्षेत्र का पारिभाषिक है। उसके पर्याय—मात्रक, एकक, (ड) कार्ड, दल, एकांग, एकांश,

यूनिट, एकांक !

सरकारी कोश के संरक्षकगण स्वयं देख सकते हैं कि शब्दों की बहुलता कम नहीं हुई, उसमें कुछ इजाफा ही हुआ है। पाठक प्रश्न कर सकते हैं कि इस शब्द-संग्रह में गोधूलि, साँझ, सौदागर जैसे शब्द ही हैं तो उनके संग्रह के लिए इतना परिश्रम क्यों? नहीं, सांझ, गोधूलि और सौदागर तो सरकारी सस्पर्श से पारिभाषिक बन गए हैं। इनके अलावा ऐसे भी हज़ारों शब्द हैं जिन्हें देखते ही कोई कह देगा कि वे पारिभाषिक है। उदाहरण के लिए, संसक्ति, नम्यता, अविलेयता, गलनांक, वाष्पायन, ऊष्मा, संघनन, विकिरण, प्रच्छाया, उपच्छाया, परावर्तन, अवतल, उत्तल, अक्ष, अण्डाशय, अपचय, अम्ल, क्षार, अणु, परमाणु, चाप, समीकरण, समायवी, अवक्षेपण, द्रव, ज्वलनशील, औतिकी, भौतिकी इत्यादि—ये सब शब्द आपको इस कोश में मिलेंगे। किन्तु आप यदि थोड़ा-सा परिश्रम करें तो आप देखेंगे कि ये शब्द विद्यार्थियों की उन पाठ्य-पुस्तकों में भी प्रयुक्त हुए हैं जो इस कोश-निर्माण से पहले प्रकाशित हुई थीं! इन्हें 'इवौल्व' करने या 'क्वायन' करने का दावा इस कोश के सम्पादक लोग नही कर सकते।

इस सरकारी कोश में ऐसे भी हजारों शब्द हैं जिन्हें तीस वर्ष पहले ही श्री सुख-सम्पतिराय भण्डारी और उनके सहयोगियों ने 'क्वायन' या 'इवौल्व' कर लिया था। इनमें अणु, परमाणु, धूमकेतु, निरपेक्ष, अमूर्त, सूत्र, मताधिकार, निर्वाचन-क्षेत्र, राष्ट्रीय-करण, समाजवाद, लोकतन्त्र जैसे शब्द हैं। ऐसे शब्द साधारण हिन्दी गद्य में बराबर प्रयुक्त होते रहे हैं। इनके अतिरिक्त विज्ञान-सम्बन्धी शब्द भी हैं, जिनका व्यवहार वैज्ञानिक पुस्तकों में होता है। 'डिफरेंशल इक्वेशन'–अवकल समीकरण; 'डिफ्रैक्शन'–विवर्तन; 'आइसोमेरिज्म'–समावयवता; 'लेटरल'–पार्श्विक; 'वेन'–शिरा; 'वर्टीब्रा'–कशेरुका; 'यूटेरस'–गर्भाशय; 'लैरिंक्स'–स्वर-यन्त्र; 'अपेण्डिक्स'–परिशिष्ट; 'कार्टिलेज'–उपास्थि; 'क्लैविकल'–अक्षक; 'कौर्टेक्स'–वल्क; 'डक्ट'–वाहिनी; 'कोन'–शंकु; 'कौर्पस कैलोसम'–महासंयोजक; 'रैडिएशन'–विकिरण; 'मैग्नेटिज़्म'–चुम्बकत्व; 'लौगैरिथम'–लघुगणक; 'कैलकुलस'–कलन; 'हिप्नौटिज्म'–सम्मोहन; 'इनहिबिशन'–अवरोध; 'साइको-एनैलिसिस'–मनोविश्लेपण; 'एनालौजी'–सादृश्य; 'ऐल्ट्रूइज़्म–परार्थवाद; 'ऐनाबोलिज्म'–चय; 'ऑकल्टिज़्म-गुह्यविद्या; 'स्प्लीन'–प्लीहा; 'डेंसिटी'–घनत्व इत्यादि।

इस तरह के हज़ारों शब्द भण्डारी-कोश और उसके तीस साल बाद के सरकारी कोश में ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। इनके सिवाय ऐसे भी सैकड़ों शब्द हैं जिनमें सरकारी कोश ने नाममात्र का परिवर्तन किया है। 'डायलेटेशन' के लिए भण्डारी के 'विस्तारन' को यहाँ 'विस्तारण' कर दिया गया है, 'न' का 'ण'! अथवा 'सिस्टोल' के लिए भण्डारी-कृत 'आकुंचन' सरकारी कोश में 'प्रकुंचन' हो गया है! 'थोरैसिक' के लिए भण्डारी ने लिखा 'वक्ष-सम्बन्धी'; सरकारी कोश में उसे 'वक्षीय' कर दिया गया! 'आइसोटोप' के लिए भण्डारी ने लिखा 'समस्थानीय'; सरकारी कोश ने उसे किया 'समस्थानिक'!

इस सरकारी कोश के सम्पादकों-संरक्षकों से यह पूछना अनुचित न होगा कि आखिर वे शब्द कौन-से हैं जिन्हें इस कोश में आप लोगों ने 'इवोल्व' किया है, या 'क्वायन' किया है, जिनके अभाव में हिन्दी राष्ट्रभाषा न बन सकती थी, दरिद्र थी, आधुनिक जीवन से सम्बन्धित विचारों को प्रकट करने में असमर्थ थी ? प्रत्येक हिन्दी प्रेमी को सरकार और उसके मुलाजिमों से यह प्रश्न करना चाहिए कि इस कोश से लगातार हिन्दी के जिन अभावों की आप घोषणा करते रहे थे, वे कौन-से हैं, जिन शब्दों की रचना करके आपने उन अभावों की पूर्ति की है ? अपार धन व्यय करके आपने जिस कोश की रचना की है, स्पष्ट बताइए कि इसमें कितने शब्द ऐसे हैं जो हिन्दी में पहले से विद्यमान न थे ?

मेरा अनुमान है कि कोश में नये गढ़े हुए शब्दों को बहुत परिश्रम से ढूँढ़ निकाला जाय तो छपने पर वे पन्द्रह-बीस पृष्ठों में ज्यादा जगह न घेरेंगे। यह बात सही हो तो सरकार ने पाँच साल केवल डेढ़ या दो पृष्ठों की नवीन सामग्री प्रस्तुत की।

यदि किसी को विश्वास हो कि नवनिर्मित शब्दों की संख्या पन्द्रह-बीस पृष्ठों से अधिक परिमाण की होगी तो उनसे प्रार्थना है कि वह ऐसे शब्दों का संग्रह कर डालें, उन्हें प्रकाशित कर दें, यह हिन्दी की बहुत बड़ी सेवा होगी, एकदम वैज्ञानिक ढंग से पता चल जाएगा कि हिन्दी की साधारण समृद्धि में ठीक-ठीक कितने शब्दों का इजाफा किया गया है।

इस कोश निर्माण के लिए आई० सी० एस० आफिसर, शिक्षा मन्त्रालय के स्पेशल आफिसर आन ड्यूटी मद्रास, मैसूर, बंगलोर, पूना, कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली से निकट और दूर के, नगरों से बीसियों विशेषज्ञों का पचासों बार आवागमन, उनके टी० ए० बिल, दिल्ली में ठहरने का भत्ता, एक स्थायी कार्यालय और उसके कर्मचारी—आप हिसाब लगाएँ, फी शब्द सौ टके से कम नहीं पड़ा। पहले तीन लाख शब्द गढ़े या इकट्ठे किये गए। उनमें बहुत से शब्द दुहराये तिहराये गए थे। मनोविज्ञान के शब्द दर्शन में भी आ गए और भौतिकी के शब्द रसायन में। इन फालतू शब्दों की छँटाई के बाद इस कोश में एक लाख से कुछ ऊपर शब्द बच रहे हैं। कोश पर करोड़ों रुपये खर्च हुए। इतना धन व्यय करने के बाद भी पता नहीं चलता कि नवनिर्मित शब्द दरअसल कितने हैं। शिक्षा मन्त्रालय के उच्च अधिकारियों ने सम्भवतः कोश को पन्ने पलटकर देखा भी नहीं है। वरना श्री आर० पी० नायक तीन लाख 'नये शब्द गढ़ने' की बात न लिखते। कोश में प्रकाशित एक अन्य अंग्रेजी लेख में उन सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है जिनके अनुसार शब्द-संग्रह का कार्य सम्पादित किया गया है। इस लेख में बताया गया है कि सम्पादकों ने हिन्दी में पहले से प्रचलित शब्द-राशि से लाभ उठाया है। इस लेख में लाखों नये शब्द गढ़ने का दावा नहीं किया गया। इसमें प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय साहित्य से शब्द लेने की बात भी कही गई है। सरकारी भूमिका में नये शब्द गढ़कर हिन्दी की दरिद्रता दूर करने का जो दावा किया गया है, वह इस लेख की बातों से कट जाता है।

इस लेख में शब्दों के अर्थ निश्चित करने के बारे में कुछ बातें कही गई हैं, जो गलत हैं। जिन प्राचीन शब्दों को खोज निकालने का दावा किया गया है, उनमें 'कैलकुलस'

का पर्याय 'कलन' भी है। यह शब्द भण्डारीजी के कोश में विद्यमान है। इसी तरह 'हीट' के लिए 'ऊष्मा' को निश्चित करने की जो बात कही गई है, वह सही नही है। भौतिकी-पुस्तकों में 'हीट' के लिए ऊष्मा का प्रयोग काफी पहले से होने लगा था। कोश मे कुछ प्रचलित शब्दों को छोड़कर नये शब्द गढ़े गए है। यह गढन्त अक्सर भोंडी हो गई है। 'नर्व' के पर्याय-रूप में 'स्नायु' हिन्दी का प्रचलित शब्द था। उसे हटाकर 'तन्त्रिका' शब्द स्थापित किया गया है। 'स्नायु-तन्त्र' सुनने में अच्छा लगता है। उसके बदले इस कोश के अनुसार 'तन्त्रिका-तन्त्र' का चलन होना चाहिए! 'डिप्लोमैसी' के लिए हिन्दी में 'कूटनीति' शब्द प्रचलित है। इस कोश में इसके लिए नया शब्द दिया है—'राजनय'! 'अग्नोस्टीसिज्म' का पर्याय दिया गया है 'अनीश्वरवाद,' जो गलत है। इसके विपरीत भण्डारीजी के कोश में सही शब्द दिया गया है—'अज्ञेयवाद'। 'स्पेस' या 'आउटर स्पेस' का समानार्थी हमारा प्राचीन शब्द है'अन्तरिक्ष'। उसे कोश मे जगह नही मिली। 'नेशनैलिटी' का समानार्थी प्रचलित शब्द है—'जाति'। सरकारी कोश ने भोंडी गढन्त की है—'राष्ट्रिकता'।

एक विचित्र बात यह है कि एक ही शब्द से सम्बन्धित शब्द-समूह में पर्यायों की यथेष्ट भिन्नता दिखाई देगी। 'स्पेस टाइम' के लिए 'दिक् काल' किन्तु 'स्पेस टाइम कर्व' के लिए 'अवकाश-समय-वक्र'। ऐसे भी सैकड़ो शब्द हैं जो कोश में नही आए—यथा 'एग्जॉल्टेशन,' 'पैन्थीइज्म', 'ईस्थेसिया,' 'कोस्मोनॉट', 'जनरल स्ट्राइक' इत्यादि।

ज्यादा अच्छा होता कि सरकार ज्ञान-विज्ञान के समस्त क्षेत्रो में हिन्दी को समृद्ध करने का ठेका न लेती। वह शासन-व्यवस्था, न्याय, व्यापार आदि उन क्षेत्रों के शब्दों का ही संग्रह कराती जिससे उसे आए दिन साबका पड़ता है। आखिर लोकसभा के सदस्य या मन्त्रीगण अपनी राजनीतिक हैसियत से भौतिकी, रसायन या जीवविज्ञान पर तो ग्रन्थ रचेंगे नहीं। हिन्दी को केन्द्रीय राजकाज की भाषा बनाने के लिए देखना यह चाहिए था कि उसमें राजकाज के शब्द हैं या नही। यह सीधा-सादा छह महीने में खत्म होनेवाला काम न करके सरकार ने दो पंचवर्षीय योजनाओं का समय लगा दिया, समस्त विषयों के इस शब्द-संग्रह में।

शब्द-संग्रह तैयार हो गया। धन, समय और शक्ति के अपव्यय के बावजूद यह लाख से ऊपर शब्दों का संग्रह प्रस्तुत है। भारत के डेढ़ फी सदी अंग्रेजीदाँ बुद्धिजीवी जो पहले अंग्रेजी में सोचते हैं, फिर अपने सोचने का फल किसी भारतीय भाषा में प्रकट करते हैं, इस कोश की सहायता से हिन्दी में अब अपने अमूल्य विचार प्रकट कर सकते हैं। क्या अब केन्द्रीय राजकाज अंग्रेजी के बदले हिन्दी में होने लगा है? नही, इसके विपरीत अनिश्चित काल के लिए अंग्रेजी हमारी राष्ट्रभाषा घोषित कर दी गई है।

दो निष्कर्ष स्पष्ट हैं—

(१) हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों के अभाव की बात राजनीतिज्ञों का झूठा प्रचार है। सरकारी शब्द-संग्रह के ९९ फी सदी शब्द हिन्दी-पुस्तकों और कोश में पहले से विद्यमान हैं।

(२) कोश-निर्माण द्वारा हिन्दी को समृद्ध करने, उसे राजभाषा पद के योग्य बनाने की सारी प्रक्रिया एक राजनीतिक चाल है, जिसका उद्देश्य है हिन्दी-भाषियों तथा समस्त राष्ट्रभाषा-प्रेमियों की आँखों में धूल झोंकना।

राष्ट्रीयता और जनतन्त्र का आधार संकुचित करके अंग्रेजी पढ़े-लिखे मुट्ठी-भर लोग जो भारत के शासन-तन्त्र का संचालन करते हैं, वे अपना निहित स्वार्थ छोड़ने को तैयार नहीं हैं। उनकी धारणा है कि अंग्रेजी के विदा होने पर उन्हें भी भारतीय रंगमंच से विदा लेनी होगी। हिन्दी-भाषी तथा समस्त भारतीय जनता का हित इसी में है कि अंग्रेजीदाँ नौकरशाहों का यह वर्ग जल्दी-से-जल्दी शासन-तन्त्र से दूर हो, तभी देश की समस्त भाषाएँ जनता की सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति का साधन बनेंगी और भारत अपनी प्रभुसत्ता को पूरी तरह चरितार्थ करेगा। (१९६३)

२८

वामपंथी कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम का मसौदा

(भाषा-सम्बन्धी नीति की आलोचना)

वामपंथियों के कार्यक्रम के मसौदे में भारतीय भाषाओं की समानता के बारे में बहुत-सी और बहुत अच्छी-अच्छी बातें कही गई हैं। लेकिन कहीं यह नहीं बताया गया कि भारत की सभी भाषाओं पर अपना आधिपत्य जमाये हुए जो अंग्रेज़ी बैठी हुई है, उसके बारे में वामपंथी कम्युनिस्ट क्या करने जा रहे हैं। मसौदे मे यह सराहनीय बात कही गई है कि विभिन्न राज्यों तथा वहाँ की जनता के बीच आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सहयोग को बढ़ावा देकर भविष्य में कायम होनेवाली जनता की जनवादी सरकार भारत की एकता को दृढ़ करेगी। यह एकता दृढ़ करने का काम अंग्रेज़ी के द्वारा होगा या किसी भारतीय भाषा के द्वारा ?

जहाँ तक हिन्दी का सम्बन्ध है, मसौदे में कहा गया है कि अखिल भारतीय स्तर पर हिन्दी का व्यवहार अनिवार्य न होगा लेकिन विभिन्न राज्यों की सरकारों के बीच सम्पर्क भाषा बनने के लिये हिन्दी को प्रोत्साहन दिया जायगा।

हिन्दी का व्यवहार अनिवार्य न होगा। बहुत अच्छी बात है क्योंकि हिन्दी के व्यवहार को अनिवार्य बनाना जनतन्त्र-विरोधी कार्य होगा। लेकिन अंग्रेज़ी को हटाना अनिवार्य क्यों न कर दिया जाय ? मातृभाषाओं के व्यवहार पर सही जोर, लेकिन अखिल भारतीय स्तर पर हिन्दी के व्यवहार को लेकर आगा-पीछा—ऐसा क्यों ? जनता की जनवादी सरकार हिन्दी के व्यवहार को प्रोत्साहन देगी ! मानो विभिन्न प्रदेशों की जनता ने अभी तक परस्पर आदान-प्रदान की आवश्यकता का अनुभव ही न किया हो ! मानो वह अभी तक राह देख रही हो कि जनता की जनवादी सरकार बन जाय, तब वह आपसी सम्पर्क का काम शुरू करे ! और विभिन्न राज्यों की सरकारों को ही परस्पर सम्पर्क के लिए हिन्दी को प्रोत्साहन क्यों दिया जायगा ? क्या अन्तर्प्रादेशिक सम्पर्क की आवश्यकता केवल सरकारों को पड़ती है ? जनता की जनवादी सरकार कायम होने पर जनता को इस सम्पर्क की आवश्यकता पड़ेगी या नहीं ? भारत की सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक एकता दृढ़ करने में जनता का भी कुछ हिस्सा होगा या नहीं ?

जनता के बाएँ और साम्राज्यवाद से दाएँ—वामपंथी मसौदे का सारतत्व यही है। जोरों से हिन्दी की अस्वीकृति और अंग्रेजी की स्वीकृति, आज के लिए भी और कल के लिए भी—यह है मसौदे की नीति। सत्रह साल से कांग्रेस जिस नीति पर चलती आई है, उसमें इस वामपंथी नीति में कुछ ज्यादा फर्क नहीं दिखाई देता।

साम्राज्यवादी अंग्रेजी के प्रसार और शिक्षण पर करोड़ों रुपये खर्च कर रहे हैं। भारत के सबसे बड़े राष्ट्रीय अखबार अंग्रेजी में निकलते हैं और उनके मालिक बड़े पूंजीपति हैं। इनमें अहिन्दी और हिन्दी दोनों तरह के पूंजीपति हैं। मध्यवर्ग के पढ़े लिखे लोग नौकरशाही मशीन चलाते हैं और उन्हीं में से भारत की राजनीतिक पार्टियों के नेता भी बनते हैं। इन पार्टियों का राजनीतिक काम अंग्रेजी में होता है। इनमें से अनेक पार्टियाँ चाहती हैं कि अंग्रेजी जाय लेकिन वे अपना अन्तर्प्रादेशिक काम करती हैं अंग्रेजी में। सरकार से यह कहना कि यह करो वह करो, तब तक बिलकुल फिजूल है जब तक राजनीतिक पार्टियाँ अखिल भारतीय कामों के लिए अंग्रेजी का सहारा लेना नहीं छोड़तीं। वामपंथी कार्यक्रम के मसौदे में कहा गया है कि पार्लियामेंट के सदस्य अपनी-अपनी भाषा में बोल सकेंगे और भाषणों के सभी भाषाओं में अनुवादित होने की व्यवस्था होगी। वामपंथी कम्युनिस्ट अपनी पार्टी कांग्रेस में इस प्रस्ताव पर अमल करके खुद अपने अन्दर अंग्रेजी का व्यवहार खत्म क्या नहीं कर देते? भारतीय जनता के किसी भी हिस्से को अंग्रेजी के कायम रहने से लाभ नहीं है। श्रमिक आन्दोलन में विभिन्न जातियों के मजदूर परस्पर सम्पर्क के लिए हिन्दी का व्यवहार करते हैं।

आज भारतीय जीवन में मुख्य अन्तर्विरोध हिन्दी और अहिन्दी भाषाओं में नहीं, अंग्रेजी तथा समस्त भारतीय भाषाओं में है। हिन्दी-अहिन्दी भाषाओं में जो भी अन्तर्विरोध हो, उसे गौण मानकर पहले मुख्य अन्तर्विरोध को हल करने की कोशिश करनी चाहिए। बड़े समाचारपत्रों की भाषा अंग्रेजी, विभिन्न राजनीतिक पार्टियों में अंग्रेजी, विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी, विज्ञान-सम्बन्धी प्रकाशन के लिए अंग्रेजी, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर केन्द्रीय सरकार की व्यवहार-भाषा अंग्रेजी, राज्यों में सरकारी भाषा अंग्रेजी! अब बताइए, अहिन्दी जातियों की प्रगति के लिए खतरा हिन्दी साम्राज्यवाद से है या अंग्रेजी साम्राज्यवाद से?

अहिन्दी जातियों के अधिकारों के लिए लड़ना और इस बात को भूल जाना कि अंग्रेजी सब पर हावी है, इस नीति का एक ही कारण है—अलगाव की भावना। आप प्रादेशिक स्तर पर जातियों के गठन की माँग करते हैं, उनकी भाषाओं के लिए समस्त अधिकारों की माँग करते हैं। लेकिन अखिल भारतीय स्तर पर राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने के लिए आप किसी भारतीय भाषा के लिए अधिकार नहीं माँगते। आप सहारा लेते हैं अंग्रेजी का जिसका मतलब है डेढ़ फी सदी भारतवासियों की एकता को सुदृढ़ करना। इसका मतलब है, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास को अखिल भारतीय धारा से तटस्थ हो जाना। आप इस विकास को अंग्रेजी तक सीमित कर देते हैं। आप अपने

प्रदेश की ही भाषा और संस्कृति के विकास की बात सोचते हैं। यही है अलगाव की भावना। अंग्रेजी का सूत्र बहुत कमजोर है और जरा से झटके से टूट सकता है। आपके लिए मजबूत सूत्र है प्रादेशिक भाषा जो आपको प्रदेश से बाँधती है। लेकिन दूसरे प्रदेशों से जो आपको बाँधे वह सूत्र कौन-सा है? तब क्या आश्चर्य कि द्रविड़ कषगम अलग तमिल राज्य बनाने की माँग करता रहा है, नागा जनों के लिए फ़िजो महाशय अलग राज्य चाहते हैं, शेख अब्दुल्ला कश्मीर के लिए आत्मनिर्णय का अधिकार चाहते है। राजाजी, फील्ड-मार्शल अय्यूब खाँ, चाऊ-एन-लाई और अंग्रेज़ी-भाषी जनतन्त्रों के ब्रिटिश-अमरीकी नेता सभी आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करते हैं।

भारत की वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति मे अलगाव से केवल साम्राज्यवाद का हित होता है। इसीलिए राष्ट्रीय एकता को सुदृढ करना सभी देश-प्रेमियों का सर्वोपरि कर्तव्य है।

आत्मनिर्णय की माँग सार्थक तब होती है जब साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करती हुई जनता अपनी स्वाधीनता के लिए आत्मनिर्णय की माँग करे। जारशाही रूस मे यह माँग सार्थक थी क्योंकि रूसी पूंजीपति गैर-रूसी जातियों का उत्पीड़न करते थे। भारत में यह माँग निरर्थक है। जो लोग शेख अब्दुल्ला को प्रोत्साहन देते है या जमकर उसका विरोध नहीं करते, वे देश के प्रति विश्वासघात कर रहे है।

अंग्रेजी के कायम रहने से प्रादेशिक भाषाओं को ही नुकसान होता है। फिर किसी भी प्रदेश की भाषा और संस्कृति का विकास अलगाव की हालत मे नही हुआ। प्रत्येक भाषा में उसके साहित्य की विषयवस्तु का आधार है देशभक्ति, न कि अलगाव-पंथी प्रादेशिकता। इसलिए अपने प्रदेश और उसकी भाषा पर ही जोर देना और राष्ट्रीय एकता की बात भूल जाना हानिकर है।

वामपंथी कम्युनिस्ट राष्ट्र के अस्तित्व को स्वीकार करते है। मसौदे मे कहा गया है कि छुटपुट संघर्ष बढ़ते-बढ़ते राष्ट्रीय (नेशनल) विद्रोह का रूप ले लेते; मसौदे में राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन, राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे आदि का उल्लेख है। इस राष्ट्र की एकता अंग्रेज़ी से दृढ़ नही हो सकती।

वामपंथी मसौदे में यह माँग की गई है कि भाषावार राज्यों के पुनर्गठन की प्रक्रिया पूरी की जाय। राज्य का गठन इस बात को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए कि जनता के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास में सुविधा हो। हर भाषा को लेकर केवल राज्य के लिए राज्य बनाना बचकानापन है।

कुछ लोग कहते हैं अंग्रेजों का विरोध करने के कारण राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। ऐसा हो तो भी मानना होगा कि साम्राज्यवाद का दबाव अभी बना हुआ है। वामपंथी मसौदे में कहा गया है कि एक ओर साम्राज्यवाद और सामन्तवाद, दूसरी ओर पूँजीपतियों समेत तमाम जनता—इनका अन्तर्विरोध बना हुआ है। इसके अलावा मसौदे में ब्रिटिश-अमरीकी पूंजी की आमद की बात भी की गई है। तब तो राष्ट्रीय एकता को दृढ़ करना

और भी आवश्यक है, प्रादेशिक अलगाव की भावना को दूर करना और भी महत्त्वपूर्ण है। लेकिन वामपंथी मसौदे में केवल हिन्दी को प्रोत्साहन देने की बात है, वह भी भविष्य में जब जनता की जनवादी सरकार बनेगी। उसमें यह नहीं कहा गया कि अंग्रेजी को उसके वर्तमान पद से हटाना—कल नहीं—आज आवश्यक है। सभी राष्ट्रीय नेता एक समय कहते थे कि आम जनता की एकता अंग्रेजी के द्वारा कभी कायम नहीं हो सकती। इसलिए जो लोग भविष्य में हिन्दी को प्रोत्साहन देने और वर्तमान काल में अंग्रेजी कायम रखने की बातें करते हैं वे विघटनकारी शक्तियों को प्रश्रय देते हैं। (१९६४)

२६

राष्ट्र, जाति और मार्क्सवाद

कुछ ऐसे भी विद्वान् इस देश में हैं जो कहते हैं कि भारत राष्ट्र नहीं है। उनके विचार से वह उप-महाद्वीप है। अंग्रेजों के आने से कुछ एकता उत्पन्न हो गई थी ; अंग्रेज गये तो साथ में एकता भी ले गए।

१६५७ में जब लोग अठारह सौ सत्तावन की शताब्दी मना रहे थे, तब अनेक इतिहासकारों ने यह सिद्ध कर दिया कि उस समय न राष्ट्र था, न राष्ट्रीय चेतना। फिर वह राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम कैसे होता ? इस कार्य में श्री रमेशचन्द्र मजूमदार ने विशेष प्रसिद्धि पाई। लेकिन इन्हीं श्रद्धेय इतिहासकार ने 'द क्लासिकल एज' नामक पुस्तक में 'मौर्यों के विशाल राज्य और उससे उत्पन्न राजनीतिक एकता' की चर्चा की थी। लिखा था कि "एक शताब्दी तक गुप्त-साम्राज्य आर्यावर्त की एकता और स्वाधीनता का प्रतीक बना रहा।" संस्कृत के आधार पर जो सांस्कृतिक एकता कायम हुई, उसके बारे में लिखा था कि विदेशी सत्ता और अनेक परिवर्तनों के बावजूद "वह आज भी भारतीय प्रजातन्त्र की एकता और राष्ट्रीयता का एकमात्र सुदृढ़ आधार है।"

गुप्त-काल में रामायण और महाभारत को उनका वर्तमान रूप दिया गया। उस समय की राष्ट्रीय एकता की भावना इन महाकाव्यों में प्रकट होती है। भीष्म-पर्व के नवें अध्याय में धृतराष्ट्र संजय से कहते हैं कि उस भारतवर्ष का वर्णन करो जिसके लिए पाण्डवों और कौरवों ने अपनी सेनाएँ एकत्र की हैं। संजय ने जिस भारतवर्ष का वर्णन किया है, वह श्री मजूमदार के विशुद्ध आर्यावर्त से थोड़ा भिन्न है क्योंकि उसमे म्लेच्छ भी रहते हैं।

भारतवर्ष की नदियों में सिन्धु, गंगा, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी आदि है। जनपदों में कश्मीर, आन्ध्र, केरल, कर्नाटक, अंग, वंग, कलिंग आदि हैं। कहनेवाले कह सकते हैं कि कवि ने गुप्त सम्राटों को प्रसन्न करने के लिए इन तमाम जनपदों को भारतवर्ष में गिना दिया है। ऐसा हो भी तो इसमें अनुचित क्या है ? शेक्सपियर ने इंग्लैंड के लिए लिखा था—

"यह सम्राटों द्वारा शासित द्वीप...
यह भव्य प्रदेश, यह धरती, यह राज्य, यह इंग्लैंड,

यह महाराजाओं का जन्मस्थान, यह उनकी धरित्री,
उनके जन्म लेने से प्रसिद्ध, उनके बल के कारण शत्रु में भय उत्पन्न करनेवाला।"

फिर कोई भारतीय कवि किसी गुप्त-सम्राट् की प्रशस्ति के गीत क्यों न गाएँ ? किन्तु महाभारत के कवि ने भारतवर्ष की प्रशस्ति लिखी है, राजाओं और सम्राटों की नहीं। राजाओं और सम्राटों के लिए लिखा है कि वे भूमि के लिए वैसे ही लड़ते हैं जैसे मांस के लिए कुत्ते।

देवमानुषकायानां कामं भूमिः परायणम् ।
अन्योन्यस्यावलुम्पन्ति सारमेया यथामिषम् ।।
राजानो भरतश्रेष्ठ भोक्तुकामा वसुन्धराम् ।
न चापि तृप्तिः कामानां विद्यतेऽद्यापि कस्यचित् ।।
तस्मात् परिग्रहे भूमेर्यतन्ते कुरुपाण्डवाः ।
साम्ना भेदेन दानेन दण्डेनैव च भारत ।।
पिता भ्राता च पुत्राश्च खं द्यौश्च नरपुङ्गव ।
भूमिर्भवति भूतानां सम्यगच्छिद्रदर्शिना ।।

(देव शरीरधारी प्राणियों के लिए और मानव-शरीरधारी जीवों के लिए यथेष्ट फल देनेवाली यह भूमि उनका परम आश्रय होती है। जैसे कुत्ते मांस के टुकड़े के लिए परस्पर लड़ते और एक-दूसरे को नोचते हैं, उसी प्रकार राजा लोग इस वसुधा को भोगने की इच्छा रखकर आपस में लड़ते और लूटमार करते हैं किन्तु आज तक किसी को अपनी कामनाओं से तृप्ति नहीं हुई। इस अतृप्ति के ही कारण कौरव और पाण्डव साम, दाम, भेद और दण्ड के द्वारा सम्पूर्ण वसुधा पर अधिकार करने के लिए यत्न करते हैं। यदि भूमि के यथार्थ स्वरूप का सम्पूर्ण रूप से ज्ञान हो जाय तो वह परमात्मा से अभिन्न होने के कारण प्राणियों के लिए पिता, भ्राता, पुत्र, आकाशवर्ती पुण्यलोक तथा स्वर्ग भी बन जाती है।)

यूरोप के प्राचीन साहित्य में इस मानवतावाद का अभाव नहीं है। शेक्सपियर की राष्ट्रीय गौरव भावना में यह धरती-प्रेम बहुत ऊँचा है। इसलिए भारतवर्ष की प्रशस्ति सम्राटों की वन्दना नहीं, भारत-भूमि और उसकी जनता की वन्दना है, वह हमारी प्राचीन राष्ट्रीय भावना की द्योतक है। 'रामायण', 'मेघदूत' और 'कुमारसम्भव' में इसी प्रकार राष्ट्रीय चेतना के दर्शन होते हैं।

मार्क्सवाद के अनुसार जातियाँ (नेशन) पूँजीवादी युग की देन हैं। लेकिन पूँजीवाद है क्या ? पूँजीवाद उत्पादन की एक पद्धति है। तब क्या शेक्सपियर के समय में उत्पादन की पद्धति बदल चुकी थी ? यदि हाँ तो पगार पानेवाला सर्वहारा वर्ग कहाँ था ? १८४४ में एंगेल्स ने अपने समय के इंगलैंड के बारे में—'इंग्लैंड के मजदूर-वर्ग की

दशा' नामक पुस्तक में लिखा था, "इंग्लैंड के सर्वहारा-वर्ग का इतिहास पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आरम्भ होता है।" अठारहवीं सदी से पहले इंग्लैंड में सर्वहारा-वर्ग नहीं था। उत्पादन की पद्धति में कोई बुनियादी परिवर्तन न हुआ था। जुलाहे खेती भी करते थे।

धरती से उनका सम्बन्ध टूटा न था। वे घुमन्तू सौदागरों को अपना माल बेचते थे। लेकिन वे अभी बाज़ार में अपनी श्रमशक्ति बेचने को बाध्य न थे। यदि पूँजीवाद केवल उत्पादन की पद्धति है, तो सोलहवी-सत्रहवीं सदी के अंग्रेज़ जाति के रूप में संगठित न हो सकते थे। लेकिन मिल्टन ने १६४४ ई० में क्रौमवेल की विजय के बाद लिखा था, "मुझे अपने मनोलोक में दिखाई दे रहा है कि एक शक्तिशाली जाति (नेशन) नींद से उठे हुए सबल मानव के समान अपने केश झटक रही है।"

रूस में पूँजीवादी उत्पादन उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध में आरम्भ हुआ, किन्तु लेनिन के अनुसार रूसी जाति का निर्माण सत्रहवीं सदी मे हुआ। लेनिन ने रूस के सामाजिक विकास का विश्लेषण करके दिखाया था कि व्यापारियों ने रूस में एक देशव्यापी बाज़ार कायम किया था। यह समझना चाहिए कि पूँजीवाद केवल उत्पादन की पद्धति नहीं, वितरण की पद्धति भी है। मार्क्सवादी भारतीय इतिहास को तब तक सही तौर से न समझ सकेंगे जब तक वे सामाजिक विकास में वितरण की भूमिका का महत्त्व स्वीकार न करेंगे।

एंगेल्स ने एण्टी-ड्यूरिंग में लिखा था कि उत्पादन और विनिमय अर्थतन्त्र की दो धुरी हैं, दोनों के नियम बहुत-कुछ स्वतन्त्र हैं और वे दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। एंगेल्स ने इस बात पर जोर दिया था कि प्रत्येक समाज-व्यवस्था का आधार उत्पादन और वितरण दोनों है। पूँजी के तीसरे खण्ड में मार्क्स (अथवा एंगेल्स) ने बताया था कि औद्योगिक पूँजी का निर्माण तभी होता है जब उससे पहले सौदागरी पूँजी का निर्माण हो चुका हो। मार्क्स ने लिखा था कि सोलहवीं-सत्रहवीं सदी में सौदागरी पूँजीवाद के विकास के साथ भारी क्रान्तियाँ हुई और सामन्ती उत्पादन से पूँजीवादी उत्पादन के बीच संक्रमण की यह सबसे महत्त्वपूर्ण कड़ी थी। मार्क्स ने लिखा था, व्यापार में क्रान्ति होने से विश्व-बाज़ार कायम हुआ। आश्चर्य की बात होगी, यदि विश्व-बाज़ार तो कायम हो जाय, जातीय बाज़ार (नेशनल मार्केट) कायम न हो।

सोलहवीं-सत्रहवीं सदियों में भारत विश्व-बाज़ार का बहुत महत्त्वपूर्ण अंग था। हमारे यहाँ यूरोप का माल बिकने आता था, यहाँ का माल वहाँ बिकने जाता था। एडम स्मिथ ने लिखा था कि उन दिनों यूरोप का मुख्य व्यापार यह था कि पश्चिमी देश अपनी अनगढ़ चीजें देकर अधिक सभ्य देशों का बढ़िया माल लाते थे। आश्चर्य की बात होगी यदि असभ्य देशों में तो राष्ट्रीय या जातीय चेतना फैल गई हो और सभ्य देशों में उसका अभाव रहा हो।

मार्क्स ने लिखा था कि "प्राचीन काल की व्यापारी जातियाँ ऐपीक्यूरस के

देवताओं की तरह ब्रह्माण्ड के मध्यलोक में रहती थी। अथवा यों कहें जैसे पोलैंड के समाज में यहूदी भीतर पैठ गए थे।" मार्क्स ने व्यापारी जातियों (ट्रेडिंग नेशन्स) का उल्लेख किया है। इसका अर्थ यह है कि व्यापारी पूँजीवाद का विकास सोलहवीं-सत्रहवीं सदी से पहले प्राचीन काल में भी हुआ था। जातियों का उद्भव आधुनिक पूँजीवाद के जन्म से बहुत पहले हो चुका था। 'अर्थशास्त्र की आलोचना' नामक ग्रन्थ में मार्क्स ने प्राचीन काल की जातियों की चर्चा की थी। उन्होंने लिखा था कि प्राचीन काल की व्यापारी जातियों में धन (मनी) की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

गुप्त युग में भारत के जनपदों में परस्पर आर्थिक विनिमय बढ़ा, उस समय के व्यापारी भारतवर्ष से बाहर निकलकर दक्षिण पूर्वी एशिया और यूरोप तक अपना व्यापार करते रहे। जनपदों में परस्पर सांस्कृतिक सम्पर्क बढ़ा, संस्कृत द्वारा वे एक-दूसरे से विचारों का आदान-प्रदान करते रहे। तब क्या आश्चर्य कि भारतवर्ष में राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ और महाभारत में उसे अभिव्यक्ति मिली?

प्राचीन यूनान का उदाहरण लीजिए। यह देश छोटे-छोटे राज्यों (जनपदों) में बँटा हुआ था। एथेन्स के लोगों में बड़े-बड़े व्यापारी थे। इन्होंने यूनानी लोगों में राष्ट्रीय चेतना उभारने में बड़ा योगदान किया। यूनान के प्राचीन नाटकों—विशेषकर ईरानियों से सम्बन्धित ईस्किलस के नाटक में—यह चेतना उभरकर आई है। एथेन्स का नेता परिक्लीज अपने नगर को हैलास (यूनान) का शिक्षक कहता था। प्रसिद्ध इतिहासकार थ्यूसीडाइडीज ने पेलोपनीसस के युद्ध पर अपने ग्रन्थ में बारम्बार राष्ट्रीय भावना का उल्लेख किया है। ग्रन्थ के दूसरे खण्ड के छठे अध्याय में उसने लिखा है, "पेलोपनीसस और एथेन्स दोनों में ऐसे नौजवान भरे हुए थे जो भावहीनता के कारण हथियार उठाने को बड़े उतावले थे। बाकी हेलास अपने प्रमुख नगरों के संघर्ष को देखकर आश्चर्यचकित हो रहा था।" यहाँ पेलोपनीसस और एथेन्स को एक ही राष्ट्र हेलास का अंग माना गया है। ये दोनों राज्य हैं, परस्पर स्वतन्त्र हैं, फिर भी जनता की चेतना में—विनिमय की बढ़ती के कारण और अन्य महत्वपूर्ण सांस्कृतिक और भाषागत तत्वों के कारण—वे अपने से बड़ी इकाई के भाग हैं। लसेडिमोन (पेलोपनीसस) का राजदूत मेलेसिप्पस पेरिक्लीज से मिलने की अनुमति न पाकर कहता है "यह दिन हैलास के महादुर्भाग्य के आरम्भ का दिन है।" ईसा से चार सौ साल पहले यूनान में यह राष्ट्रीय चेतना फैल सकती थी तो क्या ईसा से चार सौ साल बाद भारत में राष्ट्रीय चेतना का प्रसार असम्भव माना जाएगा?

बहस करनेवाले कह सकते हैं कि प्राचीन यूनानियों में राष्ट्रीय चेतना इसलिए फैली कि उन्हें ईरानियों से मुकाबला करना था। ऐसा ही सही। तब प्राचीन भारत में राष्ट्रीय चेतना शकों और हूणों का मुकाबला करने के लिए पैदा हुई। कारण चाहे जो बताया जाय, प्राचीन यूनान और प्राचीन भारत में राष्ट्रीय चेतना के अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता।

फिर भी रूढ़िवादी मार्क्सवादी कहेंगे, 'नेशन' उसे कहते हैं जिसकी भाषा एक हो। यूनान में मिलती-जुलती बोलियाँ बोली जाती थीं। लेकिन यहाँ तो आर्य और द्रविड़ एकदम भिन्न भाषा-परिवार थे। फिर भारत राष्ट्र कैसे हुआ ?

प्राचीन भारत में अनेक भाषाएँ थीं किन्तु शिक्षित-जन संस्कृत द्वारा अखिल भारतीय स्तर पर आपस में सम्पर्क बनाये हुए थे। आर्यावर्त से सबसे ज्यादा दूर बंगाल और केरल थे, फिर भी इनकी भाषाओं में संस्कृत के शब्द अपेक्षाकृत अधिक हैं। इससे संस्कृत के देशव्यापी प्रभाव का पता चलता है। प्रकाण्ड पंडित शंकराचार्य केरल ही के थे। बंगाल के न्यायशास्त्री दूर-दूर तक विख्यात हुए। फिर भी प्रश्न बना रहता है कि क्या एक से अधिक भाषाएँ बोलनेवालों को राष्ट्र की संज्ञा दी जा सकती है ?

स्तालिन ने नेशन की जो प्रसिद्ध व्याख्या की थी, उसमें एक से अधिक भाषा की गुंजाइश नहीं है। ब्रिटिश जाति और फ्रांसीसी जातियों की एक-एक भाषा है अंग्रेजी और फ्रांसीसी। फिर भी मार्क्सवादी लेखक 'नेशनल फ्रीडम मूवमेंट' की बात करते हैं, सौभाग्य से वे उसे 'इण्टरनेशनल फ्रीडम मूवमेंट' नहीं कहते।

अंग्रेज़ी का 'नेशन' शब्द बड़ा भ्रामक है। भारतीय भाषाओं में दो शब्द हैं राष्ट्र और जाति। भारत राष्ट्र, हिन्दी-भाषी जाति। ब्रिटेन राष्ट्र, ब्रिटिश जाति। ब्रिटेन राष्ट्र में एक ही भाषा है। भारत में अनेक भाषाएँ हैं। जाति की भाषा एक ही होती है। राष्ट्र में एक जाति, एक भाषा तथा अनेक जातियाँ, अनेक भाषाएँ हो सकती हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'जातीय संगीत' में जाति शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया था।

अंग्रेज़ी का 'पेट्रियोटिज्म' शब्द राष्ट्रीयता के बहुत निकट है, किन्तु उसके मूल लैटिन शब्द 'पात्रिआ' का अंग्रेज़ी में चलन नहीं है। राष्ट्र को पात्रिआ कह सकते हैं, नेशन नहीं। राष्ट्र के लिए 'नेशन' को पर्यायवाची मानें तो 'भारत बहुजातीय राष्ट्र है'—इस वाक्य का अनुवाद होगा—"इंडिया इज़ ए मल्टीनेशनल नेशन' !

बहुजातीय राष्ट्र में राष्ट्रीयता का आधार क्या है ? उदाहरण के लिए, सोवियत राष्ट्रीयता (सोवियत पेट्रियोटिज्म) का आधार क्या है ? यह राष्ट्रीयता केवल भाव-जगत् की वस्तु नहीं है। मार्क्सवाद के अनुसार जाति की तरह, बहुजातीय राष्ट्रीयता का भी आर्थिक आधार होना चाहिए। क्या इसका आधार समाजवाद है ? सोवियत संघ के अनेक समाजवादी पड़ोसी हैं किन्तु उनकी राष्ट्रीयता या देशभक्ति सोवियत राष्ट्रीयता या सोवियत देशभक्ति से भिन्न है। राष्ट्र की अनेक जातियाँ सामान्य आर्थिक सम्बन्धों, सामान्य देश में निवास, सामान्य ऐतिहासिक परम्पराओं और सामान्य सांस्कृतिक सूत्रों के कारण परस्पर सम्बद्ध होती हैं। भारत देश में निवास करनेवाली जातियों की भाषाएँ, प्रदेश, आर्थिक सम्बन्ध, साहित्य और संस्कृति अलग-अलग हैं। फिर भी उन सबका देश एक है; उन सबका राष्ट्रीय इतिहास एक है, उनकी मिली-जुली परस्पर सम्बद्ध साहित्यिक परम्परा है, उनके आर्थिक सम्बन्ध पहले की अपेक्षा आज और भी दृढ़ हैं। इसलिए जो लोग भारत की तुलना यूरोप से करते हैं, जो देश को उप महाद्वीप कहते हैं, वे एक

ऐतिहासिक सत्य से इन्कार करते हैं। राष्ट्रीयता के विकास में केवल आर्थिक सम्बन्धों की भूमिका महत्त्वपूर्ण नहीं होती। ऐसा होता तो चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और पोलैंड सोवियत राष्ट्र के अन्तर्गत होते। उनकी अपनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्पराएँ हैं जो उनकी राष्ट्रीयता निर्धारित करती हैं।

कहा जा सकता है कि इस तरह की बहुजातीय राष्ट्रीयता समाजवाद के अन्तर्गत ही सम्भव है, पूँजीवाद में तो जातियाँ, पूँजीपतियों के प्रभाव के कारण, परस्पर लड़ा करती हैं। यह बात सही नहीं है। पूँजीवाद के अन्तर्गत 'जाति' का निर्माण होता या नहीं? यह जाति सर्वहारा वर्ग और पूँजीपतियों के बीच संघर्ष के कारण विभाजित रहती है या नहीं? विभाजित रहती है किन्तु पूँजीपति और मजदूर एक ही उत्पादन वितरण व्यवस्था में काम करते हैं इसलिए जाति सम्बद्ध भी रहती है। इसी तरह पूँजीवाद के अन्तर्गत एक ही राष्ट्र की अनेक जातियाँ आपस में स्पर्धा करती हैं, साथ ही राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था से परस्पर सम्बद्ध भी रहती हैं। इसके अलावा सभी लोग मानते हैं कि देश की विभिन्न जातियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध 'राष्ट्रीय' आन्दोलन चलाया था। इसका अर्थ यह है कि विशेष परिस्थितियों में जातियों का आपसी तनाव कम हो जाता है और उनकी राष्ट्रीय चेतना उभरकर सामने आ जाती है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि समाजवादी व्यवस्था में जातीय और राष्ट्रीय अलगाव की भावनाएँ कभी-कभी बड़ा उग्र रूप धारण करती हैं। सोवियत संघ से यूगोस्लाविया, रूमानिया और चीन के सम्बन्ध इस सत्य को उजागर करते हैं।

भारत एक राष्ट्र है। हमारी राष्ट्रीयता केवल अंग्रेजों का विरोध करने के लिए—नकारात्मक रूप से—किन्हीं विशेष परिस्थितियों में उत्पन्न नहीं हो गई। उसकी जड़ें हमारी ऐतिहासिक और आर्थिक परम्पराओं में बहुत गहरी पैठी हुई हैं। आज की परिस्थिति में लोग चाहे जिस प्रदेश में रहते हों, उनकी आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रगति राष्ट्रीय एकता के बिना असम्भव है। किसी एक प्रदेश की उन्नति सारे देश की उन्नति पर निर्भर है।

भारत राष्ट्र से प्रेम है तो अंग्रेजी का मोह छोड़ना होगा। अंग्रेजी का प्रभुत्व राष्ट्र के लिए अपमानजनक है। अन्य विदेशी भाषाओं के साथ अंग्रेजी का अध्ययन भी किया जायगा किन्तु वह भारतीय भाषाओं के हक मारकर यहाँ नहीं रह सकती। सभी प्रदेशों की जनता को अंग्रेजी हटाने के लिए मिलकर प्रयत्न करना चाहिए। जो लोग हिन्दी साम्राज्यवाद का भय दिखाते हैं, वे अंग्रेजी का साम्राज्यवाद सुरक्षित रखते हैं।

(१९६४)

३०

'अन्तर्राष्ट्रीय' वैज्ञानिक शब्दावली

बुद्धिजीवियों में, वे चाहे मार्क्सवादी हों चाहे गैर-मार्क्सवादी, ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो समझते हैं कि विज्ञान में कोई अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली प्रचलित है। उनका तर्क यह है कि वर्तमान युग में विज्ञान अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है, इसलिए उनकी शब्दावली भी अन्तर्राष्ट्रीय हो गई है। हिन्दी में यदि यह अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली अपना ली जाय, तो पारिभाषिक शब्दावली की समस्या हल हो जाय !

स्थिति यह है कि यूरोप की भाषाओं में बहुत से पारिभाषिक शब्द सामान्य है। लैटिन-ग्रीक के आधार पर बनाये हुए ये शब्द एक ही रूप में या थोड़े से रूप-परिवर्तन के बाद विभिन्न यूरोपीय भाषाओं में प्रयुक्त होते हैं। ऐसे शब्दों को अपनाने में कोई हानि नहीं है। भारत सरकार की ओर से १९६२ में जो पारिभाषिक शब्दकोश प्रकाशित हुआ है, उसमें लगभग हर पृष्ठ पर इस श्रेणी के कुछ शब्द दिये हुए हैं। कोबाल्ट, उरेनियम, उरेनस, उरेडियम, उरेआ, ऑक्सीजन, ऑक्सीनाइट्रेट, यूकलिप्टस, अलकोहल, एथीलीन आदि ऐसे ही शब्द हैं।

इस तरह की सामान्य शब्दावली सीमित है। सीमित संख्या में ही उससे शब्द लिये जा सकते हैं। यूरोप की भाषाओं में प्रयुक्त होनेवाले सभी वैज्ञानिक शब्द अन्तर्राष्ट्रीय नही हैं। मास्को से वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दों के कई कोश प्रकाशित हुए हैं। जो लोग वैज्ञानिक शब्दावली की अन्तर्राष्ट्रीयता मे बड़ी दृढ़ता से विश्वास करते है, उन्हें ये कोश अवश्य देखने चाहिएँ।

उदाहरण के लिए, हवाई जहाज़ों की उड़ान से सम्बन्धित एक अंग्रेज़ी-रूसी कोश है। जीवन का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो जिसमें सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली की आवश्यकता अधिक हो। लेकिन अंग्रेज़ी के पारिभाषिक शब्द अक्सर प्रचलित शब्दों के आधार पर बनाये गए हैं और रूसी से भिन्न हैं। अंग्रेजी में एक प्रचलित शब्द है 'कौक'। इसको आधार मानकर एयर कौक, एयर एस्केप कौक, बैलेंस कौक, कंट्रोल कौक, ड्रेन कौक, फ्यूएल कौक, थ्रौटलिंग कौक आदि पारिभाषिक शब्दावली बनाई गई है। रूसी कौक शब्द का प्रयोग नहीं करते। इसलिए वे दूसरी तरह के शब्दों का व्यवहार करते है। अंग्रेजी में प्रचलित शब्द है, कंट्रोल। इसे आधार मानकर सर्कुलेशन कंट्रोल, डेप्थ

कंट्रोल, डिस्टेन्स कंट्रोल, इलेक्ट्रिक फ्लाइट कंट्रोल, एलीवेटर कंट्रोल, इमर्जेन्सी कंट्रोल, फ्लाइट कंट्रोल, ग्राउंड कंट्रोल आदि शब्दावली बनाई है। इसी तरह लैंडिंग के आधार पर कौम्बिंड लैंडिंग, डेड एंजिन लैंडिंग, फोम्ड लैंडिंग, रनवे लैंडिंग आदि, एयरक्राफ्ट के आधार पर कन्वर्टेड एयरक्राफ्ट, फाइटर एयरक्राफ्ट, सिविल एयरक्राफ्ट, जेट एयरक्राफ्ट आदि शब्दावली निर्मित हुई है। इनके रूसी पर्यायवाची बिलकुल भिन्न हैं, जैसे कंट्रोल के लिए रूसी शब्द है उप्रावलेनिये, एयरक्राफ्ट के लिए सामल्योत इत्यादि।

भारत में कुछ पारिभाषिक शब्दकोश ऐसे प्रकाशित हुए हैं जिनमें सात भाषाओं के पर्यायवाची शब्द एक साथ दिये हुए हैं। इस तरह के कोशों का प्रकाशन ही सिद्ध करता है कि यूरोप में कोई सर्वमान्य अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक शब्दावली नहीं है। अंग्रेजी में प्रयुक्त जो शब्द कुछ लोगों को बहुत अन्तर्राष्ट्रीय लग सकते हैं, उनके लिए भी यूरोप की भाषाओं में अलग शब्द हैं। जेट के लिए रूसी में स्त्रूया शब्द है, कार्बन, कार्बन डाई-आक्साइड, टेंडन, थोरैक्स, लेबियम, मैस्टिक, ओवरी, ग्लैंड, एन्टेनी और न्यूक्लियस के लिए रूसी में क्रमशः उग्लेरोद, उग्लेकीस्लुइ गाज़, सुखोझीलिये, ग्रूदी, गदा, ज़ेलेज़ा, ज़ेलेज़ा, श्चुपाल्त्सी और यादरो शब्द हैं। ऑक्सीजन के लिये रूसी और जर्मन के अपने शब्द किस्लोरोद और ज़ावर स्टोफ़ हैं। हाइड्रोजन के लिए इतालवी, फ्रांसीसी और रूसी में अलग शब्द का प्रयोग होता है। फॉस्फोर के लिए ल्यूमिनोफोर, सुस्वेतीन्या, लायख्टस्टोफ आदि शब्द हैं। डच और जर्मन भाषाएँ एक-दूसरे से बहुत मिलती हैं। फिर भी उनके भिन्न शब्द हैं—रोस्टर और गिटर। इग्नाइटर के लिए डच में ओन्टस्टेकर, जर्मन में न्यूटस्टिफ्ट शब्द हैं।

इस विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय भाषाओं को अपने पारिभाषिक शब्दों का निर्माण और व्यवहार करने की पूर्ण स्वाधीनता है। वे सीमित संख्या में यूरोपीय भाषाओं से शब्द ले सकती हैं। सर्वमान्य वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली का अस्तित्व कहीं नहीं है। (१९६४)

३१
संस्कृति और भाषा

भाषा को आप चाहे संस्कृति का ही अंग मानें चाहे उससे भिन्न, दोनो के घनिष्ठ सम्बन्ध को अस्वीकार नही किया जा सकता। वाक्य-रचना की पद्धति हमारी चिन्तन-पद्धति पर निर्भर होती है। आप अपनी भाषा मे कर्म को क्रिया के पहले बिठाते है या बाद को, यह आपकी परम्परागत जातीय चिन्तन-प्रक्रिया पर निर्भर है। आप अपनी भाषा में किस तरह के विदेशी शब्द कितने परिमाण में ग्रहण करते है, यह आपके जातीय चरित्र पर निर्भर है। आप अपनी भाषा का सम्मान करते हैं, दैनिक जीवन में उसका व्यवहार करते हैं अथवा उसे पैरों तले रौंदते हैं और किसी अन्य भाषा को सिर चढ़ाते हैं, यह आपकी राष्ट्रीय सम्मान की भावना पर निर्भर है।

किसी भी देश में उसकी भाषा या भाषाओं की स्थिति विशुद्ध भाषा-विज्ञान के नियमों से समझ में नहीं आ सकती। वह स्थिति देश की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर है। आज संसार के बहुत बड़े हिस्से मे अंग्रेजी का बोलबाला है। ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्र अमरीका दो देश ऐसे है जो अन्य देशो में पूँजी का निर्यात करते हैं, जो प्रच्छन्न और प्रकट रूप से उपनिवेशवाद का पोषण करते है, जो अपने प्रभाव को साम-दाम-दण्ड-भेद की बहुरंगी नीति से सुरक्षित करके और व्यापक बनाने में लगे हुए हैं। राजनीति से लेकर शिक्षा और संस्कृति तक जिस देश में जैसे बन पड़ता है, ये घुसने-पैठने, अपनी जड़ जमाने की कोशिश करते हैं। इनकी एक भाषा-सम्बन्धी स्पष्ट नीति है, पहले के समान यहाँ की भाषाओं को दबाकर रखना, उन सबके ऊपर शीर्ष स्थान पर अंग्रेजी को जमा कर रखना। इससे लाभ यह होता है कि आपके मर्मस्थल पर प्रहार करके आपको कमजोर बनाकर वे आपको अपनी स्वार्थ-नीति की ओर आसानी से खींच सकते है। मर्मस्थल है, जातीय भाषा के प्रेम का स्थल, जातीय संस्कृति के प्रेम का स्थल, राष्ट्रीय आत्म-गौरव का स्थल। आदमी को इस स्थल पर मारिये, उसे भीतर से निर्वीय कर दीजिये, फिर उस बलि-पशु को चाहे जिस खूँटे से बाँधकर उसका वध कर दीजिए।

आप उस देश की दशा पर विचार कीजिए जो अन्न से लेकर अस्त्र-शस्त्र तक पर-मुखापेक्षी है, जो अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए उन्हीं लोगों का मुँह जोहता है जो अब

तक उसे गुलाम बनाए हुए थे। इसी नीति के अनुरूप भाषाक्षेत्र में भी हमारे देश के नेता पर-मुखापेक्षी हैं। जिस अंग्रेजी भाषा ने विदेशी राज्यकाल में यहाँ की भाषाओं को पददलित किया, यहाँ की संस्कृति और साहित्य के सहज विकास को कुण्ठित किया, अंग्रेजी के जिस आधिपत्य के विरुद्ध भारतीय मनीषियों ने सतत संघर्ष किया, उस अंग्रेजी को हटाकर भारतीय भाषाओं को उनका स्वत्व देने में शासक और शिक्षामन्त्री हिचकिचा रहे हैं।

हमारी सांस्कृतिक पराधीनता भाषा के क्षेत्र में अनेक रूपों में प्रकट होती है।

हमारे संविधान में लिखा है कि हिन्दी भाषा को विकसित होने के लिए समय दिया जाय। हिन्दी को विकसित करने के लिए एक विशाल निदेशालय चालू है। हिन्दी में क्या कमी है, कमी है या नहीं, है तो उसे कैसे पूरा किया जाय, हिन्दी और भारतीय भाषाओं को देखते 'विश्वभाषा' अंग्रेजी में भी कोई कमी है या नहीं, है तो उसे कैसे दूर किया जाय—इस सबका निदान करने के लिए कोई आयोग नहीं बनाया गया, भाषा की सिद्धि-समृद्धि जाँचने का योग सत्रह साल में नहीं आया। करोड़ों रुपये इस स्वतःसिद्ध सत्य पर खर्च हो गए हैं कि 'विश्वभाषा' अंग्रेजी विकसित और समृद्ध है और भावी राष्ट्र-भाषा हिन्दी अविकसित और दरिद्र है।

समृद्धि का कार्य कोष निर्माण द्वारा सम्पादित होना है। कोष निर्माण के लिए अंग्रेजी शब्द पहले हैं, हिन्दी बाद को। हमारी सामाजिक-सांस्कृतिक आवश्यकता के लिए कौन से शब्द आवश्यक हैं, यह विषय अगोचर ही रहता है। कोष-निर्माताओं में अनेक जन अंग्रेजी से जितना आतंकित रहते हैं, उतना ही हिन्दी की प्रकृति से अनभिज्ञ भी। वे ऐसे 'स्थगित' और 'गतिज' ऊर्जा वाले शब्द गढ़ते हैं कि 'तथिकातत्र' भड़क कर उठता है और उनकी 'राष्ट्रिकता' को देखकर साधारण पठित जन यही सोचते हैं कि इससे तो अंग्रेजी भली। हिन्दी को समृद्ध करने के नाम पर अस्वाभाविक, उच्चारण में दुष्कर शब्दों का निर्माण भाषा के प्रति अवज्ञा का परिचायक है, अज्ञान का तो है ही।

सांस्कृतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में जहाँ हिन्दी बोलना चाहिए, वहाँ हम अंग्रेजी से काम लेते हैं। परिवार के भीतर बचपन से अपनी सन्तान को हम डैडी, मम्मी, अंकल कहना सिखाते हैं मानो यहाँ भी पारिभाषिक शब्दों की कमी हो। हमारे उच्च मध्यवर्ग के लोगों की बहुत बड़ी आकांक्षा यह रहती है कि बेटा कॉन्वेंट में पढ़े, फर्राटे से अंग्रेजी बोले, मजिस्ट्रेट बनकर लोगों पर हुकूमत करे। किसका सेवाभाव, किसके गांधी और बुद्ध! खाने के दाँत और, दिखाने के और!

जहाँ तक मुझे मालूम है, इस देश की राजनीतिक पार्टियाँ अपना केन्द्रीय राजनीतिक कार्य, अपने केन्द्रीय मुखपत्र अंग्रेजी में चलाती हैं। हम विश्वभाषा के नाम पर अंग्रेजी पढ़ने पर जोर देते हैं। जहाँ फ्रांस का राज्य था या है, वहाँ विश्वभाषा का दर्जा फ्रांसीसी को मिला है। किस पिछड़े हुए देश ने यूरोप की किस भाषा को विश्व-भाषा माना है, यह इस पर निर्भर है कि उस पर यूरोप के किस देश का आधिपत्य था या है।

हमारे अनेक युगान्तरकारी साहित्यकार अपनी वाक्य-रचना में अंग्रेज़ी शब्दों की ऐसी भरमार करते हैं मानो हिन्दी में सोचना उन्होंने बन्द कर दिया है। वे न हिन्दी में सोचते हैं, न अंग्रेज़ी में वरन् इन दोनों से मिली हुई एक नई इंग्लिस्तानी भाषा में, जो उसके लिए बहुत स्वाभाविक है किन्तु जो देश की जनता के लिए, हमारे समग्र सामाजिक विकास के लिए घातक है। अनेक लेखक अंग्रेज़ी मुहावरों का अनुवाद करके अपनी जातीय भाषा को सजाते हैं। अंग्रेज़ी के शब्दों, उद्धरणों और अनुवादित मुहावरों से वे अपनी—भाव-विचार-अनुभव की—दरिद्रता छिपाते हैं। अपनी सांस्कृतिक परम्परा के लिए, भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य के लिए उनके हृदय में अनादर की भावना है। उनमें बड़ी उत्सुकता होती है कि नई अंग्रेज़ी पुस्तकों की चर्चा करके अपने सुसंस्कृत होने का परिचय दें। वे साधारणतः यूरोप की भाषाओं से अपरिचित होते हैं और यूरोप के साहित्य को अंग्रेजी निगाह से ही देखते हैं।

हिन्दी के अनेक समर्थ साहित्यकार इस भाषा-सम्बन्धी पराधीनता से मुक्त हैं। कुल मिलाकर हिन्दी साहित्य अपने स्वस्थ जातीय मार्ग पर आगे बढ रहा है। किन्तु इसमें सन्देह नही कि छापे की सुविधा से लाभ उठाकर बहुत से लेखक ऐसी भाषा का प्रयोग करने लगे हैं जो हिन्दी के सहज विकास के लिए घातक है।

इनसे भिन्न श्रेणी का एक लेखक-समुदाय और है जो अंग्रेजी के माध्यम से ही अपनी कलात्मक प्रतिभा का परिचय देता है। वे किसान-देश की संस्कृति का उद्धार कर रहे हैं, अंग्रेज़ी में उपन्यास, कहानियाँ, कविताएँ लिखकर। माना कि अंग्रेज़ी विश्वभाषा है और उसमें लिखने से अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति जल्दी मिलती है किन्तु नार्वे, डेनमार्क, इटली, स्पेन, जैसे छोटे देशों के लेखक इस विश्वभाषा को नहीं अपनाते, उसे अपनाने का ठेका हमारे महान् देश के लेखकों ने लिया है।

हमें अपनी भाषा के जातीय रूप की रक्षा करनी चाहिए। उसमें अंधाधुन्ध अंग्रेजी शब्दों की भर्ती हमारे राष्ट्रीय सम्मान के विपरीत है। हिन्दी की शक्ति उसे अपनाने, प्यार करनेवाली जनता की शक्ति है। दुर्बोध, उच्चारण के लिए विकट शब्दावली से उसे भरसक बचाना चाहिए अर्थात् हमें भरसक अपनी शैली सुगम बनानी चाहिए और वैज्ञानिक शब्दावली में भी भरसक हिन्दी की प्रकृति का ध्यान रखना चाहिए। हमारा साहित्य इस देश की जनता के लिए है। इसलिए इंग्लिस्तानी के बदले हिन्दी का ही प्रयोग करना चाहिए। अंग्रेजी के माध्यम से प्राप्त अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अस्थायी है। रवीन्द्रनाथ और प्रेमचन्द ने अपनी भाषाओं के माध्यम से जो ख्याति पाई, वही स्थायी है। जातीय संस्कृति से भाषा का घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह ध्यान में रखकर हमें अपने व्यवहार में सतर्क रहना चाहिए।

(१९६४)

३२

भाषा की समस्या—अति आवश्यक

देश की राजनीतिक परिस्थिति की एक विशेषता यह है कि कांग्रेस को मिलने वाले वोट दिन-पर दिन कम होते जा रहे हैं और उसी परिमाण में वामपक्षी पार्टियाँ और उनका संयुक्त मोर्चा सबल होकर जनता के सामने नहीं आ रहे। पिछले दिनों कम्युनिस्ट पार्टी में विघटन के कारण वामपक्ष और भी कमजोर हो गया है। हिन्दी-भाषी प्रदेश में विशेष रूप से दक्षिणपंथी दल शहजोर हैं। चूंकि भारत में हर समस्या अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुकूल ही हल नहीं होती, इसलिए हर जागरूक नागरिक को फासिस्ट तानाशाही की संभावना के प्रति सतर्क रहना चाहिए।

जर्मनी के अनुभव से हमें मालूम है और अपने देश का अनुभव भी यही बतलाता है कि फासिस्ट दल संस्कृति के प्रश्न लेकर जनता को गुमराह करते हैं। हिटलर मध्यवर्ग ही नहीं, मजदूर वर्ग के भी एक भाग को गुमराह करने में सफल हुआ था। हमारे देश में साम्प्रदायिक दल संस्कृति के प्रश्न विशेष रूप से जनता के सामने रखते हैं। वे अपने को भारतीय संस्कृति का एकमात्र रक्षक मानते हैं। संस्कृति को ढाल बनाकर वे अपनी गलत राजनीति के अस्त्र जनता पर चलाते हैं।

कुछ प्रगतिशील लोग समझते हैं कि यदि वे भी संस्कृति की बात करेंगे तो उनमें और साम्प्रदायिक दलों में कोई अन्तर न रह जायगा। आजकल हिन्दी भाषा के सवाल को लेकर हिन्दीभाषी क्षेत्रों में बड़ी सरगर्मी है। कुछ प्रगतिशील नेता समझते हैं कि अंग्रेजी को व्यवहार में लाना, अंग्रेजी में अपने दस्तावेज तैयार करना, अंग्रेजी में अपने राजनीतिक सम्मेलनों की कार्यवाही सम्पन्न करना, व्यावहारिक राष्ट्रभाषा के रूप में अंग्रेजी को प्रतिष्ठित रखना बहुत बड़ा साम्राज्यवाद विरोध है, राष्ट्रीयता और जनतंत्र के हित में है और साम्यवाद के अनुकूल है। इसके विपरीत अखिल भारतीय स्तर से अंग्रेजी को हटाने की मांग करना, हिन्दी को केन्द्रीय राजकाज की भाषा बनाने के लिए आन्दोलन करना साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन देना है।

कोई भी प्रगतिशील दल भाषा और संस्कृति के मामलों में कितना दखल देता है, यह उसके व्यवहार से जाना जाता है। मिसाल के लिए यह विचारणीय है कि मैथिलीशरण गुप्त के निधन पर किन राजनीतिक दलों ने कहाँ-कहाँ शोक प्रस्ताव पास किये।

व्यवहार के अलावा विभिन्न दलों के कार्यक्रम-प्रस्ताव आदि दर्शनीय हैं यह जानने के लिए कि उन्होंने सांस्कृतिक समस्याओं पर कितना विचार किया है।

माना कि सांस्कृतिक समस्याएँ बहुत उलझी हुई हैं। यह भी माना कि राजनीतिक समस्याएँ सुलझाने में ही बहुत से नेताओं की सारी ताकत खर्च हो जाती है। किन्तु भाषा की समस्या करोड़ों आदमियों को प्रभावित करती है। वह व्यापक सामाजिक समस्या बन गई है। उस पर सही दृष्टिकोण अपनाना और सही नीति के अनुसार आन्दोलन करना प्रगतिशील जनों का कर्तव्य है।

सवाल यह नहीं है कि जब कांग्रेसी सरकार के बदले हमारे मन-मुताबिक दूसरी हुकूमत बनेगी तब हम अंग्रेज़ी को जल्दी हटायेंगे या धीरे-धीरे, देर में हटायेंगे। सवाल यह है कि अभी हम क्या करने जा रहे हैं। और अभी जो कुछ करते हैं, उस पर बहुत-कुछ निर्भर है कि भविष्य में यहाँ जनता की सरकार बनेगी या फासिस्ट तानाशाहों की।

जब अंग्रेज़ी राज कायम था तब भाषा की समस्या सभी साम्राज्य-विरोधी दलों और उनके नेताओं के सामने उलझी हुई नहीं थी। एक बात पर सभी सहमत थे कि अंग्रेज़ी जाय; उसके बने रहने से देश की शक्ति और धन का नाश होता है। आजकल अनेक साम्राज्यविरोधी योद्धा इस बात पर एकमत दिखाई देते हैं कि कागज़ पर चाहे जो छपा रहे, व्यवहार में अंग्रेजी ही राष्ट्रभाषा बनी रहे!

हिन्दी-भाषी प्रदेश में कोई भी दल भाषा के सवाल को नजरन्दाज़ करके शक्तिशाली नहीं बन सकता। अंग्रेज़ी को हटाने और हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की माँग जनता की न्यायपूर्ण साम्राज्यविरोधी राष्ट्रीय माँग है। प्रगतिशील नेताओं को उसका समर्थन ही न करना चाहिए, आगे बढ़कर उसके लिए आन्दोलन करना चाहिए। वे लोग ही विभिन्न भाषाओं के उचित अधिकारों की रक्षा करते हुए हिन्दी के लिए सही आन्दोलन कर सकते हैं। वे अपना उत्तरदायित्व न निबाहेंगे तो दक्षिणपंथी ताक़तों को अवसर मिलेगा कि वे सही माँग के लिए गलत ढंग से आन्दोलन चलाएँ, जातीय और साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाएँ और जनवादी पार्टियों के दमन के लिए आवश्यक तैयारी करें। जो प्रगतिशील नेता अब भी बेख़बर रहते हैं, वे वस्तुगत रूप से जनतंत्र का नाश करने और तानाशाही को लाने के लिए ज़िम्मेदार होंगे।

(१९६५)

३३

अंग्रेज़ी की सुरक्षा के लिए संघर्ष

पिछले दिनों तमिलनाड में जैसा विराट और उग्र संघर्ष हिन्दी के विरोध में हुआ, वैसा अंग्रेज़ी को हटाने के लिए भी वहाँ न हुआ था। लगता है, अचानक तमिल भाषा पर ऐसी विपत्ति आ गई जैसी उसके सुदीर्घ इतिहास में पहले कभी न आई थी। यदि तमिल पर कोई विपत्ति आए तो हम हिन्दी भाषियों का यह कर्तव्य है कि प्राणपण से तमिल भाषियों की सहायता करें।

तमिल भाषा को वह कौन-सा अधिकार प्राप्त था, जो इस वर्ष २६ जनवरी से छिन गया? तमिलनाड में क्या उसके व्यवहार पर किसी तरह का प्रतिबन्ध लगा है? क्या अखिल भारतीय स्तर पर कहीं उसका व्यवहार होता था, जो अब बन्द कर दिया गया है?

किसी वक्तव्य में, किसी लेख में यह प्रकट नहीं होता कि तमिल भाषा का कहीं दमन किया गया है। यदि कोई भी यह सिद्ध कर दे कि तमिल भाषा पर ज़रा भी आँच आई है, तो इस अन्याय का विरोध करना मैं अपना कर्तव्य समझूँगा।

तमिल-सम्बन्धी स्थिति वास्तव में दूसरी है। अंग्रेज़ी राज में अंग्रेज़ी के राजभाषा होने के कारण तमिल के अधिकार छीन लिये गए थे। वह विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम नहीं थी। अब उसे तमिलनाड के सामाजिक जीवन में हर स्तर पर व्यवहार में आने का अवसर मिला है। अंग्रेज़ों के विदा होने से भारत की प्रत्येक भाषा की तरह तमिल को भी फलने-फूलने और विकसित होने का अवसर मिला है।

इस अवसर से तमिलभाषी जनता के नेताओं ने लाभ नहीं उठाया। मद्रास राज्य में तमिल को उच्च शिक्षा का माध्यम नहीं बनाया गया। एक समाचार के अनुसार पिछले साल विद्यार्थियों के अभाव में तमिल माध्यमवाला विद्यालय सरकार को बन्द करना पड़ा ('हिन्दी लिंग्ज़', ६ फरवरी, '६५)।

यदि तमिलनाड में इस आंदोलन के नेता वास्तव में मातृभाषा से प्रेम करते थे, तो उन्हें सबसे पहले तमिल को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए संघर्ष करना चाहिए था। ऐसा उन्होंने नहीं किया। तमिल के बदले वहाँ हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने की बात होती, तो भी उनके आंदोलन को न्यायपूर्ण कहा जा सकता था। किन्तु ऐसी

कोई बात नहीं थी। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि तमिल पर कोई विपत्ति नही आई; तमिल-प्रेम की दुहाई देकर वहाँ की जनता को भ्रम में डाला गया है; तमिलनाड मे तमिल के व्यवहार के लिए जो सुविधाएँ प्राप्त है, उनका उपयोग वहाँ के हिन्दी-विरोधी नेता नहीं करते।

संघर्ष हिन्दी-तमिल के बीच नही है। संघर्ष है हिन्दी-अंग्रेजी के बीच, अंग्रेज़ी और समस्त भारतीय भाषाओं के बीच, अंग्रेजी और तमिल के बीच।

इस संघर्ष को भारतीय भाषाओं के पक्ष में हल किया जा सकता है, यह एक तरीका हुआ। इस संघर्ष को अंग्रेजी के पक्ष मे हल किया जा सकता है, यह दूसरा तरीका हुआ। तमिलनाड के हिन्दी-विरोधी नेताओं ने दूसरा तरीका चुना है। अर्थात् उनका आन्दोलन तमिल की सुरक्षा के लिए नही है, वह अंग्रेज़ी की सुरक्षा के लिए है। गालियाँ हिन्दी भाषा को दी जाती हैं, साइनबोर्ड हिन्दी के मिटाये जाते है, किताबें हिन्दी की जलाई जाती हैं। हित होता है अंग्रेजी का। इन कार्यों से तमिल की स्थिति अधिक सुरक्षित नहीं होती। स्थिति सुरक्षित होती है अंग्रेजी की।

यह बात तमिलनाड के लोगो को ही नही, हिन्दीभाषी प्रदेश की जनता को भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि यह संघर्ष हिन्दी-तमिल का नही है, वरन् अंग्रेजी और समस्त भारतीय भाषाओं का है। हिन्दी-तमिल-विरोध के बड़े घातक परिणाम हो सकते हैं। एक बार गृहयुद्ध की आग भड़कने पर उसे रोकना असम्भव हो जाएगा।

इस समय देश में अंग्रेज़ी की स्थिति क्या है?

वैधानिक रूप से हिन्दी के साथ अंग्रेज़ी भी राष्ट्रभाषा है। व्यावहारिक रूप में भारत की एकमात्र राष्ट्रभाषा अंग्रेजी है। स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान सभी साम्राज्य-विरोधी पार्टियाँ इस बारे में एकमत थीं कि राष्ट्रभाषा का स्थान अंग्रेजी को नहीं, किसी भारतीय भाषा को मिलना चाहिए। सन् '४७ में अंग्रेज़ी को हटाने का अवसर आया। अंग्रेजी को हटाने का काम सन '६५ तक के लिए स्थगित कर दिया गया। जब सन '६५ नज़दीक आया तब वैधानिक परिवर्तन द्वारा अंग्रेज़ी को भविष्य में अनिश्चित काल के लिए सहायक राजभाषा बना दिया गया।

तब अंग्रेज़ी पर अचानक कौन-सा संकट आ गया? अंग्रेज़ी के साथ अब हिन्दी भी राजभाषा है, यह संकट है। कम-से-कम कहने को हिन्दी भी राजभाषा है। अहिन्दी प्रदेशों को अंग्रेजी के व्यवहार की पूरी छूट है। किन्तु इससे अंग्रेजी-प्रेमियों को सन्तोष नही है। ४ फरवरी को नई दिल्ली में अखिल भारतीय प्राविधिक शिक्षा समिति (ऑल इंडिया कौंसिल फॉर टेकनिकल एजुकेशन) ने प्रस्ताव पास किया कि हर राज्य में वैज्ञानिक और प्राविधिक शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी ही रहेगी। क्या यह भारतीय भाषाओं पर अंग्रेज़ी लादना नहीं है? अंग्रेज़ी को लादना तो राष्ट्रीय एकता के लिए हितकर बताया जाता है; अंग्रेज़ी की जगह हिन्दी के चलन की बात भी करना साम्राज्यवाद है! तमिल की जगह तमिलनाड में ही अंग्रेज़ी शिक्षा का माध्यम बनी रहे, तो इससे राष्ट्र का

विकास होता है, यदि केन्द्रीय राजकाज के लिए—तमिलनाड में नहीं, केवल केन्द्रीय राजकाज के किसी अत्यन्त सीमित दायरे में—हिन्दी में चलन की बात की जाय तो साम्राज्यवाद हो जाता है।

देश का भला चाहने वाले अनेक नेताओं और पत्रकारों ने लिखा है, वक्तव्य दिये हैं कि दक्षिणवालों का भय जायज है और उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह भय क्या है? भय यह है कि हिन्दी के राजभाषा होने से अखिल भारतीय सरकारी नौकरियाँ हिन्दीवाले हथिया लेंगे, दक्षिणवाले टापते रह जाएँगे। राष्ट्रीय एकता और तमिल प्रेम का सब टंटा है नौकरियों के मसले पर। किसी समय भारत का उच्च वर्ग अंग्रेजों से माँग करता था कि सरकारी नौकरियाँ उसे भी दी जाएँ, अंग्रेजों के लिए सुरक्षित न रहें। इस उच्च-वर्ग को भारत की स्वाधीनता की चिन्ता न थी, उसकी लड़ाई थी सरकारी नौकरियों के लिए। तमिलनाड और अन्य प्रदेशों के अंग्रेजी प्रेमी नेताओं को रोटी रोजी का मसला हल करने की, देश के आर्थिक विकास की चिन्ता नहीं है। उन्हें सबसे बड़ी चिन्ता है सरकारी नौकरियों की। ठीक है। सरकारी नौकरियों की चिन्ता कीजिए। लेकिन राष्ट्रीय एकता के लबादे से इस स्वार्थ को मत ढँकिये। मातृभाषा प्रेम की पवित्र भावना जगाकर नौकरियों के इस संघर्ष में भोली भाली जनता को पुलिस-फौज की गोलियों का शिकार न बनाइए।

अखिल भारतीय नौकरियों के लिए जो परीक्षाएँ होती हैं, उनमें अंग्रेजी और हिन्दी की स्थिति क्या है? स्थिति यह है कि अभी तक इन परीक्षाओं का एकमात्र माध्यम है अंग्रेजी। इस माध्यम को हटाने की कोई भी योजना नहीं है, कागजी तौर पर भी नहीं है। संकट केवल यह है कि केन्द्रीय सरकार ने विभिन्न प्रदेशों के मुख्य मन्त्रियों की राय से एक प्रयोग करने का निश्चय किया है। वह प्रयोग यह है कि यदि हिन्दी को भी अंग्रेजी के साथ—अंग्रेजी की जगह नहीं—कुछ विषयों में (सभी विषयों में नहीं) परीक्षा का माध्यम बनाया जाय तो इससे अंग्रेजी माध्यमवाले घाटे में तो नहीं रहेंगे। यह प्रयोग हुआ नहीं है। उसके होने की बात है। उस प्रयोग से जब अहिन्दी भाषी भी सन्तुष्ट हो जायेंगे कि अंग्रेजी का व्यवहार करने पर उन्हें घाटा न होगा, तब उनके सहमत होने पर कुछ विषयों में अंग्रेजी के साथ हिन्दी भी एक ऐच्छिक माध्यम हो सकती है। अंग्रेजी के लिए इतना ही संकट उत्पन्न हुआ है।

प्रधानमन्त्री ने कहा है कि हिन्दी-प्रेमियों को अंग्रेजी हटाने में जल्दी न करनी चाहिए। स्वराष्ट्र मन्त्री ने कहा है हमें इस मामले में जल्दी न करनी चाहिए। कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने सरकार को सलाह दी है कि हिन्दी को राजभाषा बनाने में जल्दी न करनी चाहिए। आखिर वह कौन-सी तेज रफ्तार थी और किस क्षेत्र में थी, जिससे हिन्दी राजभाषा बनी जा रही थी? आजादी पाने के अठारह साल बाद जो सरकार अखिल भारतीय नौकरियों के लिए हिन्दी को केवल ऐच्छिक माध्यम बनाने के प्रयोग की बात करती है, उसमें भी कुछ बुद्धिमानों को तेज रफ्तार की शिकायत होती है।

हिन्दी तो एक दिन राजभाषा होगी, लेकिन धीरे-धीरे—ऐसा कहनेवाले वास्तव में अंग्रेजी की हिमायत करते हैं। इसका प्रमाण यह है कि अपना अखिल भारतीय राजनीतिक कार्य ये नेता और उनकी पार्टियाँ अंग्रेजी में करती हैं। व्यवहार में अंग्रेजी; हिन्दीभाषी जनता के वोट लेने के लिए भविष्य में हिन्दी को राजभाषा बनाने के वायदे ! यह दुरंगी नीति ज्यादा दिन नहीं चलेगी।

कुछ दूसरे लोग हैं जो माँग करते हैं कि स्वर्गीय प्रधानमन्त्री ने अंग्रेजी के सम्बन्ध में जो वायदे किये थे, वे संविधान में दर्ज हो जाने चाहिएँ। यद्यपि वर्तमान प्रधानमन्त्री ने उन आश्वासनों को दुहराया है, किन्तु बहुत-से देशभक्तों के लिए इतना काफी नहीं है। वे चाहते हैं कि संविधान में उन आश्वासनों को दर्ज कर दिया जाय।

अनेक स्थानों में यह नया नारा सुनने को मिला है—'हिन्दी नेवर, इंग्लिश एवर।' हिन्दी कभी न आए, अंग्रेजी हमेशा बनी रहे ! दक्षिण में जो उच्चकोटि के प्रतिक्रियावादी नेता हैं, वे यही नारा दे रहे हैं कि भारत की एकमात्र राजभाषा अंग्रेजी हो। अपने आन्दोलन के जरिये वे सबसे पहले तमिल की जड़ काट रहे हैं, क्योंकि उन्हीं की कृपा से तमिलनाड में तमिल उच्चशिक्षा का माध्यम नहीं बनी। इसके बाद वे विशाल हिन्दीभाषी प्रदेश पर—तथा अन्य अहिन्दी राष्ट्रभाषा-प्रेमी जनता पर—सदा के लिए अंग्रेजी का प्रभुत्व कायम रखने का षड्यन्त्र कर रहे हैं। अंग्रेजी के इस वास्तविक साम्राज्यवाद को देश की जनता कभी सहन न करेगी।

यह ध्यान देने की बात है, हिन्दी-विरोधी आन्दोलन ने भयानक उत्पात का रूप केवल तमिलनाड में लिया है। अंग्रेजी-प्रेमी नेता अन्य प्रदेशों में भी हैं, किन्तु उन्होंने कोई उग्र आन्दोलन नहीं चलाया। इसके दो कारण हैं। पहला यह कि अंग्रेजी-प्रेमी नेता जानते हैं कि वास्तव में अंग्रेजी के लिए कोई खतरा नहीं है, हिन्दी को व्यावहारिक राजभाषा होने में बहुत देर है। इसलिए गर्म या नर्म किसी तरह के आन्दोलन को वे अनावश्यक समझते हैं। दूसरा कारण यह है कि तमिलनाड को भारत से अलग करने के लिए जैसा आन्दोलन उस प्रदेश में हुआ है, वैसा आन्दोलन अन्य किसी प्रदेश को अलग करने के लिए नहीं हुआ। विघटन के इस प्रचार को राजनीतिक दलों ने संगठित किया। भाषाशास्त्र और इतिहास की झूठी गवाही से उस विघटन की भावना को वर्षों तक फैलाया। केन्द्रीय या तमिलनाड का शासन अथवा कोई भी राजनीतिक दल उसका समर्थ प्रतिवाद नहीं कर पाया। यही कारण है कि हिन्दी-विरोधी आन्दोलन ऐसा विनाशक रूप केवल तमिलनाड में ले सका।

इसका अर्थ यह है कि हिन्दी-विरोध एक नकाब है, जिसके नीचे विघटन का देव छिपा हुआ है। नौकरी न मिलेगी यह भय दिखलाकर स्वार्थी नेताओं ने छात्रों को उभारा है और स्वतन्त्र द्रविड़ राज्य कायम करने के लक्ष्य के लिए उनका उपयोग किया है। देश की स्थिति ऐसी है कि कश्मीर, नागालैण्ड या तमिलनाड कोई भी प्रदेश अलग होता है, तो उसकी हिमायत के लिए साम्राज्यवादी आगे आते हैं। वे अपने फौजी अड्डों का स्वप्न

देखते हैं, भारत का जो हिस्सा मिले उसका उपयोग अपनी समर-योजनाओं के लिए करना चाहते हैं। कुछ विदेशी पत्रों ने तमिलनाड के हिंदी-विरोधी आन्दोलन को लेकर तमिल की लिपि, तमिल भाषा की व्यंजना-शक्ति की बड़ी प्रशंसा की है और हिंदी को तमिल से नीचा ठहराया है। इस प्रचार का उद्देश्य भारत में गृहयुद्ध की आग सुलगाना है।

भारत से अलग होकर तमिलनाड या कोई भी प्रदेश न तो साम्राज्यवाद से मुक्त रह सकता है न अपना आर्थिक और सांस्कृतिक विकास कर सकता है। विग्रहकारी आन्दोलन में सर्वप्रथम उस प्रदेश का अहित होता है, जहाँ ऐसा आन्दोलन चलाया जाता है। उसके बाद समूचे देश का अहित होता है। अंग्रेजी की सुरक्षा का यह आन्दोलन देश के विघटन का आन्दोलन है। समस्या हिन्दी और तमिल की नहीं है, समस्या तमिलनाड को भारत का अभिन्न अंग बनाये रखने की है।

यह सम्भव है कि भारत सरकार अंग्रेजी प्रेमियों के दबाव से अंग्रेजी की सुरक्षा के लिए कुछ और नियम कायदे बना दे या संविधान में तब्दीली कर दे। इससे अंग्रेजी की वास्तविक स्थिति में कोई अन्तर न पड़ेगा। अंग्रेजी तो राजभाषा के रूप में सुरक्षित है ही। भारतीय भाषाओं को उनके उचित अधिकार दिलाने के लिए यह जरूरी है कि सबसे पहले हिन्दीभाषी प्रदेश में अंग्रेजी को राजभाषा और सांस्कृतिक भाषा के पद से पूर्णतः हटा दिया जाय, विश्वविद्यालयों में पूर्णतः हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाया जाय, यहाँ के न्यायालयों का सारा काम हिन्दी में हो, सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में अंग्रेजी का व्यवहार खत्म किया जाय। इसके बाद जिस दिन हिन्दीभाषी जनता संगठित होकर अपने लोक सभा के प्रतिनिधियों को हिन्दी में बोलने और सारा राजकाज हिन्दी में करने के लिए बाध्य करेगी, उस दिन अंग्रेजी का साम्राज्यवाद खत्म हो जाएगा, उस दिन तमिलनाड में तमिल भी अपना पूर्ण स्वत्व प्राप्त करेगी और राष्ट्रीय एकता को दृढ करने में हिन्दीभाषी जनता अपनी भूमिका पूरी करेगी। अंग्रेजी को हटाने और राष्ट्रीय एकता दृढ करने का भार अब हिन्दीभाषी प्रदेश पर है। (१९६५)

३४

भाषा की समस्या और राष्ट्रीय विघटन

जिस समय भारत की संविधान सभा ने यह निश्चय किया कि राष्ट्रभाषा हिन्दी हो और तुरन्त नहीं, पन्द्रह साल बाद सन् '६५ में हो, उस समय इस फैसले के पक्ष में वोट देने वाले उत्तर के लोग भी थे, दक्षिण के भी, हिन्दी-भाषी इलाकों के नेता भी थे और अहिन्दी-भाषी प्रदेशों के भी। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि यह फैसला हिन्दी वालों ने दक्षिण या बंगाल पर लादा था।

जैसे-जैसे सन् '६५ निकट आता गया वैसे-वैसे उस फैसले को टालने के लिए भी कोशिशें होने लगीं। संसद ने एक क़ानून बना दिया जिसके अनुसार सन् '६५ के बाद भी अंग्रेजी सह-राजभाषा बनी रह सकती है। इस फैसले से हिन्दी को धक्का लगा, यह माना जा सकता है। किन्तु उससे किसी अहिन्दी भाषा को हानि हुई यह दावा कोई नही करता।

इसके बाद भी स्वर्गीय प्रधानमन्त्री ने आश्वासन दिया कि अहिन्दी-भाषियों की मर्जी के बिना अंग्रेज़ी को नही हटाया जाएगा। इस साल २६ जनवरी से दिल्ली सरकार ने अपना राजकाज हिन्दी में नही शुरू किया, किसी अफसर को हिन्दी न जानने के कारण निकाला नहीं गया, अखिल भारतीय नौकरियों के लिए परीक्षाएँ हिन्दी में नहीं होने लगीं, न अंग्रेज़ी को हटाकर उन परीक्षाओं के लिए हिन्दी को एकमात्र माध्यम बनाने का फैसला किया गया, उत्तर-दक्षिण के विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी नही बनी, किसी भी केन्द्रीय मन्त्रालय ने अपने कागज़-पत्तर हिन्दी में तैयार करना नहीं शुरू किया, न इस तरह के कागज-पत्तर केन्द्र से राज्यों को भेजे गए, तमिलनाड या बंगाल से अंग्रेज़ी में लिखकर भेजा हुआ कोई कागज़ दिल्ली से वापस नहीं किया गया, कांग्रेस के प्रधान श्री कामराज के तमिल में ही बोलने पर कहीं हिन्दी-जनता ने प्रदर्शन नहीं किया, फिर भी तमिलनाड में उत्पात खड़ा हो गया!

केन्द्रीय सरकार में उत्तर-दक्षिण, हिन्दी-अहिन्दी सभी प्रदेशों के लोग हैं। इस सरकार का कोई भी काम सिर्फ़ हिन्दीभाषी जनता का काम नही माना जाता। फिर भी अगर कोई ऐसा काम हुआ हो जिससे अंग्रेजी की गौरवमय स्थिति को धक्का लगा हो तो मैं जानना चाहता हूँ कि वह काम कौन-सा है। सन् '६५ में हिन्दी को—कागज़ पर, दिखावे के लिए—

राष्ट्रभाषा बनाने का फैसला सोलह साल पहले किया गया था। फैसला करनेवाले उत्तर-दक्षिणवाले दोनों थे। फिर अचानक अहिन्दी भाषियों पर हिन्दी आज कैसे लाद दी गई?

कुछ लोगों का कहना है कि भारत के सभी राज्यों की भाषाओं को बराबरी का दर्जा दे दिया जाय। मैं कहता हूँ शौक से दीजिए। लेकिन आप जिस पार्टी में भी हों, उसका राजनीतिक काम दस-बारह भाषाओं में करके दिखाइए। जो पार्टियाँ अपना केन्द्रीय काम एक भाषा में करती हों, उन्हें कोई हक नहीं है कि वे केन्द्र में दस भाषाएँ चलाने की बात करें।

कुछ बुद्धिमान नेता यह राय देते हैं कि राज्यों में वहाँ की भाषाएँ चलें लेकिन केन्द्र में अंग्रेजी चले क्योंकि हिन्दी को अभी और विकसित होना है। इसका मतलब यह हुआ कि उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश आदि के राजकाज के लिए तो हिन्दी विकसित है, केवल केन्द्रीय राजकाज के लिए वह अविकसित है। मैं जानना चाहता हूँ कि उत्तर प्रदेश और केन्द्र के राजकाज में वह कौन-सा गुणात्मक अन्तर है जिससे हिन्दी एक जगह विकसित मानी जाती है और दूसरी जगह अविकसित।

असलियत यह है कि अंग्रेजी को देश में कायम रखने के लिए हर दलील जायज है। अंग्रेजी के जरिये हमारा अफसर वर्ग साहब बनकर जनता पर हुकूमत करता है। और हर पार्टी के अन्दर अंग्रेजी के कारण एक ऊँचे पाये का नेता है जिसे अपने महान् विचार प्रकट करने में किसी भारतीय भाषा को माध्यम बनाते हुए बड़ी कठिनाई होती है। दूसरा नेता छोटे दर्जे का केवल भारतीय भाषाएँ जाननेवाला है। अंग्रेजी के जरिये अफसर और जनता, साहब और गुलाम, बड़ा आदमी और छोटा आदमी—दो वर्गों में सारे देश को बाँटने में सहूलियत होती है। जो लोग कहते हैं कि अंग्रेजी के रहने से राष्ट्रीय एकता कायम रहती है, उनका मतलब यही होता है कि उसके जरिये काले साहबों की एकता कायम रहती है। इस एकता के कारण आम जनता और हुकूमत के बीच कितना बड़ा फासला कायम रहता है, इसकी चिन्ता उन्हें नहीं होती।

अब यह बिलकुल स्पष्ट है कि लड़ाई तमिल या बंगला के अधिकारों के लिए नहीं है। लड़ाई है अंग्रेजी के बेजा अधिकारों की रक्षा के लिए। तमिलनाड के जिन विद्यालयों में तमिल को शिक्षा का माध्यम बनाया गया उन्हें बन्द कर देना पड़ा। आंध्र के शासकों का कहना है कि तेलुगु को राजभाषा बनाने में दस साल लगेंगे। इससे क्या साबित होता है? क्या हिन्दी राष्ट्रभाषा बनकर तमिल और तेलुगु से अधिकार छीन ले रही है? हकीकत यह है कि आंध्र और तमिलनाड में राजभाषा अंग्रेजी है और उसे हटाने के बदले प्रदेश प्रेमी सज्जन हिन्दी विरोधी आन्दोलन चला रहे हैं।

केन्द्र में अंग्रेजी और प्रदेश में अंग्रेजी—दोनों जगह के तार आपस में जुड़े हुए हैं। जो केन्द्र में अंग्रेजी हटाने का विरोधी है वह प्रदेश में भी उसे नहीं हटाना चाहता। बात बिलकुल स्वाभाविक है। तमिलनाड में रहनेवाला जो गृहस्थ अपने बेटे को ऑल इंडिया सर्विस में अफसर बनाना चाहता है वह उसके लिए तमिल को शिक्षा का माध्यम

क्यों बनाए ? प्रदेश में हर स्तर पर वहीं की भाषा चालू हो जाय तो होनहार नौजवानों को अंग्रेजी लिखने-बोलने में कठिनाई न होगी ? अंग्रेजी कौन ज्यादा अच्छी बोलेगा—वह जिसकी शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी रही है या वह जो शिक्षा प्रादेशिक भाषा में पाता रहा है ? इसीलिए गुजरात में आन्दोलन हो रहा है कि अंग्रेजी की शिक्षा को वही दर्जा दिया जाय जो और राज्यों में उसे प्राप्त है।

जब तक केन्द्र की राजभाषा अंग्रेजी है तब तक प्रदेशों में वहाँ की भाषाएँ पूरी तरह राजभाषा बन नहीं सकतीं। बेटा इंजीनियर बनेगा, लोकसभा का सदस्य बनेगा, कहीं का राज्यपाल बनेगा, कलक्टर या कमिश्नर बनेगा। यह सब बनने-बनाने का काम अंग्रेज़ी से होगा या तमिल और मराठी से ? होनहार नौजवानो के माता-पिता क्या मूर्ख हैं जो प्रादेशिक भाषा में शिक्षा देकर उनका अखिल भारतीय भविष्य नष्ट करेंगे ?

इसलिए वे नेकदिल नेता जो भाषा-समस्या सुलझाने के लिए यह सुझाव पेश करते हैं कि राज्यों में तुरन्त वहाँ की भाषाओं को राजभाषा बनाया जाय और केन्द्र में अंग्रेज़ी को बहुत धीरे-धीरे हटाया जाय, बहुत भारी भ्रम में हैं। स्वाधीन भारत में शिक्षा का महान् उद्देश्य अब भी अखिल भारतीय नौकरियाँ प्राप्त करना है। बेटी का व्याह आई० ए० एस० अफसर से हो, मध्यवर्गीय बाप की यह सबसे बड़ी तमन्ना होती है। प्रदेशों में शिक्षा का संगठन इन्हीं अखिल भारतीय नौकरियों को लक्ष्य बनाकर होता है। इसलिए जब तक केन्द्र में अंग्रेजी रहेगी जब तक अखिल भारतीय स्तर पर अंग्रेज़ी का मौजूदा रोबदाब रहेगा, तब तक प्रदेशों में भी अंग्रेज़ी हटाई न जाएगी। जो सचमुच अंग्रेज़ी हटाकर प्रादेशिक भाषाओं को राजभाषा बनाना चाहते हैं, वे केन्द्र में अंग्रेजी के समर्थक हो ही नही सकते।

सरकार की बात जाने दीजिए। मैं उस अखिल भारतीय पार्टी का नाम जानना चाहता हूँ जिसकी प्रादेशिक शाखाएँ अपना सारा काम भारतीय भाषाओं में करती हैं और जो केन्द्र में अंग्रेजी हटाकर धीरे-धीरे हिन्दी लाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

भाषावार राज्यों के पुनर्गठन का आन्दोलन चला। इस आन्दोलन में यह जोरदार आवाज़ नहीं सुनाई दी कि प्रदेशों में अंग्रेज़ी हटाई जाय, प्रादेशिक भाषा को राजभाषा बनाया जाय। इसका क्या कारण है ? कारण यह है कि भाषावार राज्य बनाने में प्रादेशिक पूँजीपतियों का भी स्वार्थ था, वे अपने लिये अलग बाजार कायम करना चाहते थे, उन्हें प्रादेशिक भाषाओं से कोई खास मोहब्बत न थी। प्रगतिशील नेताओं ने उनका साथ दिया, ठीक किया। लेकिन प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया जाय, इसके लिए वे कोई सशक्त आन्दोलन नहीं कर सके। क्यों ? आज भी प्रस्ताव पास करने के अलावा प्रदेशों में अंग्रेजी हटाने के लिए कोई आन्दोलन नहीं चलाया जा रहा, न कोई आन्दोलन चलाने का कार्यक्रम है। क्यों ? प्रदेशों में अंग्रेजी हटाने के लिए भाषावार प्रान्त आन्दोलन जैसी कोई चीज सामने क्यों नहीं है ? इसलिए कि प्रादेशिक पूँजीपतियों का साथ देते हुए बहुत से प्रगतिशील नेता भी भटकाव के शिकार हो गए हैं। उन्होंने प्रादेशिक भाषाओं के

लिए आन्दोलन नहीं किया, राज्यों की भौगोलिक सीमाओं के लिए मरे-खपे। उन्होंने प्रादेशिकता के आन्दोलन में राष्ट्रीय एकता की आवाज़ बुलन्द नहीं की। उसी का नतीजा है कि आज वे प्रदेशों में तो अंग्रेज़ी हटाने की बात करते हैं लेकिन केन्द्र में काफ़ी दिन तक अंग्रेज़ी कायम रखने की बात सोचते हैं। नतीजा यह होता है कि अंग्रेज़ी को केन्द्र से हटाने के आन्दोलन में हिन्दी के लिए जो सही माँग है, उसे पेश करने का काम उन्होंने श्री मुरारजी भाई और जनसंघ के नेताओं को सौंप दिया है। उनकी ढिलाई से प्रतिक्रियावादी ऐसा फ़ायदा उठा रहे हैं, [illegible] हटाने के बदले वे प्रसन्न होकर फ़तवा देते हैं—मुस्लिम [illegible] हटाने का नारा मुरारजी और [illegible] का है। आश्चर्य की बात है कि संयुक्त महाराष्ट्र आन्दोलन में जनसंघ के साथ काम करते हुए अनेक प्रगतिशील नेताओं को इतनी भी तकलीफ़ नहीं हुई। अब केन्द्र से अंग्रेज़ी हटाने के सवाल पर वे जनसंघ का हौआ खड़ा करते हैं।

कुछ दिन हुए बंगाल में प्रगतिशील और अप्रगतिशील सभी दलों ने हिन्दी लागू न करने के लिए एकमत होकर प्रस्ताव पास किया। तमिलनाड में द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम से लेकर [illegible] तक सभी दल अंग्रेज़ी की सुरक्षा के लिए एकमत हैं। केरल में 'राइटिस्ट कम्युनिस्ट' श्री नम्बूदरीपाद मुस्लिम लीग से साँठ-गाँठ करने में दत्तचित्त हैं। भाषा के प्रश्न पर [illegible] और फ्रैंक एन्थनी के साथ कुछ प्रगतिशील नेताओं ने एक ही बयान पर हस्ताक्षर किये हैं। प्रदेशों में अंग्रेज़ी के पक्ष में प्रगतिशील-अप्रगतिशील एक हो सकते हैं। केवल केन्द्र से अंग्रेज़ी हटाने के सवाल पर मुरारजी भाई और जनसंघ से सावधान रहना चाहिए।

तमिलनाड में भाषा का आन्दोलन प्रतिक्रियावादियों के हाथ में था। उन्होंने जनता के तमिल प्रेम से लाभ उठाकर पुस्तकालयों, स्टेशनों और डाकखानों में आग लगाई। खूब समझ लीजिए यह गृहयुद्ध की आग है। उत्तर में मुरारजी भाई आदि अंग्रेज़ी हटाने का आन्दोलन अपने हाथ में ले रहे हैं। प्रगतिशील नेता टुकुर-टुकुर देख रहे हैं। अंग्रेज़ी हटाने का आन्दोलन अपने हाथ में न लेकर वे उसे प्रतिक्रियावादियों को सौंप रहे हैं।

प्रगतिशील नेता बहुत नेक सलाह देते हैं कि हिन्दी-भाषी जनता को अन्ध राष्ट्रवाद का शिकार न होना चाहिए। सही बात है। हिन्दी जनता का राष्ट्रवाद कैसे ज़ाहिर होता है? जो लोग समझते हैं कि सारे देश में हिन्दी वैसे ही चलेगी जैसे ब्रिटेन में अंग्रेज़ी चलती है, यानी जो भारतीय भाषाओं को मिटाना चाहते हैं और राष्ट्रीय एकता का मतलब यह लगाते हैं कि और सब भारतीय भाषाएँ मिट जायें, उनकी जगह हिन्दी ही रहे, वे अन्ध राष्ट्रवादी हैं। किन्तु हिन्दी प्रदेशों से किसी ने यह माँग नहीं की कि तमिलनाड में तमिल को शिक्षा का माध्यम न बनाया जाय, यह माँग नहीं की कि वहाँ या बंगाल या महाराष्ट्र में हर स्तर पर हिन्दी चलाई जाय। इसके विपरीत हुआ यह है कि सभी दलों के नेता प्रादेशिक भाषाओं को उनके पूर्ण अधिकार देने के पक्ष में हैं। माँग है अंग्रेज़ी को हटाने की, न कि अहिन्दी भाषाओं को दबाने की। इसलिए केन्द्र से अंग्रेज़ी को हटाने के

सवाल पर हिन्दी साम्राज्यवाद का भय दिखाना वास्तव में अंग्रेजी की सुरक्षा के लिए बहुत घटिया किस्म की वकालत करना है।

सरकार क्या करेगी और दूसरी पार्टियाँ क्या करेंगी, ये बड़ी-बड़ी बातें हैं जिन पर इस लेख में कुछ नहीं कहना। मेरी माँग भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं से है। आप अपना सारा प्रादेशिक काम भारतीय भाषाओं में कीजिए, एक महीने के अन्दर प्रदेशों में अंग्रेज़ी की जड़ काट दीजिए। केन्द्र मे अपना काम चाहे हिन्दी में कीजिए चाहे हिन्दी को बिलकुल न रखिये बल्कि वह काम दस-बारह-चौदह अहिन्दी भाषाओं में कीजिये, अगले छः महीनों मे अपने केन्द्र से अंग्रेज़ी का पूर्ण बहिष्कार कीजिये। ऐसा आप कर लें तो मैं समझूँगा कि भारत की भाषा-समस्या हल करने मे आपने बहुत बड़ी सक्रिय सहायता दी है। वरना देश जिस विघटन की ओर बढ़ रहा है, उसमें सबसे पहली चोट आप पर होगी और आप यह कहने की हालत मे भी न होंगे कि चोट गलत पड़ी।

मध्यवर्ग का सहारा लेने के लिए फासिस्टवाद भाषा और संस्कृति का रक्षक बनकर सामने आता है। हिटलर जर्मन भाषा और जर्मन संस्कृति का बहुत बड़ा समर्थक बनकर रंगमंच पर आया था। तमिलनाड मे तमिल-रक्षा का भार द्रविड़ मुन्नेत्र कज्गम पर उत्तर में हिन्दी-रक्षा का जनसंघ पर और दोनों की रक्षा का भार महान् गणराज्य संयुक्त राष्ट्र अमरीका पर ! भारत का भावी मानचित्र आपको कैसा दिखाई देता है ?

पहले एक देश में दो देश बने, भारत और पाकिस्तान। अब भारत मे दो नये राष्ट्रों का निर्माण होगा, एक हिन्दी-राज्य, दूसरा अहिन्दी-राज्य। लेकिन विघटन यहीं समाप्त न होगा। असम मे दंगे हिन्दी-भाषियों के खिलाफ न हुए थे। बम्बई में संयुक्त महाराष्ट्र आन्दोलन के दौरान अन्ध-राष्ट्रवादियों का क्रोध हिन्दी-भाषियो पर न बरसा था। मारे गये थे बँगाली और गुजराती, दोनों अहिन्दी-भाषी। तमिलनाड और आन्ध्र के शिक्षित लोगों में एक-दूसरे के प्रति वही भाव हैं, जो असमी-बंगालियों, गुजराती-मराठी-भाषियों में हैं। कश्मीर और नागा प्रदेश में अलगाव के आन्दोलन से सभी लोग परिचित हैं। द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम मूलतः तमिलनाड को अलग करने का आन्दोलन करता रहा है, हिन्दी-विरोध को भड़काने और उससे लाभ उठाने की सूझ बाद की है। मुस्लिम लीग के 'डाइरेक्ट ऐक्शन' से त्रस्त होकर देशप्रेमी नेताओं ने देश का विभाजन स्वीकार किया। उससे साम्प्रदायिक समस्या सुलझ गई ? साम्राज्यवाद को अपने फौजी अड्डे बनाने का मौका नही मिला ? दीजिये तमिलनाड को आत्मनिर्णय का अधिकार ! कीजिये कश्मीर और नागा प्रदेश को भारत से अलग ! कहिए कि भारत की अखंडता का नारा जनसंघ का नारा है ! आपके आत्मनिर्णय के अधिकार से साम्राज्यवाद को लाभ होता है या भारत की जनता को ?

भारत के मजदूर वर्ग का संगठन प्रदेशो में बँटेगा नहीं, वह अखिल भारतीय स्तर पर होगा। विकास की पंचवर्षीय योजनाएँ अखिल भारतीय स्तर पर बनेंगी और उसी पर सफल होंगी। केरल में अन्न की कमी या बेकारी अन्य राज्यों और केन्द्र के सहयोग

में ही दूर होगी। राष्ट्रीय विघटन का अर्थ है सबकी हानि, साम्राज्यवाद का लाभ। राष्ट्रीय एकता का अर्थ है सबका लाभ, साम्राज्यवाद की हानि।

यह राष्ट्रीय एकता अब अंग्रेजी जाननेवाले डेढ़ फी सदी लोगों के सहारे कायम नहीं रह सकती। अगर केन्द्र में हिन्दी चलाना साम्राज्यवाद है तो अंग्रेजी कायम रखना और भी बड़ा अन्याय है। हिंदी भाषी जनता इसे कभी सहन न करेगी। स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू के चाहे जितने आश्वासनों को क़ानून का रूप दे दीजिए, वे अंग्रेजी को अमर नहीं कर सकते।

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का आन्दोलन यहाँ उन्नीसवीं सदी से हो रहा है। गांधीजी ने हिन्दी-प्रचार को राष्ट्रीय आन्दोलन का अभिन्न अंग बनाया। भारत को स्वाधीन हुए अठारह साल हो गए। अब और कितने धीरे? कुछ रफ्तार निश्चित कर दीजिए। मालूम तो हो जाय कि अढ़ाई कोस नौ दिन में तै करते हैं या अठारह दिन में।

एक अजीब बात हिन्दी के पिछड़ेपन के बारे में है। लेनिन ने ज़ारशाही रूस की भाषाओं का पिछड़ा हुआ न पाया। उन्होंने गैर-रूसी भाषाओं को राजकाज के लिए माध्यम बनने दिया। चीनी भाषा पिछड़ी हुई नहीं है, माओत्से तुंग और चीनी सरकार के काम आती है। सिर्फ हिन्दी ऐसी पिछड़ी हुई भाषा है और भारत के बुद्धिजीवी ऐसे महान चिन्तक हैं कि अंग्रेजी के बिना न तो केन्द्रीय सरकार का काम चल सकता है, न किसी पार्टी का अपना राजनीतिक कार्य, विशेषकर उसका केन्द्रीय राजनीतिक कार्य। यह पिछड़ेपन की दलील न केवल हिन्दी-भाषी जाति का अपमान है वरन् अंग्रेजी की गुलामी का सजीव प्रमाणपत्र है।

राज्यों में प्रादेशिक भाषाएँ और केन्द्र में हिन्दी—ये दोनों लक्ष्य एक ही साथ सिद्ध होंगे। ये दोनों लक्ष्य आज सिद्ध हो सकते हैं यदि राजनीतिक पार्टियाँ अपने व्यवहार में इस नीति को अपना लें। कथनी और करनी में भेद होने से कोई समस्या हल नहीं हो सकती। जितना ही विलम्ब होगा उतना ही विघटन बढ़ेगा। इसलिए सही नीति के लिए हिम्मत से आन्दोलन करने का समय अभी है, कल न रहेगा।

हिन्दी के लिए धीरे चलो, यह गलत है। कहना चाहिए, और तेज चलो। केन्द्र और राज्यों में एक साथ अंग्रेजी हटाओ—यही नारा सही है।

केन्द्र में आप हिन्दी नहीं चाहते, न रखिये। लेकिन अंग्रेजी न चलेगी। उसकी जगह भारत की एक भाषा चलाइए, चाहे दस भाषाएँ। केन्द्रीय सरकार में जो भाषा-नीति आप चलाना चाहते हों उसे अपनी पार्टी के व्यवहार में लाइये। इसी से हमें विश्वास होगा कि आप ईमानदारी से भाषा-समस्या हल करना चाहते हैं। वरना बातें बनानेवाले नेताओं की इस देश में कमी नहीं है। (१९६५)

३५
भाषा की समस्या और मज़दूर वर्ग

समाज की और दूसरी समस्याओं की तरह भाषा की समस्या पर भी साम्राज्यवादियों, भारतीय पूंजीपतियों और मज़दूर वर्ग के विचार अलग-अलग हैं।

अंग्रेज़ों ने इस देश को जीता। लोगों की इच्छा के विरुद्ध शिक्षा और शासन में अंग्रेज़ी चलाई। भारतीय भाषाएँ पिछड़ी हुई हैं, वे न शासनतंत्र के योग्य हैं, न उनमें आधुनिक शिक्षा दी जा सकती है—यह स्थापना ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के प्रतिनिधि लार्ड मेकाले ने शिक्षा-सम्बन्धी अपने प्रसिद्ध लेख में की। अंग्रेज़ों ने विभिन्न भाषाएँ बोलनेवाली जातियों को आपस में लड़ाया। इस लड़ाई से लाभ उठाकर उन्होंने सभी के ऊपर अंग्रेज़ी का प्रभुत्व कायम रखा। अंग्रेज़ी की यह गुलामी राजनीतिक पराधीनता का ही एक हिस्सा थी।

राष्ट्रीय आन्दोलन के आरम्भ काल से अंग्रेज़ी हटाने की माँग स्वाधीनता का अभिन्न अंग बन गई। गांधीजी ने सितम्बर, १९२१ के 'यंग इंडिया' में लिखा था कि उनके हाथ में तानाशाह की ताक़त होती तो वह उसी दिन अंग्रेज़ी में शिक्षा देना बन्द करा देते और जो अध्यापक इस हुक्म को न मानता, उसे वह नौकरी से हटा देते।

अंग्रेजी से किसी एक भाषा का नहीं, सारे राष्ट्र का अहित होता है। इस बारे में गांधीजी ने ५ जुलाई, १९२८ के 'यंग इंडिया' में लिखा था कि अंग्रेज़ी ने राष्ट्र की शक्ति का नाश कर दिया है और अंग्रेज़ी बनी रही तो राष्ट्र की आत्मा का नाश हो जायगा।

भारत में प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन के जन्मदाता महान उपन्यासकार प्रेमचन्द ने भाषा की गुलामी के बारे में लिखा था, "ज़बान की गुलामी ही असली गुलामी है।" (प्रेमचन्द, कुछ विचार, पृ० २२१)।

भारत विभाजित हुआ और स्वाधीन हुआ। आज़ादी मिले एक ही महीना हुआ था कि गांधीजी ने केन्द्र और प्रान्तों से एक साथ अंग्रेज़ी हटाने की माँग की। २१ सितम्बर, १९४७ के 'हरिजन' में उन्होंने लिखा कि "प्रान्तीय सरकारों के लिए ऐसे कर्मचारी रखना बिलकुल आसान होना चाहिए जो प्रान्तीय भाषाओं और नागरी या उर्दू लिपि में लिखी जानेवाली अन्तर्प्रान्तीय भाषा हिन्दुस्तानी में सारा काम कर सकें।"

गांधीजी की नीति थी कि केन्द्र और राज्यों से तुरन्त और एक साथ अंग्रेज़ी हटाई

जाय। इसलिए उन्होंने प्रान्तीय सरकारों को सलाह दी थी कि वे ऐसे कर्मचारी रखें जो प्रान्तीय भाषा के साथ हिन्दुस्तानी में भी काम कर सकें।

अंग्रेजी हटाने का काम पन्द्रह साल के लिए टाल दिया जाय, इस नीति के वह विरुद्ध थे। जब अंग्रेजी से नुकसान होता है, तब उसे क्यों सालभर भी चलने दिया जाय? उनकी राय थी, 'इस आवश्यक तब्दीली में, जो एक-एक दिन बीतता है, उससे राष्ट्र की सांस्कृतिक हानि होती है।"

जो लोग कहते थे कि तुरन्त परिवर्तन असम्भव है उनके बारे में गांधीजी का मत यह था, 'हमारे सेक्रेटरियटों में भी, कुछ समय बीतने पर तब्दीली होगी दिमागी काहिली के अलावा और कुछ नहीं है।'

गांधीजी की ललकार थी—दिमागी काहिली खत्म करो, प्रान्तों और दिल्ली से अंग्रेजी को निकालो, भारतीय भाषाओं का व्यवहार करो।

प्रान्तीय सरकारें केन्द्र से अंग्रेजी द्वारा सम्पर्क कायम न रखेंगी, इस बारे में उन्होंने लिखा था, "प्रान्तों का केन्द्र से काम पड़ेगा। यह काम वे अंग्रेजी में करने की हिम्मत न करेंगे। केन्द्र में यह जल्द समझने की बुद्धि होनी चाहिए कि वह सांस्कृतिक रूप में राष्ट्र पर मुट्ठी-भर भारतवासियों का बोझ न डालेगा। ये लोग इतने आलसी हैं कि उस भाषा को सीखते नहीं जो आसानी से सारे भारत की आम भाषा बन सकती है और जिससे जनता के किसी हिस्से या पार्टी को नाखुशी न होगी।"

गांधीजी की भाषा-सम्बन्धी नीति का निचोड़ यह था, "अंग्रेजी ने जो सांस्कृतिक डकैती की है, उसे खत्म किया जाय।"

केन्द्र और प्रान्तों में तुरन्त अंग्रेजी हटाने के बारे में गांधीजी की जोरदार आवाज हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की सच्ची और सही आवाज थी। वह मजदूर वर्ग के हित में थी।

लेकिन सांस्कृतिक डकैती जारी तभी रह सकती थी जब एक ओर जनता को तसल्ली दी जाय कि अंग्रेजी हटा दी जाएगी, दूसरी ओर कुछ ऐसे कारण ढूंढ निकाले जाएँ जिनसे अंग्रेजी कायम रहे। भारतीय पूंजीवाद एक ओर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आर्थिक और राजनीतिक दबाव का विरोध करता था, दूसरी ओर अपने विकास के लिए उससे सहायता भी चाहता था। भारत में ब्रिटिश पूंजी की आमद और ज्यादा हुई, मुनाफा गया विलायत को, साथ ही देश में उद्योग धन्धों का निर्माण भी हुआ। पूंजीवाद की इस दुरंगी नीति के अनुरूप उसकी भाषा नीति थी। भारतीय पूंजीवाद की प्रमुख पार्टी—कांग्रेस—ने यह नीति निकाली कि अंग्रेजी हटाने का बराबर दम भरते रहो लेकिन अमल में किसी-न-किसी बहाने अंग्रेजी कायम रखो।

पहला बहाना यह था कि हिन्दी पिछड़ी हुई भाषा है। वह अंग्रेजी की जगह ले, इसके लिए उसे विकसित होने का अवसर देना चाहिए। विकास के लिए पन्द्रह साल का अवसर दिया गया।

यह शुद्ध बहाना था। लोकसभा में सदस्यों को जीव-विज्ञान या भौतिकी पर बहस

न करनी थी। लेकिन हिन्दी को समृद्ध करने के लिए बड़े-बड़े कोश रचे जाने लगे। किसी ने यह न देखा कि इन कोशों में कितने पुराने ऐसे शब्द दोहराए जा रहे हैं जो हिन्दी में सन् '४७ से पहले ही प्रचलित थे। किसी ने लोकसभा में यह माँग न की कि हिन्दी कितनी पिछड़ी हुई है, इसकी जाँच के लिए कम-से-कम एक कमीशन तो बिठा दिया जाय।

अंग्रेज़ी कायम रखने के लिए दूसरा कारण यह खोज निकाला गया कि वह आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की भाषा है। अंग्रेज़ी चली गई तो देश आर्थिक और वैज्ञानिक प्रगति में पिछड़ जाएगा।

अंग्रेज़ी कायम रखने के पीछे एक जानी-बूझी वर्ग-नीति थी। इसे जनता के गले उतारने का काम किया भारत के लोकप्रिय नेता स्वर्गीय पं० जवाहरलाल नेहरू ने। अंग्रेज़ी को निकालने और साथ ही कायम रखने की नीति उन्होंने सितम्बर, १९४९ में संविधान सभा में इस तरह पेश की :

"अंग्रेजी चाहे जितनी महत्त्वपूर्ण भाषा हो, हम यह बर्दाश्त नहीं कर सकते कि हमारे देश में कुछ तो अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे शरीफ लोग हों और आम जनता अंग्रेजी से महरूम रहे। इसलिए हमारी अपनी भाषा होनी चाहिए। लेकिन आप इस बात को प्रस्ताव में चाहे लिखें, चाहे न लिखें, अंग्रेज़ी लाजमी तौर से भारत में बहुत महत्त्वपूर्ण भाषा बनकर रहेगी जिसे बहुत से लोग सीखेंगे और शायद उन्हें उसे जबरन सीखना होगा।"

पाठक १५ सितम्बर, १९४९ के अखबारों में नेहरूजी का यह भाषण पढ़ सकते हैं।

नेहरूजी ने अपने भाषण में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के भाषा-सम्बन्धी विचारों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। फिर अंग्रेज़ी हटाने की गांधी-नीति से ठीक उल्टी दिशा में चल दिए।

नेहरूजी भारी जनतन्त्रवादी थे। केरल की जनतांत्रिक साम्यवादी सरकार के खिलाफ जेहाद की शुरुआत भी उन्होंने ही की थी।

नेहरूवाद और मार्क्सवाद पर्यायवाची शब्द नहीं हैं।

भारतीय पूंजीवाद की पार्टी—कांग्रेस—न तो राज्यों से, और न केन्द्र से अंग्रेज़ी हटाने में समर्थ हुई। उल्टा उसकी नीति से अंग्रेज़ी और अंग्रेजियत की जड़ें पहले से भी ज़्यादा मजबूत हो गईं।

भारत में भाषावार राज्य बनाने का आन्दोलन चला, हर प्रदेश में उसकी शिक्षा और संस्कृति का विकास उसकी भाषा के माध्यम से हो, यह माँग सही थी। लेकिन आन्दोलन में जितना ज़ोर राज्यों की सीमाओं और क्षेत्रफल पर दिया गया, उतना प्रादेशिक भाषाओं पर नहीं। यह भी पूंजीवादी नीति का ही फल था। नतीजा यह हुआ कि भाषावार राज्य बन गए और इन राज्यों में अंग्रेज़ी कायम रही।

भाषावार राज्यों का आन्दोलन इस तरह चला कि लोगों के सामने प्रादेशिकता मुख्य और राष्ट्रीय एकता गौण हो गई। इस अलगाव की भावना से लाभ हुआ अंग्रेज़ी को।

गुजराती और मराठी भाषी आपस मे लड़े, अंग्रेजी के समर्थन मे दोनो के नेता—विशेष रूप से वामपक्षी नेता—एक साथ रहे। असम में भाषा के सवाल को लेकर भयानक दंगे हुए। लड़ाई हुई असमिया-बंगला में। दोनो के ऊपर कायम रही अंग्रेजी।

अंग्रेजी कायम रखने के लिए एक नया बहाना और मिला हिन्दीवाले अहिन्दी-वालो को दबाना चाहते हैं। द्रविड़ कषगम ने नारा दिया कि तमिलनाड भारत से अलग हो। उसने प्रचार किया कि २६ जनवरी, १९६५ से हिन्दी राष्ट्रभाषा हो जाएगी और तमिल का नाश कर देगी। तमिलनाड के प्रतिक्रियावादी नेताओ ने जनता के सहज तमिल-प्रेम से लाभ उठाकर आफत बरपा कर दी। जनतन्त्र और राष्ट्रीय एकता की रक्षा के लिए अंग्रेजी को कायम रखना आवश्यक हो गया।

सन ६५ मे अंग्रेजी हट न जाय, इसलिए दिल्ली सरकार ने यह क़ानून बना दिया था कि अंग्रेजी का भी चलन रहेगा। व्यवहार मे देखा यह गया कि अंग्रेजी का ही चलन रहेगा। इस तरह भारत की संविधान सभा के फैसले को बड़े वैधानिक ढंग से भारत के जनतन्त्र-प्रेमियो ने पैरो तले रौंदा।

पूँजीपतियो से अलग, अपने आर्थिक और राजनीतिक हितो के अनुकूल, भाषा समस्या पर मजदूर वर्ग का अपना दृष्टिकोण होना चाहिए। मजदूर वर्ग समाज का सबसे क्रान्तिकारी वर्ग है। उसे साम्राज्यवादी विरासत और हमारी गुलामी की प्रतीक अंग्रेजी के खिलाफ सबसे आगे बढ़कर लड़ना चाहिए। अंग्रेजी को हटाने के मामले मे वह पूँजी-पतियो की टालमटोल नीति का अनुसरण नही कर सकता। वह इस दुरंगी नीति पर नहीं चल सकता कि मुँह से कहे, 'अंग्रेजी हटाओ', अमल मे उसे कायम रखे। वह इस दलील को नही मान सकता कि भारत की भाषाएँ पिछड़ी हुई हैं, इसलिए अंग्रेजी कायम रखनी चाहिए। उसके सामने लेनिन की मिसाल है जिन्होंने रूसी साम्राज्यवाद का दबाव खत्म करने के लिए खुद अपनी मातृभाषा रूसी को राजभाषा पद से हटा दिया था। फिर विदेशी भाषा अंग्रेजी को हटाने मे किसी को संकोच क्या हो?

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी ने किसी जाति की भाषा को पिछड़ा हुआ न माना। उसने सोवियत प्रजातन्त्रो मे ग़ैर-रूसी भाषाओ को राजभाषा बनाया। हिन्दी पिछड़ी हुई है उसे अभी विकसित होना है या जनता के निकट पहुँचना है, यह मार्क्स-वादियो का तर्क नहीं हो सकता।

मजदूर वर्ग अखिल भारतीय स्तर पर अपनी एकता अंग्रेजी के माध्यम मे कायम नहीं कर सकता। यह एकता किसी भारतीय भाषा के द्वारा ही कायम हो सकती है। यह भारतीय भाषा मजदूर वर्ग के नेताओ के अनुसार हिन्दी है। मजदूर वर्ग की एकता खुद उसके लिए ही नहीं, सारे राष्ट्र के लिए जरूरी है। बंगाल-असम में झगड़े कराते हैं पूँजीपति। उनमे एकता स्थापित करता है मजदूर वर्ग। हिन्दी-अहिन्दी के संघर्ष को रोकने की ताक़त मजदूर वर्ग मे ही है।

मजदूर वर्ग के साथी हैं किसान। किसान-मजदूर-एकता ही वह क्रान्तिकारी शक्ति

है जो देश को सामाजिक प्रगति की राह पर आगे बढ़ा सकती है। किसान अपना अखिल भारतीय संगठन अंग्रेज़ी के द्वारा मजबूत नहीं कर सकते। कम्युनिस्ट पार्टी खुद अपने अन्दर बहुत-से किसान-मजदूरों को जगह नहीं दे सकती, क्योंकि अंग्रेज़ी का प्रभुत्व रहने पर वे न तो पार्टी की ऊँची समितियों के सदस्य हो सकेंगे, न उनकी बहस में ठीक से भाग ले सकेंगे।

इसीलिए मज़दूर वर्ग के हित में एक ही भाषा-नीति हो सकती है—राज्यों से और केन्द्र से, दोनों जगह से एक साथ अंग्रेज़ी हटाओ।

इस नीति पर मजदूर वर्ग सारे देश को तभी चला सकता है, जब उसकी अपनी पार्टी—कम्युनिस्ट पार्टी—के दफ्तरों से अंग्रेजी निकले। अंग्रेज़ी का जुआ खुद अपने कन्धों पर लादकर कम्युनिस्ट पार्टी देश को अंग्रेज़ी की गुलामी से आज़ाद नहीं करा सकती।

अब देखना चाहिए कि मज़दूर वर्ग की पार्टी और उसके द्वारा संचालित जन-संगठनों में अंग्रेजी की हैसियत क्या है।

स्वर्गीय कामरेड अजय घोष ने सरकारी भाषा-आयोग की रिपोर्ट पर एक नोट लिखा था। उसमें उन्होंने अंग्रेज़ी की हैसियत के बारे में ये बातें लिखी थीं—

"आज अधिकांश अखिल भारतीय संगठनों का काम अंग्रेज़ी में होता है। इनमें किसानों और मज़दूरों के संगठन भी शामिल हैं। इसका लाजमी नतीजा यह होता है कि मध्यवर्ग और उच्च मध्यवर्ग के सुशिक्षित लोग ही अखिल भारतीय स्तर पर इन संगठनों के बहस-मुबाहसे में भाग ले सकते हैं। अमल में यही लोग इन संगठनों की अखिल भारतीय कार्य-समितियों के सदस्य बन सकते हैं। जिस किसी को भी जन-आन्दोलन का ज़रा भी तजुर्बा होगा, वह जानता होगा, इससे कितनी कठिनाई पैदा होती है।"

इससे स्पष्ट है कि अंग्रेज़ी के रहते न तो मज़दूर संगठन शक्तिशाली हो सकते हैं, न किसान-मज़दूर-एकता दृढ़ की जा सकती है।

सांस्कृतिक क्षेत्र में पार्टी के कर्तव्य बतलाते हुए अजय घोष ने लिखा था, "देश के सभी भागों में जनता को किसी एक भारतीय भाषा का अल्पतम आवश्यक ज्ञान कराना होगा जिससे वह भाषा जल्दी-से-जल्दी केन्द्र (यूनियन) की भाषा बन सके और विभिन्न प्रदेशों की जनता के बीच भी परस्पर आदान-प्रदान का साधन बने। भारत की भाषाओं में जो भाषा सबसे अधिक बोली और समझी जाती है, वह हिन्दी है और इसी के द्वारा यह काम हो सकता है।"

मजदूर वर्ग और उसकी पार्टी का हित इस बात में है कि केन्द्र और प्रदेशों से अंग्रेजी को निकाला जाय। जल्दी-से जल्दी हिन्दी को भारत सरकार की भाषा तथा पार्टी द्वारा संचालित अखिल भारतीय जन-संगठनों की भाषा बनाया जाय।

दो वर्ग, दो उद्देश्य, दो भाषा-नीतियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। उनका भेद आसानी से देखा जा सकता है।

इस समय कम्युनिस्ट पार्टी की नीति क्या है ? राज्यों में अंग्रेजी हटाओ, केन्द्र में आगे चलकर हिन्दी होगी लेकिन फिलहाल यहाँ अंग्रेजी चलने दो।

लालबहादुर शास्त्रीजी और गुलजारीलाल नन्दाजी क्या कहते हैं ? वे भी यही कहते हैं। हिन्दी धीरे धीरे आएगी। आएगी जरूर लेकिन अभी तो अंग्रेजी चलने दो। राज्यों में प्रादेशिक भाषाओं के व्यवहार के लिए उन्होंने संविधान बनने के समय से ही पूरी छूट दे रखी है। अब राज्य उस सुविधा का उपयोग न करें तो इसमें शास्त्रीजी और नन्दाजी का क्या दोष ?

इस समय भाषा के सवाल पर कम्युनिस्ट पार्टी की अपनी कोई स्वतन्त्र भाषा-नीति नहीं है। वह पूँजीवादी पार्टी—कांग्रेस—का पिछलगुआ बनकर चल रही है। योगीन्द्र शर्माजी जैसे कम्युनिस्ट नेता इस पिछलगुएपन की नीति को पार्टी की स्वतन्त्र नीति कह-कर इससे उस पर गर्व करने को कहते हैं। मुझे तो अंग्रेजी कायम रखने की इस मजदूर विरोधी, राष्ट्र-विरोधी नीति पर शर्म आती है, उसमें गर्व करने की कोई बात नहीं दिखाई देती।

इसके विपरीत अपने एक लेख में मैंने यह नीति रखी है कि पार्टी को केन्द्र और राज्य दोनों में अंग्रेजी हटाने का आन्दोलन करना चाहिए।

योगीन्द्र शर्माजी का कहना है कि यह जोर-जबरदस्ती वाला हिन्दू राष्ट्रवादी नारा है। वह कहते हैं कि भाषा की समस्या का जनतान्त्रिक समाधान होना चाहिए।

जनतान्त्रिक समाधान वही है जिसे सन् '४९ से भारत सरकार अमल में लाती रही है। यानी भविष्य में हिन्दी, वर्तमान में अंग्रेजी। योगीन्द्रजी भी कहते हैं, भविष्य में हिन्दी ही केन्द्रीय राजभाषा होगी लेकिन अभी अंग्रेजी चलने दो। वह पं० जवाहरलाल नेहरू की तरह अंग्रेजी की निन्दा भी करते हैं। कहते हैं—अंग्रेजी के जरिये जो राष्ट्रीय एकता कायम की जाती है, वह अंग्रेजों के समय की औपनिवेशिक एकता से बढ़कर नहीं है। लेकिन उनका असली नारा है—अंग्रेजी के जरिये अभी यह एकता कायम रहने दो।

जैसे सन् '४७ से पहले सर तेजबहादुर सप्रू कहते थे कि अंग्रेजी राज तो खत्म होना चाहिए लेकिन राजे महराजे नहीं मानते, अछूत और मुसलमान नहीं मानते, ऐंग्लो इंडियन नहीं मानते, इसलिए फिलहाल तो अंग्रेजी राज रहेगा ही—वैसे ही सन् '६५ में यह 'फिलहाल' अंग्रेजी चलाने की नीति है।

यदि यह मान लें कि अहिन्दी-भाषी जनता अंग्रेजी को नहीं छोड़ना चाहती, तो भी अंग्रेजी का कायम रहना जनतान्त्रिक नहीं कहा जा सकता। यदि अंग्रेजी को हटाना अहिन्दी भाषियों के साथ अन्याय है, तो उसे कायम रखना हिन्दी-भाषियों के साथ अन्याय है। जनतन्त्र का मतलब यह नहीं है कि अहिन्दी-भाषियों की राय ली जाय और हिन्दी-भाषियों को पूछा ही न जाय।

अहिन्दी भाषियों की राय भी किस जनतान्त्रिक उपाय से मालूम की गई ? क्या बसें तोड़ना और स्टेशन जलाना लोकमत संग्रह का बहुत कारगर तरीका है ?

द्रविड़ कषगम और स्वतन्त्र पार्टी के लोगों ने धुआँधार प्रचार किया कि देश के लिए सबसे बड़ा खतरा हिन्दी से है। हिन्दी-साम्राज्यवाद का हौवा खड़ा करके कौशल से उन्होंने अंग्रेजी के साम्राज्यवाद की रक्षा की। लेकिन भारतीय भाषाओं को दबानेवाली भाषा हिन्दी नहीं अंग्रेजी है।

इस सम्बन्ध में अजय घोष ने अपने उसी नोट में लिखा था, "आज जब लोग कहते हैं कि इस या उस भाषा से खतरा पैदा हो गया है, तब वे भूल जाते है कि देश में जिस भाषा का सचमुच प्रभुत्व रहा है, वह अंग्रेजी है। यह प्रभुत्व न केवल राजनीतिक क्षेत्र में रहा है, वरन् सांस्कृतिक क्षेत्र में भी रहा है। वे भूल जाते हैं कि सांस्कृतिक क्षेत्र में यह प्रभुत्व अब भी बना हुआ है। वे भूल जाते हैं कि भारत के सांस्कृतिक विकास में, हर भारतीय भाषा के विकास में यह प्रभुत्व ही सबसे बड़ी बाधा है और इसलिए उसे दूर करना ही सबसे बड़ा कर्तव्य है।"

इससे ठीक उल्टी राय योगीन्द्र शर्माजी की है। उनकी दलील है कि अंग्रेजी की जगह हिन्दी आई तो भारतीय भाषाओं का दमन होगा। उन्होने जोशीले ढग से अपने लेख में पूछा है—

"क्या कोई भी सच्चा देशभक्त, सच्चा जनतन्त्र-प्रेमी इसको स्वीकार कर सकता है जिस तरह अभी तक—अंग्रेजी भारत की तमाम भाषाओ का दमन और दहन करती रही, उसी तरह उस काम को अब हिन्दी करे ?"

उन्होंने यह नही बताया कि सविधान की किस धारा के अनुसार हिन्दी तमिलनाड से तमिल को बाहर कर देगी।

उनकी राय है कि अंग्रेजी की तरह हिन्दी भी तमाम भाषाओं का दमन न करे, इसलिए अंग्रेजी को ही यह दमन करने दिया जाय !

हिन्दी से भारतीय भाषाओं को खतरा है, यह साबित करने के लिए उन्होंने 'कम्युनिस्ट' में प्रकाशित सन् '४६ वाले मेरे पुराने लेख को ढूंढ निकाला है। इस लेख को उन्होंने अतिवादी और अराजकतावादी कहा है और उसी से उन्होंने हिन्दी का खतरा भी साबित कर दिया है !

सन् '४८ में कम्युनिस्ट पार्टी की दूसरी कांग्रेस ने अपने राजनीतिक प्रस्ताव में भारत के बड़े पूंजीपतियो को उत्पीड़क वर्ग कहा था। उस स्थापना से यही नतीजा निकलता था कि बड़े पूंजीपतियों की सरकार केन्द्रीय राजभाषा के जरिये प्रदेशों को दबाना चाहती है। कम्युनिस्ट पार्टी ने यह मान्यता बदल दी है। क्या योगीन्द्र शर्माजी अभी भी समझते हैं कि सरकार बड़े पूंजीपतियों की सरकार है और ये बड़े पूंजीपति साम्राज्यवादी हैं ? यदि नही तो बतलाए कि हिन्दी के खतरे का ठोस सामाजिक आधार क्या है।

अंग्रेजी हटाने का विरोध साम्राज्यवाद के खुले और छिपे समर्थक स्वतन्त्र पार्टी और द्रविड़ कषगम के नेता करते हैं। हिन्दी द्वारा अहिन्दी भाषाओं के दमन का हौवा वे खड़ा करते हैं। योगीन्द्र शर्माजी भी उनके प्रचार में शामिल हो गए है।

अंग्रेज़ी कायम रखने के लिए एक विचित्र ढंग से विशाल राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चा बन गया है। इस मोर्चे में स्वतन्त्र दल के नेता हैं, द्रविड़ कषगम वाले हैं। कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी के अनेक नेता भी इसमें हैं। लेकिन यह मोर्चा बना है बालू की भीत पर। इसके पीछे भारत के किसानों और मज़दूरों की ताक़त नहीं है। यह ज़्यादातर बाबू लोगों का संयुक्त मोर्चा है। इनमें कुछ तो अंग्रेज़ी पढ़े हैं और बाकी बिना पढ़े ही उसका समर्थन करते हैं। ख़ास बात यह है कि कम्युनिस्ट पार्टी की दोनों शाखाएं इस संयुक्त मोर्चे में शामिल हैं।

अहिन्दी भाषी क्षेत्र के बाबुओं को डर है कि अंग्रेज़ी चली गई तो अखिल भारतीय नौकरियां हिन्दीवाले हथिया लेंगे। अखिल भारतीय नौकरियों की समस्या पूरे मध्यवर्ग की समस्या नहीं है। कुछ थोड़े-से तेज़ लोग—जो हर मानी में तेज़ होते हैं—ये नौकरियां पाते हैं। बाकी उम्मीदवार नाउम्मीद होकर कहीं मास्टरी या क्लर्की करते हैं या बेकारी में चप्पलें चटकाते हुए घूमते हैं। कम्युनिस्ट पार्टी अपनी भाषा नीति इन मुट्ठी भर पढ़े-लिखे बाबुओं की राय से निर्धारित नहीं करती। उसके सामने होना चाहिए किसानों और मज़दूरों का हित।

वास्तव में मध्यवर्ग का हित भी अंग्रेज़ी कायम रखने में नहीं है। निन्यानबे फ़ी सदी अंग्रेज़ी-पढ़े बाबुओं को छोटी-मोटी नौकरियों में ही सन्तोष करना पड़ता है। लाखों की तादाद में वे हर साल अंग्रेज़ी के कारण फ़ेल होते हैं। अंग्रेज़ी के कारण शिक्षा उनके लिए हर तरह से महंगी पड़ती है। अखिल भारतीय नौकरियों के लिए अंग्रेज़ी आवश्यक है, इसलिए राज्यों में भी अंग्रेज़ी चलती है। फल भुगतना पड़ता है तमाम निम्न मध्यवर्ग की ग़रीब जनता को।

जब तक केन्द्र में अंग्रेज़ी चलती है, तब तक राज्यों में अंग्रेज़ी की जड़ नहीं कट सकती। राज्यों में अंग्रेज़ी की पत्तियां नोचने से उसकी केन्द्रीय जड़ पर कोई असर न पड़ेगा। पिछले सोलह साल का अनुभव यही सिद्ध करता है। केन्द्र के कारण ही राज्यों में अंग्रेज़ी का प्रभुत्व है। इससे तमिलनाड में अभी तक तमिल उच्च शिक्षा का माध्यम नहीं बन पाई।

जो लोग अखिल भारतीय नौकरियों के उम्मीदवार हैं, उनका भय आसानी से दूर किया जा सकता है। यह नियम बनाना चाहिए कि अखिल भारतीय नौकरियों के लिए अहिन्दी भाषा सीखना अनिवार्य होगा। अहिन्दी भाषा का समुचित ज्ञान अनिवार्य कर देने से हिन्दीवालों को कोई विशेष सुविधा न मिलेगी। पार्टी इस नियम के लिए और अंग्रेज़ी हटाने के लिए एक साथ आन्दोलन कर सकती है। लेकिन नौकरियों की समस्या हल न कर पाने के कारण केन्द्र में अंग्रेज़ी कायम रखने की बात करना मार्क्सवाद को ठुकराकर मध्यवर्ग के बाबुओं का दृष्टिकोण अपनाना है।

अंग्रेज़ी कायम रखने में भारत के किसी वर्ग का हित नहीं है—न मज़दूर वर्ग का, न किसानों का, न शहरों के मध्यवर्ग का। अंग्रेज़ी से न अहिन्दी प्रदेश का हित होता है, न

हिन्दी प्रदेश का। उससे केवल साम्राज्यवादियों का हित होता है। ब्रिटिश और अमरीकी पँजीपति हमारे अर्थतन्त्र पर हर तरह से प्रभाव डालते है। उनके आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभाव को दृढ़ करने का साधन है—अंग्रेज़ी का प्रभुत्व। वे करोड़ों रुपये तरह-तरह से यहाँ अंग्रेज़ी के प्रचार और प्रसार पर खर्च करते हैं। अंग्रेज़ी को कायम रखना 'जनतन्त्र' के नाम पर साम्राज्यवाद की सेवा करना है।

अंग्रेज़ी हटाने का सवाल राष्ट्रीय एकता के प्रश्न के साथ जुड़ा हुआ है। भारत बहुजातीय राष्ट्र है। भारतीय भाषाएँ बोलनेवाली विभिन्न जातियाँ ब्रिटेन और फ्रांस की तरह एक-दूसरे से अलग स्वतन्त्र जातियाँ नही है। ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक सूत्रों से बँधी हुई वे एक ही राष्ट्र का अविभाज्य अंग हैं। जिस तरह हर प्रदेश में उसकी अपनी भाषा को सभी अधिकार मिलने चाहिएँ वैसे ही इन सबको जोड़नेवाली राष्ट्रभाषा हिन्दी को भी केन्द्र में पूर्ण अधिकार मिलने चाहिएँ।

जो लोग अंग्रेजी हटाने का विरोध करते है, वे राष्ट्रीय एकता का विरोध करते हैं। विभिन्न प्रदेशों की जनता एक-दूसरे के नज़दीक हिन्दी के जरिये ही आ सकती है। अंग्रेज़ी के जरिये पढ़ा-लिखा बाबूवर्ग दिन-पर-दिन साधारण जनता से दूर होता जा रहा है।

पिछले पन्द्रह साल में अंग्रेजियत बढ़ी है और उसके साथ भारतीय भाषाओं की उपेक्षा आम तौर से, और हिन्दी की उपेक्षा खास तौर से, बढ़ी है। यह उपेक्षा हिन्दी और अहिन्दी दोनो क्षेत्रों में है। डैडी, ममी और अंकलजी का चलन हिन्दी बाबुओं के घर में पिछले वर्षों ज़्यादा हुआ है। अमरीकी-साहित्य के नक्कालों की हिन्दी में अंग्रेज़ी के अपच शब्दों की बाढ़ आ गई है।

हिन्दी की उपेक्षा कांग्रेस में ही नही है, कम्युनिस्ट पार्टी में भी है—हमें इस कटु सत्य का सामना करना चाहिए। आज से इकत्तीस साल पहले प्रेमचन्द ने हमारे नेताओं के अंग्रेज़ी-प्रेम को अच्छी तरह परखा था और उसकी तीखी आलोचना की थी। बम्बई के राष्ट्रभाषा-सम्मेलन में उन्होंने कहा था—

"हमारी कौमी सभाओं में सारी कार्रवाई अंग्रेजी में होती है, अंग्रेज़ी में भाषण दिये जाते हैं, लेख लिखे जाते हैं, प्रस्ताव पेश किये जाते हैं, सारी लिखा-पढ़ी अंग्रेजी में होती है, उस संस्था में भी, जो अपने को जनता की संस्था कहती है। यहाँ तक कि सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट भी, जो जनता के खासुलखास झंडे-बरदार हैं, सभी कार्रवाई अंग्रेजी में करते है।"

प्रेमचन्द की आलोचना का कोई असर कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं पर नहीं हुआ। वे जहाँ सन् '३४ में थे, वही सन् '६५ में हैं। इस स्थिति पर कौन गर्व कर सकता है?

प्रेमचन्द ने बहुत सही सवाल उठाया था कि पार्टियाँ अपनी कार्रवाई किस भाषा में करती हैं। यही सवाल अपने एक लेख में मैंने भी उठाया था।

मेरा अनुभव है कि राज्यों में कम्युनिस्ट पार्टी के बड़े नेता अपने मसौदे अंग्रेज़ी में तैयार करते हैं। अक्सर राज्यों के पत्रों में उनके अंग्रेज़ी लेखों के अनुवाद छपते हैं। योगीन्द्र

सभाओं का कहना है कि राज्यों में पार्टी का सारा काम प्रादेशिक भाषाओं में होता है। उनका स्वागत करता हूँ। पार्टी के नेताओं को बधाई देता हूँ कि कम-से-कम राज्यों में उन्होंने पहल की और दूसरी पार्टियों के सामने एक आदर्श रखा।

लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी अपने केन्द्रीय दफ्तर से अंग्रेज़ी क्यों नहीं निकाल पाती? इसका मूल कारण है स्वयं पार्टी के नेताओं में हिन्दी के प्रति उपेक्षा का भाव।

यदि अखिल भारतीय स्तर पर मज़दूर वर्ग की एकता हिन्दी के ज़रिये ही कायम हो सकती है, तो हिन्दी की यह उपेक्षा मज़दूर वर्ग की ही उपेक्षा है।

कामरेड गोपालन लोकसभा से बाहर चले गए क्योंकि कोई मन्त्री हिन्दी में बोला था। उनका मज़दूर-प्रेम हिन्दी से चिढ़ता है, अंग्रेज़ी को सिर चढ़ाता है। बंगाल में कम्युनिस्ट पार्टी की दोनों शाखाओं ने विधान सभा में कांग्रेस के साथ मिलकर हिन्दी के विरुद्ध प्रस्ताव पास किया, केन्द्र में अंग्रेज़ी उन्हें सप्रेम स्वीकार है!

पार्टी के नेता जो सिर्फ राज्यों में अंग्रेज़ी हटाने की बात करते हैं, इसका कारण हिन्दी के प्रति यही उपेक्षा-भाव है। मराठी, बंगला, तमिल के चलन की बात तो वे कर सकते हैं, हिन्दी के चलन की बात कैसे करें?

कहा जा सकता है कि हिन्दीभाषी क्षेत्र में कम्युनिस्ट आन्दोलन कमज़ोर है, इसलिए पार्टी-केन्द्र में हिन्दी का चलन नहीं है।

लेकिन भारत का वह अंग्रेज़ी भाषी क्षेत्र कौन-सा है जहाँ कम्युनिस्ट आन्दोलन मज़बूत होने से पार्टी-केन्द्र में अंग्रेज़ी चलती है? वह अंग्रेज़ी-भाषी क्षेत्र ऊपर के कुछ नेताओं तक सीमित है। भारत की धरती से उखड़ा हुआ यह क्षेत्र त्रिशंकु की तरह आसमान में लटका हुआ है। इस हवाई क्षेत्र की भाषा—अंग्रेज़ी—पार्टी-केन्द्र में चल सकती है। भारत की एक-तिहाई जनता की भाषा हिन्दी नहीं चल सकती!

कम्युनिस्ट पार्टी के वोटरों में जो पिचहत्तर फी सदी अहिन्दी-भाषी हैं, उनमें अंग्रेज़ी जाननेवाले एक फी सदी भी नहीं हैं। फिर भी पार्टी-केन्द्र में चलेगी अंग्रेज़ी!

हमारे आन्दोलन के विकास और फैलाव की वह कौन-सी विशेषता है जिससे अंग्रेज़ी-भाषी न होते हुए भी हमारे नेता बंदरिया के मुर्दे बच्चे की तरह अंग्रेज़ी को छाती से चिपकाये हुए हैं? वह विशेष अवस्था है, हिन्दी की उपेक्षा।

इस स्थिति से लाभ उठाते हैं जनसंघ के नेता। वे जनता की सही माँगों का समर्थन करके अपनी जन विरोधी नीति के लिए लोकप्रियता हासिल करते हैं। उनका उद्देश्य होता है, पूँजीवाद को मज़बूत करना, तटस्थता की नीति खत्म करके भारत को साम्राज्यवादी खेमे में ढकेल देना।

केन्द्र में अंग्रेज़ी कायम रखना समस्त भारतीय जनता के साथ अन्याय है, हिन्दी-भाषी जनता के साथ विशेष अन्याय है। अंग्रेज़ी चालू रखने की नीति का समर्थन करके कम्युनिस्ट पार्टी हिन्दी भाषी जनता में अपना अलगाव बढ़ाएगी, कम्युनिस्ट आन्दोलन को आवश्यकतानुसार शक्तिशाली नहीं बना सकता।

पिछले वर्षों का अनुभव बतलाता है कि जनता के असन्तोष से लाभ उठाकर प्रतिक्रियावादी दलों ने अपनी ताक़त जितनी बढ़ाई है, उतनी कम्युनिस्ट पार्टी ने नहीं। तब कम्युनिस्ट पार्टी संयुक्त थी; अब विभक्त है। सोच लीजिए, क्या नतीजा होगा।

अंग्रेज़ी के विरुद्ध हिन्दी जनता के असन्तोष को दक्षिण और बंगाल की ओर मोड़ना बहुत आसान है। जैसे कुछ लोग तमिल-प्रेम को हिन्दी-विरोध का रूप देते हैं, वैसे ही हिन्दी-प्रेम को तमिल-विरोध का रूप देना मुश्किल नहीं है। गृहयुद्ध की इस परिस्थिति में अंग्रेज़ी के बल पर राष्ट्रीय एकता की रक्षा नहीं की जा सकती।

समस्या का एक ही हल है: केन्द्र में हिन्दी हो, राज्यों में प्रादेशिक भाषाएँ।

इस पर भी यदि कोई कहे कि अंग्रेज़ी हटाने से अहिन्दी भाषाओं का दमन होता है तो निवेदन है, लोकसभा में सभी भाषाएँ चलाइए। हमें इस बात का मोह नहीं है कि भारत सरकार का काम हिन्दी में हो। घृणा इस बात से है कि उसका काम अंग्रेज़ी में होता है। केन्द्र में चाहे एक भारतीय भाषा चलाइए, चाहे दस; विदेशी भाषा अंग्रेज़ी को निकालिए।

मैंने योगीन्द्र शर्माजी से पूछा था, "पार्टी-दफ्तर में सभी भारतीय भाषाओं का चलन करने में क्या व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं?"

उन्होंने उत्तर दिया है, "पार्टी के केन्द्रीय-दफ्तर में अंग्रेज़ी की जगह सभी भारतीय भाषाओं को बराबर जगह देने में व्यावहारिक कठिनाइयाँ अवश्य हैं। व्यावहारिक कठिनाइयों में मुख्य कठिनाई है बहुभाषी स्टाफ कायम करने की—तमाम भारतीय भाषाओं से अनुवाद करने की व्यवस्था की।"

पार्टी-केन्द्र में हिन्दी इसलिए नहीं चलती कि हिन्दी प्रदेश में कम्युनिस्ट आन्दोलन कमज़ोर है! अनेक भारतीय भाषाएँ इसलिए नहीं चल सकतीं कि उपयुक्त स्टाफ नहीं है! इसलिए अंग्रेज़ी की गुलामी से पार्टी-केन्द्र मुक्त नहीं हो सकता!

योगीन्द्रजी ने मुझे आश्वासन दिया है कि लोगों को तमाम भाषाओं में बोलने की आज़ादी है। केन्द्रीय दफ्तर में तमाम भाषाओं में चिट्ठियाँ, रिपोर्टें आदि आती हैं। भविष्य में पार्टी-केन्द्र की भाषा हिन्दी ही होगी लेकिन जहाँ तक वर्तमान का सम्बन्ध है, उन्हीं के शब्दों में—"तमाम भारतीय भाषाओं की इस आज़ादी और बराबरी के बावजूद 'फिलहाल' अंग्रेज़ी प्रधान और सम्पर्क-भाषा है।

असली समस्या इसी 'फिलहाल' की है।

पार्टी के जो नेता अपने केन्द्र से अंग्रेज़ी निकालने में असमर्थ हैं, वे भारत में अंग्रेज़ी का प्रभुत्व कभी खत्म नहीं कर सकते।

हिन्दी-भाषी जनता से भड़कानेवाले कहते हैं, यह उत्तर और दक्षिण की लड़ाई है। दक्षिणवाले हिन्दी नहीं चाहते तो उन्हें उत्तर भारत से निकाल दो।

इस गृहयुद्ध की नीति के खिलाफ 'धर्मयुग' के अपने लेखों में मैंने हिन्दी-भाषी जनता के सामने यह कार्यक्रम रखा है: लड़ाई तमिल-हिन्दी की नहीं है, लड़ाई तमाम

भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी की है। इस संघर्ष में हम हिन्दी भाषियों को पहल करनी चाहिए। हमें अपने हिन्दी-भाषी राज्यों में हर जगह हर स्तर पर हिन्दी को अमल में राजभाषा बनाना चाहिए। हमें अपने नेताओं को बाध्य करना चाहिए कि वे लोकसभा में हिन्दी में बोलें। भारत की एक तिहाई जनता के प्रतिनिधि केन्द्र और राज्यों में अपना सारा काम हिन्दी में करेंगे तो हिन्दी बहुत जल्दी राष्ट्रभाषा बन जाएगी।

इस कार्यक्रम के विपरीत हिन्दीभाषी जनता से कहना कि केन्द्र में अंग्रेजी कायम रहने दो, उसे तमिल-विरोध की ओर बढ़ने की राह देना है। कांग्रेस सरकार की भाषा-नीति से क्षुब्ध हिन्दी-भाषी जनता के सामने जब अंग्रेजी से लड़ने की नीति न रहेगी, तब वह अहिन्दी भाषियों के खिलाफ जरूर भड़काई जाएगी।

मैं हिन्दी-क्षेत्र के नेताओं से भी लोकसभा में हिन्दी बोलने को कहता हूँ तो यादवेन्द्र शर्माजी को लगता है कि मैं अहिन्दी-भाषियों पर हिन्दी लादने की बात कर रहा हूँ! अंग्रेजी को हटाने की ललकार उन्हें गृहयुद्ध की ललकार मालूम होती है!

लोकसभा में अहिन्दी भाषी नेता शौक से अपनी-अपनी भाषाएँ बोलें। हिन्दी भाषी नेता हिन्दी में बोलें। कम्युनिस्ट सदस्य लोकसभा में अपने व्यवहार से इस नीति की मिसाल कायम करें।

लेकिन हमारे पार्टी-नेता अंग्रेजी में बोलना पसन्द करते हैं। लोकसभा में सभी भारतीय भाषाओं में बोलने की सुविधा के लिए नहीं लड़ते। लड़ें कैसे जब उनके अपने केन्द्र में अंग्रेजी चलती है!

साम्राज्यवादी प्रचारक कहते थे कि भारतीय भाषाएँ पिछड़ी हुई हैं इसलिए अंग्रेजी चलेगी। इस प्रचार का नया रूप यह है: हिन्दी जनता से दूर चली गई है, पडिताऊ हो गई है, रघुवीरी है, इसलिए अंग्रेजी चलेगी।

यदि मान भी लें कि डॉ० रघुवीर इतने बड़े सूरमा थे कि भारतेन्दु से लेकर अमृत-लाल नागर तक चली आती हिन्दी की प्रशस्त धारा को मोड़कर उन्होंने उसे पडिताऊ बना दिया तो क्या इससे अंग्रेजी का कायम रहना उचित हो जाएगा?

मजे की बात यह है कि राज्यों में हिन्दी चल सकती है! कठिनाई होती है, उसके दिल्लीवाले दफ्तरों में घुसने पर!

साम्राज्यवादी प्रचारक हिन्दी उर्दू को लड़ाकर अंग्रेजी का पाया मजबूत करते थे। उस नीति का नया रूप यह है: हिन्दी ने अपनी बहन और सहेली उर्दू का दमन किया है, उसे अपने ही घर से निकाल दिया है। इसलिए केन्द्र में अंग्रेजी चलनी चाहिए!

'जनशक्ति' और 'जनयुग' के उर्दू-संस्करण निकालिए। इच्छा हो तो दोनों में एक ही भाषा 'हिन्दुस्तानी' चलाइए। पटना और लखनऊ के पार्टी-दफ्तरों में हिन्दी-उर्दू दोनों को बराबर जगह दीजिए। लेकिन उर्दू-दमन के नाम पर अंग्रेजी चलाने की कोशिश मत कीजिए।

केन्द्र और राज्यों से एक साथ अंग्रेजी हटाने की माँग करना उग्र हिन्दी राष्ट्रवाद के उन्माद में आत्मविभोर होना नहीं है। उग्र हिन्दी राष्ट्रवाद का नारा है : एक भाषा, एक राष्ट्र। मेरी नीति इससे बिलकुल उल्टी है। उस नीति का मूल सूत्र यह है : भारत बहुजातीय राष्ट्र है। बहुजातीय है, इसलिए राज्यों में वहीं की भाषाएँ राजभाषा होंगी; राष्ट्र है; इसलिए सब जातियों को मिलानेवाली केन्द्रीय भाषा हिन्दी होगी। इन दोनों बातों में किसी एक को भूल जाना राष्ट्रीय विघटन को बुलावा देना होगा। (१९६५)

३६

भारत की राजभाषा अंग्रेज़ी और राष्ट्रीय जनतान्त्रिक मोर्चा

योगीन्द्र शर्माजी ने ठीक लिखा है कि सिद्धान्त और नीति की जो बातें मैंने उठाई हैं, उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती और वे बातें अपने-आप में भी महत्त्वपूर्ण हैं। इस विषय पर मैं जो कुछ आगे लिख रहा हूँ, पाठक उसे नीति और सिद्धान्त का आवश्यक विवेचन समझकर पढ़ें।

अंग्रेज़ी के प्रभुत्व से हानि

योगीन्द्र शर्माजी मानते हैं कि अंग्रेज़ी का प्रभुत्व कायम रहने से हानि होती है। इस हानि से देश को कितने बड़े संकट का सामना करना पड़ सकता है, मज़दूर वर्ग और कम्युनिस्ट पार्टी से इस हानि का सम्बन्ध क्या है, इस बारे में उनका और मेरा विश्लेषण एक सा नहीं है।

उनका कहना है, "अंग्रेज़ी के आधार पर भारत की एकता वैसी ही होगी जैसी अंग्रेज़ी शासन के मातहत थी।"

इतना कहना काफ़ी नहीं है। अंग्रेज़ी के आधार पर आज भारतीय पूंजीवाद औपनिवेशिक एकता भी कायम नहीं रख सकता।

साम्राज्यवाद फौज, पुलिस और अंग्रेज़ी जाननेवाले नौकरशाह वर्ग के द्वारा जनता का शोषण करने के लिए उपनिवेश भारत की एकता कायम किये हुए था। अब नौकरशाही का मालिक है भारतीय पूंजीवाद जिसमें बाज़ारों के लिए लड़नेवाले विभिन्न प्रदेशों के पूंजीपति हैं तथा इनमें कुछ इजारेदार हैं, शेष ग़ैर-इजारेदार पूंजीपति हैं। इन अन्तर्विरोधों से पीड़ित पूंजीवाद औपनिवेशिक एकता की रक्षा नहीं कर पा रहा है। उसकी अखिल भारतीय पार्टी में भयानक गुटबन्दी है और उसका सामाजिक आधार दिन-पर-दिन संकुचित होता जा रहा है।

योगीन्द्र शर्माजी जानते हैं कि भारत का पूंजीपति वर्ग "विभिन्न भाषा-समूहों में बंटा हुआ है, विभिन्न जातियों में विभक्त है। वह एक-दूसरे की कीमत पर अपने स्वार्थ को सिद्ध करना चाहता है।" इसीलिए वह अंग्रेज़ी के सहारे देश की पुरानी औपनिवेशिक एकता को भी बचा नहीं पा रहा।

देश की एकता पूँजीपति वर्ग के हित में है। योगीन्द्रजी का कहना है, "पूरे देश के बाजार और राजशक्ति की आवश्यकता उनको राष्ट्रीय एकता का हिमायती वनाती है।" भारतीय इतिहास के अनुभव को सभी लोग जानते है कि यहाँ के पूँजीपति वर्ग ने साम्राज्य-वादी योजना स्वीकार की और 'पूरे देश के बाज़ार' को अपने वर्ग-हितों के विरुद्ध, बँट जाने दिया।

देश की एकता की रक्षा के लिए पूजीपति वर्ग की एकता का भरोसा न करके श्रमिक जनता की एकता दृढ़ करनी चाहिए। यह एकता अंग्रेजी के जरिये दृढ़ नहीं की जा सकती। अंग्रेज़ी का प्रभुत्व इस एकता के मार्ग में बहुत वडी वाधा है। अंग्रेजी के कायम रहने से भारतीय जनतंत्र का आधार संकुचित होता है और फासिस्टवाद का खतरा वढ़ता है।

'भाषा और समाज' में मैने लिखा था :

"एक छोटा-सा वर्ग जो अंग्रेज़ी अखवार पढता है, अंग्रेजी के माध्यम से नौकरी पाता है, अंग्रेजी के माध्यम से पार्लमिंटरी डिमोक्रैसी और सोशलिस्ट पैटर्न के प्रयोग करता है वही 'नेहरू के वाद क्या होगा'—यह समस्या उठाकर परेशान भी हो लेता है ···जनतन्त्र का यह संकुचित वर्ग-आधार खुद तो नष्ट होगा ही, खतरा यह है कि अपने विनाश के साथ वह देश की वागडोर किसी अय्यूव खाँ को न सौंप दे!" (पृ० ४१५)

इस देश में हर चीज़ के लिए आन्दोलन होते हैं। भापावार राज्यों के आन्दोलन में कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने पूरी ताक़त लगा दी। केवल केन्द्र से अंग्रेजी हटाने का आन्दोलन नहीं होता, केवल इस तरह का आन्दोलन पार्टी के नेताओं को पसन्द नहीं है। इसका कारण यह है कि संयुक्त महाराष्ट्र या विशाल आन्ध्र के निर्माण को वे जितना आवश्यक समझते थे, उतना अंग्रेज़ी के प्रभुत्व को खत्म करना नही।

मैंने लिखा था, "अंग्रेजी सीखना और वात है; उसे सीखकर लाभ उठाया जा सकता है···लेकिन उसे सभी भारतीय भापाओं के ऊपर केन्द्रीय और सांस्कृतिक भापा वनाने से ऐसे वर्ग का ही सृजन होगा जो जनता से दूर होगा, जो अंग्रेज़ी ज्ञान के वल पर—न कि ईमानदारी, देशभक्ति, कार्यक्षमता के वल पर—शासनकार्य चलाएगा। इससे देश की अपार क्षति होगी और हो रही है।" (उप०, पृ० ४५३)

स्पष्ट है, अंग्रेजी से होनेवाली हानि के वारे में योगीन्द्रजी के और मेरे विचारों में अन्तर है।

कांग्रेस और अंग्रेज़ी

देश में जो भापा-सम्वन्धी द्वेपभाव फैला है, उसके लिए सवसे पहले कांग्रेसी नेता जिम्मेदार हैं। उन्होंने भापावार राज्यों का विरोध किया और अपने वक्तव्यों में प्रादेशिक भापाओं को उचित महत्त्व नहीं दिया—यह स्थिति का एक पहलू है। दूसरा पहलू यह है कि सन् '४६ से अव तक तरह-तरह के वहाने करके वे अंग्रेज़ी का प्रभुत्व कायम किये

हुए हैं। इस दूसरे पहलू पर योगीन्द्रजी का ध्यान कम जाता है।

मुख्य अन्तर्विरोध हिन्दी और अहिन्दी भाषाओं में नहीं, अंग्रेजी तथा समस्त भारतीय भाषाओं में है। कांग्रेसी नेताओं ने जहाँ भी केन्द्र में हिन्दी चलाने की बात की, योगीन्द्रजी उनकी सख्त आलोचना करते हैं। वे अठारह साल में अंग्रेजी चला रहे हैं, इसकी सख्त आलोचना वह नहीं करते।

उन्होंने लिखा है, "केन्द्रीय सरकार ने २६ जनवरी से हिन्दी को 'राष्ट्रभाषा' बनाने की जो पाखण्ड और उबभावे की घोषणा की, उससे गैर-हिन्दीभाषी लोगों में, विशेषकर तमिलनाड में विरोध का तूफान पैदा हो गया।"

कांग्रेस के कर्णधार चाहते हैं कि अंग्रेजी न आज हटे, न कल। हिन्दी-भाषी जनता ने ही कांग्रेस को सबसे ज्यादा वोट मिलते हैं। उसे खुश करने के लिए वे राष्ट्रभाषा की बातें करते हैं, हिन्दी को समृद्ध करने के लिए लाखों रुपये खर्च करते हैं। उनके इस पाखंड पर योगीन्द्रजी को विशेष क्रोध नहीं आता।

योगीन्द्र शर्माजी के विपरीत हर मंजिल पर मैंने कांग्रेसी नेताओं के इस पाखण्ड की बराबर आलोचना की है।

सन् '४६ में मैंने लिखा था

"भारतीय जनता ने माँग की थी कि शिक्षा, अदालत-कचहरी, शासन इत्यादि में अंग्रेजी की जगह उसकी अपनी भाषा चले। यह बिलकुल न्यायपूर्ण माँग थी। राष्ट्रीय नेताओं से आशा की जाती थी कि सन् '४७ में आजादी पाने के बाद इस माँग को वे पूरा करेंगे। लेकिन विभिन्न कारणों से वे उसे पूरा नहीं कर सके। दस साल तक उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण न होगा। वैसे ही पाँच या दस साल तक आम जनता की उच्च शिक्षा, राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्यवाही उसकी अपनी भाषा में न होगी" ('कम्युनिस्ट')।

पाँच साल बाद राजभाषा के सवाल पर मैंने एक पुस्तिका लिखी जो पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस द्वारा प्रकाशित हुई। उसमें कांग्रेसी नेताओं की दुरंगी नीति के बारे में मैंने लिखा था, "कांग्रेसी नेताओं की कोई मंशा नहीं थी कि अंग्रेजी हटाने के लिए जमकर कोशिश करें। उन्होंने स्पष्ट ही अपने सामने यह संभावना रखी थी कि पन्द्रह साल के बाद भी अंग्रेजी जारी रहेगी, शायद उसके अगले पन्द्रह साल तक जारी रहेगी, हो सकता है इसके आगे भी जारी रहे।"

सन् '६५ में बिलकुल यही स्थिति हमारे सामने है।

नेहरूजी के अंग्रेजी-समर्थन की चर्चा करते हुए उसी पुस्तिका में लिखा था, "संविधान सभा में बहस की तमाम सरगर्मी के पीछे यह निर्मम निश्चय साफ दिखाई देता है कि समस्त भारतीय भाषाओं की हानि करते हुए अंग्रेजी को अनिवार्य राजभाषा के रूप में चालू रखा जाय। श्री नेहरू ने बड़ी स्पष्टता से कहा है कि 'आप इस बात को प्रस्ताव में चाहे लिखें, चाहे न लिखें, अंग्रेजी लाजमी तौर से भारत में बहुत महत्त्वपूर्ण

भाषा वनकर रहेगी जिसे वहुत लोग सीखेंगे और शायद उन्हें उसे जवरन सीखना होगा।' लोग इन तमाम वर्षों में अंग्रेज़ी जवरन सीखते आए हैं। अव उनके सामने एकमात्र यह संभावना पेश की गई है कि अंग्रेजी के विना हमारी कला और विज्ञान का पतन हो जाएगा और देश का विघटन होगा, उसका नाश हो जाएगा।"

'भाषा और समाज' में मैंने जहाँ भाषावार राज्य-आन्दोलन के दमन की निन्दा की है, वहाँ अंग्रेज़ी को राष्ट्रभाषा वनाये रखने की कांग्रेसी नीति की आलोचना भी की है। लिखा था :

"अंग्रेज़ी भारत की राष्ट्रभाषा रहे तो सवसे अच्छा। दूसरे देशों के सामने शर्म के मारे उसे राष्ट्रभाषा न कह सकें और झख मारकर हिन्दी का व्यवहार करना पड़े तो अंग्रेज़ी और हिन्दी दोनों को राष्ट्रभाषा का दर्जा देना चाहिए। यदि हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा रखने की प्रतिज्ञा करनी पड़े, तो भी जहाँ तक हो सके, सांस्कृतिक और राजनीतिक कार्यों के लिए अंग्रेज़ी का व्यवहार होना ही चाहिए...भारत को आज़ाद करने की मुख्य प्रेरणा अंग्रेजी से ही मिली लेकिन आजादी पाने के लिए भी अंग्रेज़ी की उतनी आवश्यकता न थी जितनी अब समाजवादी भारत के निर्माण के लिए है।" (पृ० ४१३)

पिछले अठारह साल में कांग्रेस की जो नीति रही है, उसी का अनुसरण करते हुए उसके नेताओं ने नया प्रस्ताव पास किया है। इस प्रस्ताव के अनुसार प्रादेशिक भाषाएँ पब्लिक सर्विस कमीशन की परीक्षाओं का ऐच्छिक माध्यम वनेंगी, अखिल भारतीय नौकरियों का अनिवार्य माध्यम रहेगी अंग्रेज़ी।

गांधीजी भाषाओं के आधार पर प्रान्तों के नवनिर्माण के पक्ष में थे। नेहरूजी भाषावार राज्य वनाने के प्रवल विरोधी थे। गांधीजी केन्द्र से अंग्रेज़ी हटाने के पक्ष में थे, नेहरूजी उसे वहाँ जमाये रखने के पक्ष में थे। केन्द्र और राज्य—दोनों जगह गांधीजी और नेहरूजी की भाषा-नीति में अन्तर था। नेहरूजी ने देश के लिए वहुत से अच्छे काम किए लेकिन उनकी अंग्रेज़ी कायम रखने की नीति ग़लत थी। देश में अंग्रेजी कायम रखने के लिए जिम्मेदार है कांग्रेस।

भाषागत द्वेष और गृहयुद्ध की सम्भावना

ज़ारशाही रूस में रूसी पूँजीवाद ने साम्राज्यवाद का रूप ले लिया था। रूसी पूँजीपति गैर-रूसी इलाकों का शोषण करते थे, वहाँ की भाषाओं का दमन करते थे। सन् '४८ में कम्युनिस्ट पार्टी की दूसरी कांग्रेस ने अपने राजनीतिक प्रस्ताव में भारत को भी ज़ारशाही रूस की तरह जातियों का कारागार मान लिया था। इसीलिए उत्पीड़क पूँजीवादी गुट के विरुद्ध केरल, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों के लिए आत्मनिर्णय की माँग की गई थी।

प्रस्ताव में कहा गया था, "कांग्रेसी नेतृत्व ने अपनी समझौतावादी नीति के कारण आत्मनिर्णय के अधिकार का विरोध करने की वजह से देश का घातक विभाजन करा दिया है। आज इंडियन यूनियन में वह फिर वही अपराध कर रहा है, उत्पीड़क पूंजीपति वर्ग के

हित में यह महाराष्ट्र, केरल, तमिलनाड आदि जातीय प्रदेशों के आत्मनिर्णय का अधिकार अस्वीकार करना है।"

भारतीय परिस्थिति के सन्दर्भ में आत्मनिर्णय की यह बात गलत थी और आज भी है। आत्मनिर्णय की माँग की जाती है साम्राज्यवाद के खिलाफ, उन प्रदेशों के लिए जहाँ विदेशी पूँजीपतियों ने अपने उपनिवेश कायम किये हों।

भारत में अहिन्दी भाषाओं के दमन की आशंका कुछ लोगों के मन में है, लेकिन दमन का कोई ठोस भौतिक आधार नहीं है। यदि हिन्दीभाषी क्षेत्र का पूँजीवाद साम्राज्यवाद का रूप ले रहा हो, यदि किसी एक प्रदेश के पूँजीपतियों ने अन्य प्रदेशों को अपना उपनिवेश बनाना आरम्भ कर दिया हो तो मानना होगा कि अहिन्दी भाषाओं के दमन का वास्तविक खतरा है। ऐसी स्थिति नहीं है, इसलिए शक-शुबह की बात की जा सकती है; भाषाओं के दमन की बात करना जनता में हिन्दी के प्रति द्वेष फैलाना है।

योगीन्द्रजी ने शक-शुबहे और वास्तविक खतरे को मिलाकर एक कर दिया है। उन्होंने जारशाही रूस और भारत के पूँजीवाद का फर्क नहीं देखा। वह अहिन्दी भाषाओं के दमन की बात इस तरह करते हैं मानो दिल्ली सरकार केवल हिन्दी क्षेत्र के पूँजीपतियों की सरकार हो। उन्होंने पूछा है, "१९४६ में दक्षिण भारत की जनता हिन्दी को एक दबानेवाली भाषा के रूप में देखती थी या नहीं?" इसका उत्तर है कि कुछ लोग दक्षिण में हिन्दी को दबानेवाली भाषा के रूप में देखते थे। यह उनकी आशंका थी। उस आशंका में कायल थे। लेकिन हिन्दी दबानेवाली भाषा न तब थी, न आज है। दबानेवाली भाषा वास्तव में अंग्रेजी थी, आज भी है।

योगीन्द्रजी ने पूछा है कि पार्टी ने अपनी गलत नीति सुधार ली, तब सन् '६१ में मैंने वही गलत बात क्यों दुहराई।

उन्हें भ्रम है कि सन् '६१ में मैंने सन् '४६ की बातें दुहराई हैं। सन् '४६ में मैंने केन्द्रीय राजभाषा का विरोध किया था, सन '६१ में उसका समर्थन किया था। सन् '४६ में जातीय उत्पीडन का वास्तविक खतरा है, मैं यह मानता था। सन् '६१ में शक-शुबहे की बात थी, भाषाओं के वास्तविक दमन की बात नहीं थी। इन शक-शुबहों का सम्बन्ध मुख्यतः नौकरीपेशा मध्यवर्ग के लोगों से है। इनके बारे में 'भाषा और समाज' में मैंने लिखा था:

"देश के विभिन्न वर्गों का जैसा सांस्कृतिक दृष्टिकोण है, उसी के अनुकूल वे भाषा-समस्या का समाधान भी प्रस्तुत करते हैं। इनमें सबसे पहले वह वर्ग है जो साम्राज्यवादी व्यवस्था में शिक्षा के कारण ऊँची नौकरियाँ पा सका था और अब स्वाधीन भारत में वह उसी शिक्षा के आधार पर अपने लिए उन नौकरियों को बरकरार रखना चाहता है। इनमें विभिन्न प्रदेशों के उच्च मध्यवर्गीय शिक्षित लोग हैं जो समझते हैं कि अंग्रेजी के न रहने से हिन्दीवाले बाजी मार ले जाएँगे। इनकी तो मातृभाषा हिन्दी है, दूसरों को उसे सीखना पड़ेगा। इस तरह के तर्क साम्राज्यवादी अवशेषों को जाहिर करते हैं।"

(पृ० ४४३)

इस भय को दूर करने का उपाय मैंने यह वताया था, "ऊँची नौकरियों के लिए हिन्दी-भापियों को तभी लेना चाहिए जव उन्हें एक अहिन्दी भापा का अच्छा ज्ञान हो।" (पृ० ४५७)

'जनशक्ति' में यही प्रस्ताव मैंने दोहराया था, "अहिन्दी भापा का समुचित ज्ञान अनिवार्य कर देने से हिन्दीवालों को कोई विशेप सुविधा न मिलेगी।"

जो लोग सचमुच अंग्रेज़ी का प्रभुत्व खत्म करना चाहते हैं, वे इस प्रस्ताव पर गम्भीरता से विचार करेंगे। जो हठधर्मी से केन्द्र में अंग्रेज़ी चलाते रहने के पक्ष में हैं, वे उसके वारे में चुप रहेंगे।

तमिलनाड में जो आन्दोलन चला उसमें शक-शुवहों से लाभ उठाया गया, तिल का ताड़ वनाकर जनता को गुमराह किया गया। आन्दोलन के सूत्रधार वे थे जो द्रविड़ भारत या तमिलनाड का अलगाव चाहते हैं, जो कश्मीर से लेकर नागालैंड तक अलगाव के हर आन्दोलन का साथ देते हैं।

भारत में गृहयुद्ध का खतरा पैदा होता है उन लोगों से जो देश के नये विभाजन के लिए प्रयत्नशील हैं। भापाओं के दमन की वात वे अपना असली उद्देश्य छिपाने के लिए करते हैं। उनकी इस नीति का पर्दाफाश करके जनता को उनके प्रभाव से निकालना चाहिए, न कि उनके सुर में सुर मिलाकर कहना चाहिए कि हिन्दी भापा अहिन्दी भापाओं का दमन कर रही है।

अपने धर्म से प्रेम करना वुरा नहीं है। मुस्लिम लीग ने कहा—इस्लाम खतरे में है। मुसलमानों को हिन्दू खा जाएँगे। लीग ने 'डायरेक्ट ऐक्शन' का रास्ता अपनाया। आत्मनिर्णय के नाम पर देश का विभाजन हुआ।

अपनी भापा से प्रेम करना वुरा नही है। द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम ने कहा—तमिल खतरे में है; तमिल-भापियों को हिन्दीवाले गुलाम वना लेंगे। कषगम ने 'डायरेक्ट ऐक्शन' का रास्ता अपनाया। हिन्दी तमिल का दमन न करे इसलिए केन्द्र में अनिश्चित काल के लिए अंग्रेज़ी कायम रहेगी!

केन्द्र और राज्य—पहले और वाद का सवाल

योगीन्द्रजी ने इस वात पर वहुत ज़ोर दिया है कि पहले राज्यों से अंग्रेज़ी हटाना जरूरी है। राज्यों के विश्वविद्यालयों, सरकारी दफ्तरों आदि में पूरी तरह प्रादेशिक भापाओं का चलन हो जाने के वाद ही केन्द्र से अंग्रेज़ी हटाने की वात की जा सकेगी। उन्होंने गांधीजी का यह कथन उद्धृत किया है, "सवसे पहले उन समृद्ध प्रादेशिक भापाओं को पुनर्जीवित करना है जो भारत को सुलभ है।"

इसका अर्थ उन्होंने यह लगाया है कि जव तक राज्यों से अंग्रेज़ी निकल न जाय, तव तक केन्द्र में अंग्रेज़ी चलती रहे! इसके विपरीत गांधीजी ने प्रस्ताव किया था कि प्रान्तों में ऐसे कर्मचारी रखे जाएँ जो प्रान्तीय भापा के साथ केन्द्रीय भापा भी जानते हों।

इसीलिए उन्होंने लिखा था कि "प्रान्तों को केन्द्र से काम पड़ेगा। यह काम वे अंग्रेजी में करने की हिम्मत न करेंगे।"

'भाषा और समाज' में गांधीजी के बारे में मैंने लिखा था, "वह भारतीय भाषाओं के समर्थक थे। वह न इन भाषाओं पर हिन्दी लादना चाहते थे, न हिन्दी लादने का हौवा खड़ा करके अंग्रेजी बनाये रखने के पक्ष में थे।" (पृ० ४१३) गांधीजी की भाषा-नीति की यही व्याख्या मैं अब भी करता हूँ।

योगीन्द्रजी ने 'भाषा और समाज' से वे अंश उद्धृत किये हैं जहाँ भाषावार राज्यों के विरोध की निन्दा की गई है, जहाँ इस विरोध के कारण कुछ अहिन्दी भाषी लोगों में हिन्दी के प्रति भय उत्पन्न होने की बात कही गई है, जहाँ राज्यों से अंग्रेजी हटाकर इस भय को दूर करने की बात की गई है। उन्होंने वे अंश छोड़ दिये हैं जहाँ मैंने लिखा था कि इस भय का बहाना बनाकर केन्द्र में अंग्रेजी कायम रखना गलत है।

मैंने स्पष्ट लिखा था, "भाषावार राज्यों के निर्माण का विरोध करके कांग्रेसी नेतृत्व ने काफी हद तक यह भय उत्पन्न किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि अहिन्दी भाषी अंग्रेजी की शरण लें।" (पृ० ४६६-६७)

मातृभाषाओं की दुहाई देकर अंग्रेजी की शरण लेनेवालों के बारे में मैंने लिखा था, "अहिन्दी क्षेत्रों के लोग अंग्रेजी से चिपके रहना चाहते हैं, वे मातृभाषाओं की सेवा नहीं करते। उन्हें हर बात में अंग्रेजी अपनी मातृभाषाओं से श्रेष्ठ लगती है। इसलिए उसे वे केन्द्र में ही नहीं अपने यहाँ भी सबसे ऊँचे आसन पर बिठाये रखना चाहते हैं 'मातृ-भाषाओं की दुहाई देकर अंग्रेजी का प्रभुत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।"

(पृ० ४५५)

गांधीजी के लेख को प्रकाशित हुए अठारह साल हो गये। योगीन्द्रजी के लिए अभी 'समृद्ध प्रादेशिक भाषाओं को 'पुनर्जीवित' करने का सवाल बना हुआ है! तमिल, तेलुगु, मराठी आदि भाषाओं के आधार पर तमिलनाड, आन्ध्र, महाराष्ट्र आदि राज्य कभी के बन गये। योगीन्द्रजी समझते हैं कि भाषावार राज्यों के विरोध से जो भय उत्पन्न हुआ था, उसे दूर करना अभी बाकी है! तमिलनाड में तमिल माध्यमवाले विद्यालय खोले गये। छात्रों के अभाव में उन्हें बन्द कर देना पड़ा। इसलिए कि दिल्ली सरकार हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना चाहती थी!

ध्यान देने की बात है कि तमिलनाड में भाषावार राज्य बनाने के लिए कोई आन्दोलन नहीं हुआ। आन्दोलन हुआ आन्ध्र और केरल में जहाँ तमिलनाड की तरह तोड़-फोड़ की कोई कार्यवाही नहीं हुई। भाषावार राज्य-आन्दोलन का दमन किया गया महाराष्ट्र और गुजरात में जहाँ हिन्दी विरोधी आन्दोलन का अभाव है। अहिन्दी भाषी प्रदेशों में महाराष्ट्र और गुजरात ऐसे राज्य हैं जहाँ हिन्दी को राजभाषा बनाने के लिए जोरदार आवाज उठी है।

भाषावार राज्यों के आन्दोलन में कम्युनिस्ट पार्टी ने सक्रिय भाग लिया था।

तमिलनाड के हिन्दी-विरोधी आन्दोलन को प्रेरणा देनेवाले दो मुख्य दल थे—स्वतन्त्र पार्टी और द्रविड़ कषगम। भाषावार राज्यों के दमन से अहिन्दी-भाषियों में हिन्दी के प्रति भय उत्पन्न हुआ है, इस सूत्र का आज की परिस्थिति से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

आज यह बिलकुल स्पष्ट है कि राज्यों की सरकारों के सामने प्रादेशिक भाषाओं के व्यवहार को रोकनेवाली कोई भी वैधानिक कठिनाई नहीं है। केन्द्रीय नौकरियों में अंग्रेज़ी चलती है। इनके प्रभाव से राज्यों के शिक्षाक्रम में अंग्रेज़ी की पढ़ाई अनिवार्य हो जाती है।

'हिन्दुस्तान टाइम्स' के विशेष संवाददाता ने उस पत्र के ७ जुलाई के अंक में लिखा है कि राजस्थान सरकार ने अनेक विभागों में हिन्दी के व्यवहार का निर्देश किया है किन्तु योजना सेक्रेटेरियट जैसे विभागों को छोड़ दिया गया है। "जब तक योजना आयोग (प्लानिंग कमीशन) ही हिन्दी के व्यवहार का फैसला नहीं करता, तब तक राज्य को मजबूर होकर अंग्रेजी का व्यवहार जारी रखना पड़ेगा। इस पृष्ठभूमि में यह महसूस किया जा रहा है कि यदि अंग्रेज़ी की पढ़ाई पर जोर कम दिया जाएगा तो राजस्थान और उसके नौजवानों के हितों की हानि होगी।"

जब राजस्थान का यह हाल है तब अहिन्दीभाषी राज्यों की स्थिति की कल्पना की जा सकती है। कौन राज्य नहीं चाहता कि उसके नौजवान ज्यादा-से-ज्यादा संख्या में केन्द्रीय सेवाओं में लिये जाएँ ? इन केन्द्रीय सेवाओं के लिए अंग्रेज़ी का ज्ञान अनिवार्य है। इसलिए केन्द्रीय सेवाओं का मेवा लूटने के लिए राज्य एक-दूसरे से होड़ करते हैं कि कौन अंग्रेज़ी ज्यादा पढ़ाता है।

इसीलिए आज की परिस्थिति में केन्द्र से अंग्रेजी हटाये बिना राज्यों में अंग्रेज़ी का प्रभुत्व खत्म नहीं किया जा सकता।

यद्यपि योगीन्द्र शर्माजी ने अपने लेख में राज्यों से पहले अंग्रेज़ी हटाने पर बहुत जोर दिया है किन्तु केन्द्र में उतने परिवर्तन की बात उन्होंने मान ली है जितना कांग्रेस को स्वीकार है। कांग्रेस का कहना है कि केन्द्रीय सेवाओं की परीक्षाओं में प्रादेशिक भाषाओं को ऐच्छिक माध्यम बनाया जाय। योगीन्द्रजी इसे स्वीकार करते हैं। जब तक राज्यों से अंग्रेजी हट न जाय तब तक केन्द्र में कोई परिवर्तन न हो—यह सिद्धान्त उन्होंने खुद काट दिया। मेरा भी कहना है, केन्द्र और राज्य—दोनों जगह से अंग्रेज़ी हटाई जाय।

योगीन्द्रजी जब केन्द्र में इतना परिवर्तन मान लेते हैं—कि परीक्षाओं में प्रादेशिक भाषाएँ ऐच्छिक माध्यम हों, तब दो कदम आगे और बढ़ें और यह माँग करें—केन्द्र में अंग्रेज़ी की जगह भारतीय भाषाओं का व्यवहार हो, अंग्रेज़ी का चलन खत्म करने की अवधि निश्चित हो।

केन्द्र में अंग्रेजी चलती है, इस कारण राज्यों में भी उसकी जड़ जमी हुई है। जो भी प्रादेशिक भाषाओं का हित चाहता है, वह केन्द्र से अंग्रेज़ी हटाने की माँग का समर्थन करेगा।

कम्युनिस्ट पार्टी और अंग्रेजी

कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं को कोई लालच नहीं है कि केन्द्रीय सरकारी नौकरियाँ उन्हें भी मिल जाएँ। उन्हें कोई भय नहीं है कि पार्टी-केन्द्र में हिन्दी का चलन हुआ तो राज्यों में पार्टी-कार्य के लिए प्रादेशिक भाषाओं का व्यवहार न हो पाएगा। फिर भी पार्टी-केन्द्र की भाषा अंग्रेजी है।

योगेन्द्र शर्माजी के अनुसार राज्यों का सारा पार्टी-कार्य प्रादेशिक भाषाओं में होता है। जहाँ तक पार्टी का सम्बन्ध है, राज्यों से अंग्रेजी हटाने का कार्यक्रम पूरा हो गया है। फिर भी पार्टी-केन्द्र से अंग्रेजी नहीं निकाली जा रही। इसके कारण जरूर होंगे लेकिन जो कारण कम्युनिस्ट पार्टी के सामने हैं, उनसे तगड़े कारण कांग्रेस ढूंढ लेगी। राज्यों में अंग्रेजी-विरोधी क्रान्ति आप पूरी कर लेंगे और उसके बाद उस क्रान्ति का झण्डा केन्द्र में गाड़ेंगे—यह बात मैं कैसे मान लूँ?

ब्रिटिश राज में कम्युनिस्ट पार्टी पर यह पाबन्दी न थी कि वह अपना काम अंग्रेजी में करे। कांग्रेसी राज में भी उस पर कोई ऐसी पाबन्दी नहीं रही। उसका जन्म हुए चालीस वर्ष हो गये, कानूनी जीवन बिताते हुए बीस साल से ऊपर हुए। वह गरीब जनता की पार्टी है, श्रमिकवर्ग की पार्टी है। योगेन्द्र शर्माजी के अनुसार वह सांस्कृतिक क्रान्ति की पार्टी है। लेकिन पार्टी के नेता अभी तक अपनी केन्द्रभूमि में इस सांस्कृतिक क्रान्ति का बीजारोपण नहीं कर सके। वे पार्टी-केन्द्र में अंग्रेजी की विष-लता की जड़ नहीं खोद पाये। तब पूंजीवादी पार्टियों से क्या आशा की जाय?

भारत की राजभाषा हिन्दी और राष्ट्रीय जनतांत्रिक मोर्चा! सुनने में बहुत अच्छा लगता है। लेकिन सोचने की बात है, जब पार्टी के नेता खुद अपने लिए हिन्दी को सम्पर्क-भाषा नहीं बना पाये, तब राष्ट्रीय जनतांत्रिक मोर्चे में उसका प्रवेश वे किस द्वार से कराएँगे? मोर्चा घोषित करेगा कि भविष्य में भारत की राजभाषा होगी हिन्दी लेकिन वर्तमान काल में खुद मोर्चे की भाषा होगी—अंग्रेजी।

अंग्रेजों ने अपनी हुकूमत चलाने के लिए आई० सी० एस० अफसरों के लिए हिन्दुस्तानी सीखना अनिवार्य कर दिया था। मेरा प्रस्ताव है कि देश की सेवा के लिए—मजदूर वर्ग की एकता दृढ़ करने के लिए—कम्युनिस्ट पार्टी की नेशनल कौंसिल के सदस्य हिन्दी सीखें। यह नियम बना दिया जाय कि जिसे हिन्दी का व्यावहारिक ज्ञान न होगा वह राष्ट्रीय कौंसिल का सदस्य न हो सकेगा।

योगेन्द्रजी ने 'भाषा और समाज' से एक वाक्य उद्धृत किया है जिसमें पार्टी के नेताओं द्वारा हिन्दी बोलने की तारीफ है। वाक्य है, "भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रतिनिधि मास्को और पेकिंग के कम्युनिस्ट सम्मेलनों में हिन्दी का व्यवहार कर चुके हैं।"

यह तारीफ मैं वापस नहीं ले रहा हूँ। निवेदन यह है कि मास्को और पेकिंग में ही नहीं, पार्टी के नेता दिल्ली में भी हिन्दी बोलें।

योगीन्द्र शर्माजी 'भाषा और समाज' के इन वाक्यों पर विचार करें : "जब हम बाहर जायेंगे, किसी अन्य राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेंगे, तब (कभी-कभी, हमेशा नहीं) हम हिन्दी का व्यवहार करेंगे। लेकिन अपने घर में हमारे मुखपत्र अंग्रेज़ी में प्रकाशित होंगे, हमारी कार्यकारिणी का अधिवेशन होगा तो उसमें विचार-विनिमय अंग्रेज़ी में होगा, नेताओं का अन्य नेताओं और उपनेताओं से पत्र-व्यवहार अंग्रेज़ी में होगा।" (पृ० ४१३)

यह आलोचना कांग्रेसी नेताओं पर ही नहीं, कम्युनिस्ट नेताओं पर भी लागू होती है।

स्तालिन, ख्रुश्चेव और मिकोयान की मातृभाषा रूसी नहीं थी। फिर भी सारे देश में राजनीतिक कार्यवाही के प्रसार और संगठन के लिए उन्होंने रूसी भाषा को अपनाया, इस तथ्य का उल्लेख करते हुए मैंने 'भाषा और समाज' में लिखा था, "भारत में हिन्दी का व्यवहार किये बिना कोई अखिल भारतीय नेता नहीं बन सकता।"

(पृ० ४१४)

और भी—"लोग कहते हैं, नेहरू के बाद कोई ऐसा नेता नहीं दिखाई देता जिसकी बात सारा देश ध्यान से सुने। इसका कारण जहाँ हिन्दीभाषी प्रदेश का राजनीतिक पिछड़ापन है, वहाँ अहिन्दीभाषी नेताओं द्वारा हिन्दी के प्रति उदासीनता भी है। वे हिन्दी के माध्यम से जन-साधारण में राजनीतिक कार्यवाही का महत्त्व नहीं समझ पाये।"

(पृ० ४१४)

यही उदासीनता का भाव अनेक अहिन्दीभाषी नेताओं में तीव्र उपेक्षा का भाव बन जाता है। इसी उपेक्षा की निन्दा मैंने अपने एक लेख में की थी।

कम्युनिस्ट पार्टी के सामने सबसे बड़ा सवाल श्रमिक जनता की एकता का है। यह एकता अंग्रेज़ी के माध्यम से दृढ़ नहीं हो सकती। अंग्रेज़ी की प्रधानता होने से खुद कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर ग़रीब किसान और मजदूर ज़िम्मेदारी के पद नहीं सँभाल सकते। यह इतिहास का व्यंग्य है कि कुछ समय के लिए केन्द्र में अंग्रेज़ी कायम रखकर योगीन्द्रजी देश को गृहयुद्ध से बचाना चाहते हैं। लेकिन गृहयुद्ध की-सी परिस्थिति उत्पन्न हो गई स्वयं कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर। पार्टी बीच से टूटी; उसके दो हिस्से हो गये। इस परिस्थिति के लिए एक हद तक पार्टी के अन्दर वे मध्यवर्गी तत्त्व भी जिम्मेदार हैं जो अपनी अंग्रेज़ियत के कारण पार्टी-नेतृत्व का दरवाज़ा मजदूरों के लिए बन्द किये हैं।

यह परिस्थिति अब बदलनी चाहिए।

कांग्रेस सरकार ने केन्द्र से अंग्रेज़ी हटाने के लिए पन्द्रह साल की मियाद रखी थी। उसने अपना वायदा तोड़ दिया। कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने अपने केन्द्र से अंग्रेज़ी हटाने के लिए कोई मियाद न रखी थी। इसलिए उन पर वायदा तोड़ने का आरोप भी नहीं लगाया जा सकता।

नेहरूजी ने कहा—हिन्दी अविकसित भाषा है, पहले उसे विकसित करो। फिर वह राजभाषा बनेगी। पार्टी के नेताओं ने कहा—ठीक। हिन्दी को विकसित होने दो।

दूसरी प्रादेशिक भाषाएँ हैं, उनके विकास पर भी उसमें खर्च होने दो। नेहरूजी ने कहा—अहिन्दी-भाषी नहीं चाहते कि अंग्रेजी हटाई जाय। पार्टी के नेताओं ने कहा—ठीक। चारा ही क्या है? फिलहाल केन्द्र में अंग्रेजी ही चले!

कांग्रेस कार्यसमिति ने प्रस्ताव पास किया कि पब्लिक सर्विस कमीशन की परीक्षाओं के लिए प्रादेशिक भाषाओं का व्यवहार भी हो सकता है। पार्टी के नेताओं ने कहा—बहुत अच्छा, यही तो हम भी चाहते थे।

इन अखिल भारतीय सेवाओं में अंग्रेजी का व्यवहार अनिवार्य होगा—इस बारे में वे चुप रहे। अपने पिछले लेख में इस प्रस्ताव की कैफियत देते हुए योगीन्द्रजी ने अंग्रेजी का नाम ही नहीं लिया, मानो अंग्रेजी से उसका कोई सम्बन्ध ही न हो!

हमें माँग करनी चाहिए कि हर स्वाधीन देश की तरह भारत के शिक्षाक्रम में भी अंग्रेजी की पढ़ाई वैकल्पिक हो। हमें माँग करनी चाहिए कि सरकार केन्द्र और राज्यों से अंग्रेजी हटाने की अवधि निश्चित करे। हिन्दी को अभी और समृद्ध करने, प्रादेशिक भाषाओं को समृद्ध करने के बाद अंग्रेजी हटाने के कांग्रेसी पाखण्ड का तीव्र खण्डन करना चाहिए। यह न करके योगीन्द्रजी उसका समर्थन करते हैं। उनकी स्वतन्त्र नीति केवल इस बात में प्रकट होती है कि वे इस गलत प्रस्ताव को सही-सही अमल में लाने पर जोर देंगे।

पार्टी-केन्द्र से अंग्रेजी हटाने का सवाल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस सवाल के जवाब से ही मालूम होगा कि क्रान्तिकारी लफ्फाजी और क्रान्तिकारी अमल में क्या फर्क है

लेनिन की सीख—फिलहाल अंग्रेजी

लेनिनवाद के अनेक भाष्य, अनेक व्याख्याएँ संसार में प्रचलित हैं। स्तालिन ने जो कुछ किया लेनिनवाद के नाम पर। ख्रुश्चेव ने उनकी कब्र खोदी—लेनिनवादी नीति की रक्षा के नाम पर। ब्रेझनेव और कोसीगिन ने ख्रुश्चेव को हटाया—लेनिनवाद को ही अमल में लाने के लिए। पेकिंग के नेता सोवियत संघ को अमरीकी साम्राज्यवाद का समर्थक कहते हैं—महान् क्रान्तिकारी लेनिन की विरासत की रक्षा करने के नाम पर। इसलिए यदि कोई भारत में कहे कि लेनिन की यह सीख है कि फिलहाल केन्द्र में अंग्रेजी कायम रहे तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

जारशाही रूस के अभिजात वर्ग में फ्रांसीसी भाषा का बहुत व्यवहार होता था। यूरोप की अन्तर्जातीय भाषा फ्रांसीसी थी। लेनिन ने यह नहीं कहा कि लोग केन्द्र में रूसी भाषा नहीं चाहते, इसलिए फिलहाल वहाँ फ्रांसीसी भाषा चलने दी जाय।

लेनिन का समाधान यह था कि किसी भी भाषा को अनिवार्य केन्द्रीय राजभाषा का पद न दिया जाय। इस समाधान को यदि भारत में लागू किया जाय तो अंग्रेजी को हटाकर उसकी जगह सभी प्रादेशिक भाषाओं को बराबरी की जगह देनी होगी।

योगीन्द्रजी इस बात की कल्पना ही नहीं करते कि केन्द्रीय राजभाषा के बिना भी काम चल सकता है। इसीलिए उन्होंने मेरे बारे में लिखा है, "किसी भाषा के ज़ोर-ज़बर्दस्ती लादे जाने के वे ऐसे कट्टर विरोधी थे कि उस समय वे क़ानूनी राज्यभाषा के सिद्धान्त का ही विरोध करते थे...वे १९५०-५५ में भाषा के सवाल पर अराजकतावादी छोर पर थे..."

केन्द्र में अनेक राजभाषाएँ चलाने का सिद्धान्त अराजकतावादी नहीं है। लेनिन ने समाजवादी क्रान्ति के बाद न तो रूसी को केन्द्रीय राजभाषा बनाया, न और किसी भाषा को। यह अराजकतावाद नहीं था।

यदि भारत के लिए हम कहें कि केन्द्रीय राजकर्मचारियों को समस्त प्रादेशिक भाषाएँ सीखनी होंगी तो यह अराजकतावादी बात होगी। किन्तु केन्द्र में सभी भारतीय भाषाओं को समानता के अधिकार देने के और भी उपाय है। इनमें मुख्य उपाय है अनुवाद की व्यवस्था का।

४ जुलाई के 'जनयुग' में श्री मासूम रज़ा राही ने यह प्रस्ताव रखा है, "केन्द्रीय सरकार के पास एक अनुवाद-विभाग हो। अन्य प्रान्तों से होनेवाले पत्र-व्यवहार की भाषा तो हिन्दी हो जाय और प्रान्तीय सरकारों की भाषा उस समय तक उस क्षेत्र की भाषा बनी रहे जब तक कि वह क्षेत्र हिन्दी को स्वीकार न कर ले।"

यदि कम्युनिस्ट पार्टी के नेता एक बार यह तय कर लें कि अंग्रेज़ी की जगह केन्द्र में भारतीय भाषाएँ चलानी हैं तो अनुवाद की समुचित व्यवस्था क्या हो, वे यह तय कर लेंगे। केन्द्र में सभी भाषाओं को बराबरी का दर्जा देने से वे शक-शुबहे बहुत जल्दी दूर हो जाएँगे जिनके मारे योगीन्द्रजी परेशान हैं। अभी उनके पास कोई ऐसा कार्यक्रम नहीं है जिससे हिन्दी भाषा को केन्द्र में चालू करने की 'स्वेच्छा' अहिन्दीभाषी नेताओं में उत्पन्न हो। मेरा प्रस्ताव उस 'स्वेच्छा' को उत्पन्न करने में सहायक होगा।

केन्द्र में अनेक भाषाओं के चलन का सिद्धान्त बीजरूप में कांग्रेस ने स्वीकार किया है। उसने केन्द्रीय सेवाओं की परीक्षाओं के लिए प्रादेशिक भाषाओं को माध्यम रूप में मान्यता दी है। योगीन्द्रजी कांग्रेस के प्रस्ताव का समर्थन करते हैं। बीजरूप में अनेक राजभाषाओं के चलन की बात वह भी मानते हैं। इसलिए अंग्रेज़ी को हटाकर प्रादेशिक भाषाओं को केन्द्र में जगह देने की बात उन्हें अमान्य न होनी चाहिए।

इस समय अनेक दलों के नेताओं ने यह प्रचार कर रखा है कि केन्द्र से अंग्रेजी हटाते ही गृहयुद्ध छिड़ जायगा। इनमें कुछ लोग कहते हैं, अंग्रेज़ी अनन्त काल तक रहनी चाहिए। दूसरे कहते हैं, अनन्त काल तक नहीं, अनिश्चित काल तक रहनी चाहिए यानी तब तक जब तक अहिन्दीभाषी लोग हिन्दी को स्वीकार न कर लें।

आन्ध्र के मन्त्री श्री अलपति वेंकटरामैया ने कहा है कि "हिन्दी को अंग्रेज़ी की जगह लेने में पचास साल लगेंगे।" (नार्दर्न इंडिया पत्रिका, १६ फरवरी, '६५)

ये औरों से फिर अच्छे हैं। पचास साल की निश्चित अवधि की बात तो करते हैं।

अनिश्चित बात वालों का राम ही मालिक है !

जनतांत्रिक समाधान ऐसा होना चाहिए जो हिन्दीभाषियों को भी स्वीकार हो। कुछ लोगों को हिन्दी पसन्द नहीं है औरों को अंग्रेजी पसन्द नहीं है। हिन्दी-अंग्रेजी के इस संघर्ष में लतिनवाद का फैसला अंग्रेजी के पक्ष में न होना चाहिए। फैसला होना चाहिए भारतीय भाषाओं के पक्ष में।

योगीन्द्र शर्माजी की निगाह गृहयुद्ध की सम्भावना के एक पक्ष पर है। वह यह कि हिन्दी को राजभाषा बनाने में अहिन्दी भाषी विद्रोह कर देंगे। उन्होंने गृहयुद्ध की सम्भावना के दूसरे पक्ष पर विचार नहीं किया। हिन्दी-भाषियों की इच्छा के विरुद्ध केन्द्र में अंग्रेजी चलाते रहना अन्याय है। वे भी अंग्रेजी के चलन के विरुद्ध विद्रोह कर सकते हैं।

स्थिति यह है कि अंग्रेजी के प्रभुत्व के कारण दक्षिण में द्रविड कषगम और उत्तर में जनसंघ शक्तिशाली होते जा रहे हैं। इनके शक्तिशाली होने के कारण अलग-अलग हैं लेकिन भाषा-समस्या से उनका गहरा सम्बन्ध है। यदि केन्द्र में तमिल को हिन्दी के बराबर जगह दी जाय तो द्रविड कषगम को तमिल-प्रेम का झण्डा उठाने का मौका न मिले।

कांग्रेसी और कम्युनिस्ट नेता जितने दिन केन्द्र में अंग्रेजी चालू रखने की नीति का समर्थन करते हैं, उतने ही दिन वे द्रविड कषगम और जनसंघ को भाषा विवाद से फायदा उठाकर शक्तिशाली बनने का मौका देते हैं। जनता में इन प्रतिक्रियावादी दलों के प्रभाव को खत्म करने का एक अचूक उपाय है, केन्द्र में अंग्रेजी की जगह प्रादेशिक भाषाओं का व्यवहार।

यह अस्थायी समाधान है। जब तक अहिन्दीभाषी नेता केन्द्र में हिन्दी का चलन स्वीकार न करें, तब तक यह समाधान लागू करना चाहिए।

तर्क पद्धति और निष्कर्ष

मैं समझता हूँ कि कांग्रेस, कम्युनिस्ट पार्टी और अन्य जनवादी पार्टियाँ मिलकर प्रयत्न करें तो अगले पाँच वर्षों में वे हिन्दी को केन्द्रीय राजभाषा बना सकती हैं। द्रविड कषगम और स्वतन्त्र पार्टी इतनी समर्थ नहीं हैं जितनी वे मालूम होती हैं। उन्होंने जनता के मातृभाषा-प्रेम से लाभ उठाकर उसे बरगलाया है। यदि उस जनता को बताया जाय कि केन्द्रीय सेवाओं के लिए अहिन्दी-भाषियों को हिन्दी सीखनी होगी और हिन्दीभाषी अफसरों को वैसे ही एक अहिन्दी भाषा का ज्ञान प्राप्त करना होगा, तो जनता के गुमराह अंशों को राह पर लाया जा सकता है।

लेकिन केन्द्रीय सेवाओं के हिन्दी-भाषी उम्मीदवार एक अहिन्दी भाषा का ज्ञान प्राप्त करें—मेरे इस प्रस्ताव पर योगीन्द्रजी ने ध्यान ही नहीं दिया, उस पर एक शब्द भी नहीं कहा। तब कांग्रेसी नेताओं से मैं क्या आशा करूँ ?

इसलिए मैंने अपने लेख में यह विकल्प रखा है कि केन्द्र में हिन्दी के साथ अन्य

भाषाओं का व्यवहार भी हो। इससे पहले भी मैंने 'जनशक्ति' मे लिखा था, "समस्या का एक ही हल है : केन्द्र में हिन्दी हो, राज्यों में प्रादेशिक भाषाएँ। इस पर भी यदि कोई कहे कि अंग्रेज़ी हटाने से अहिन्दी भाषाओं का दमन हुआ तो निवेदन है, लोकसभा मे सभी भाषाएँ चलाइए। हमें इस बात का मोह नही है कि भारत सरकार का काम हिन्दी में हो। घृणा इस बात से है कि उसका काम अंग्रेजी में होता है। केन्द्र में चाहे एक भारतीय भाषा चलाइए, चाहे दस, विदेशी भाषा अंग्रेज़ी को निकालिए।"

लोकसभा के लिए मैंने विशेष रूप से लिखा था, "लोकसभा मे अहिन्दी-भाषी नेता शौक से अपनी-अपनी भाषाएँ बोलें। हिन्दी-भाषी नेता हिन्दी में बोलें। कम्युनिस्ट सदस्य अपने व्यवहार से इस नीति की मिसाल कायम करे।"

मेरे यह सब लिखने पर भी योगीन्द्र शर्माजी ने बड़े आग्रह से यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मैं अहिन्दी भाषाओं को दबाना और केन्द्र में ज़बर्दस्ती हिन्दी चलाना चाहता हूँ।

उन्होंने १४ मार्च के 'धर्मयुग' में प्रकाशित मेरे लेख का दो बार हवाला दिया है। यह लेख उन्हें विशेष उपयोगी जान पड़ता है; उसमें गृहयुद्ध की ललकार उन्हें ज्यादा स्पष्ट सुनाई पड़ती है।

मैंने लिखा था, "यह संघर्ष हिन्दी-तमिल का नही है, अंग्रेज़ी और समस्त भारतीय भाषाओं का है। हिन्दी-तमिल-विरोध के बड़े घातक परिणाम हो सकते है। एक बार गृहयुद्ध की आग भड़कने पर उसे रोकना असम्भव हो जाएगा।"

गृहयुद्ध की ललकार का इससे अधिक पुष्ट प्रमाण और क्या होगा ?

मैंने लिखा था, "भारतीय भाषाओं को उनके उचित अधिकार दिलाने के लिए ज़रूरी है कि सबसे पहले हिन्दी-भाषी प्रदेश में अंग्रेज़ी को राजभाषा और सांस्कृतिक भाषा के पद से हटा दिया जाय।"

योगीन्द्रजी का विचार है कि मैं भारतीय भाषाओं के अधिकारों को कुचलकर हिन्दी को राजभाषा बनाने के पक्ष में हूँ !

मैंने लिखा था, "इसके बाद जिस दिन हिन्दीभाषी जनता संगठित होकर अपने लोकसभा के प्रतिनिधियों को हिन्दी में बोलने और सारा राजकाज हिन्दी में करने के लिए बाध्य करेगी, उस दिन अंग्रेज़ी का साम्राज्यवाद खत्म होगा, उस दिन तमिलनाड में तमिल भी अपना पूर्ण स्वत्व प्राप्त करेगी और राष्ट्रीय एकता को दृढ़ करने में हिन्दी-भाषी जनता अपनी भूमिका पूरी करेगी।"

यह वाक्य उन्होने उद्धृत किया है लेकिन उसका वह टुकड़ा निकालकर जिसमें तमिल के पूर्ण स्वत्व प्राप्त करने की बात है। कारण स्पष्ट है। पूरा वाक्य उद्धृत करने से मुझ पर तमिल-दमन का आरोप लगाने में असुविधा होती।

वह अंश निकाल देने पर भी गृहयुद्ध की ललकार का आरोप लगाना सरल नहीं

था। इसलिए उन्होंने 'लेकिन यदि' का सहारा लिया—"लेकिन यदि यही बात पूरे देश के लिए कही जाय तो..." इस तरह 'लेकिन यदि' लगाकर किसी भी वाक्य से कोई भी नतीजा निकाला जा सकता है।

योगीन्द्रजी ने मुझ पर यह आरोप लगाया है कि अजय घोष के लेख में मैंने वे बातें छोड़ दी हैं जो मेरी नीतियों के विरुद्ध हैं। ये कौन-सी बातें हैं? अजय घोष के लेख से उन्होंने जो अंश उद्धृत किया है उसमें कहा गया है "भाषा-आयोग के सदस्य भारतीय भाषाओं को एक अभिशाप के रूप में देखते हैं। वे नहीं मानते कि भारत बहुभाषी देश है। उन्होंने जनतन्त्र के इस प्रारम्भिक सिद्धान्त को विचार से बाहर रखा है कि शासन, विधि-न्याय की भाषा, प्रत्येक क्षेत्र में सभी स्तरों पर वह भाषा होनी चाहिए जिसको जनता आम तौर पर बोलती और समझती है।

योगीन्द्रजी का विचार है कि मैं अजय घोष की उपर्युक्त नीति का विरोधी हूँ यानी प्रदेशों में वहाँ की भाषाओं के बदले हिन्दी का ही चलन करना चाहता हूँ।

'जनशक्ति' में मैंने लिखा था—

(क) "भारत में भाषावार राज्य बनाने का आन्दोलन चला। हर प्रदेश में उसकी शिक्षा और संस्कृति का विकास उसकी भाषा के माध्यम से हो, यह माँग सही थी।"

(ख) "जिस तरह हर प्रदेश में उसकी अपनी भाषा का सभी अधिकार मिलने चाहिएँ, वैसे ही इन सबको जोड़नेवाली राष्ट्रभाषा हिन्दी को भी केन्द्र में पूर्ण अधिकार मिलने चाहिएँ।"

(ग) "इस पर भी यदि कोई कहे कि अंग्रेजी हटाने से अहिन्दी भाषाओं का दमन होता है तो निवेदन है, लोकसभा में सभी भाषाएँ चलाइए।"

अजय घोष ने अहिन्दी भाषाओं को केवल प्रदेशों में पूर्ण अधिकार देने की बात कही थी। मैं उन्हें केन्द्र में हिन्दी के बराबर स्थान देने की बात कहता हूँ। लेकिन विरोधी आलोचकों का मुँह बन्द करने के लिए योगीन्द्र शर्माजी ने सीधी राजनीति निकाली है। उन पर अन्ध हिन्दी राष्ट्रवाद का आरोप लगा दो, केन्द्र में फिलहाल अंग्रेजी चलाने की नीति अपने-आप सही साबित हो जाएगी।

मैंने लिखा था, "अंग्रेजी कायम रखने के लिए जो विशाल संयुक्त मोर्चा बना है, उसमें स्वतन्त्र दल के नेता हैं, द्रविड़ कषगम वाले हैं। 'कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी के अनेक नेता भी इसमें हैं।" योगीन्द्रजी ने अनेक का अर्थ किया सम्पूर्ण और नाराज होकर लिखा, "इन्हीं की पंक्ति में सम्पूर्ण कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी को खड़ा कर देना भारतीय राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र को कलंकित करना है, सच्चाई के मुँह पर तमाचा मारना है।"

१७ फरवरी, '६२ को पी० टी० आई० द्वारा नई दिल्ली से प्रसारित समाचार में

अनुसार ३४ संसद-सदस्यों ने एक बयान ज़ारी किया जिसमें कहा गया था कि संविधान की वह धारा बदल देनी चाहिए जिसमें हिन्दी को राजभाषा घोषित किया गया है। पी० टी० आई० के अनुसार इन संसद-सदस्यों में कम्युनिस्ट पार्टी, द्रविड़ कषगम, स्वतन्त्र पार्टी, आर० एस० पी० तथा मुस्लिम लीग के नेता थे।

योगीन्द्र शर्माजी विचार करें, भारतीय राष्ट्रीयता और जनतन्त्र को कौन कलंकित करता है, सच्चाई के मुँह पर तमाचा कौन मारता है।

मैंने कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं की भाषा-नीति की आलोचना की थी। इसे उन्होंने 'हिन्दी भाषा और भारत देश को शाप' देना कहा है।

गद्य में अतिशयोक्ति अलंकार उन्हें बहुत प्रिय है और उसके व्यवहार पर वह कोई भी प्रतिबन्ध लगाना अनुचित समझते हैं।

'भाषा और समाज' से लम्बा उद्धरण देकर उन्होंने यह नतीजा निकाला है कि पहले मैं पंडिताऊ हिन्दी का विरोधी था, अब उसका समर्थक हो गया हूँ। अपनी रणनीति के अनुसार मेरी पुस्तक के वे अंश उन्होंने छोड़ दिए हैं जहाँ मैंने सुगढ़ पारिभाषिक शब्दों के निर्माण की प्रशंसा की थी। मैंने लिखा था—

"लेकिन पारिभाषिक शब्दावली में ऐसे भी बहुत से शब्द हैं जो बोलने में हिन्दी प्रवृत्ति का उल्लंघन नहीं करते और जिनके लिए विश्वास से कहा जा सकता है कि वे अवश्य लोकप्रिय होंगे। केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय द्वारा प्रकाशित कृषि-सम्बन्धी शब्दावली से हम कुछ शब्द ले सकते हैं।" (पृ० ४३३)

खास बात यह है कि मैंने उन लोगों का विरोध किया था जो पारिभाषिक शब्दावली को असन्तोषजनक बताकर केन्द्र में अंग्रेज़ी चलाते रहने का समर्थन करते थे। मैंने लिखा था—

"हिन्दी में काफ़ी पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हो चुका है। इनमें बहुत से अपने-अपने विषय की हिन्दी पुस्तकों में व्यवहृत भी होते हैं। जहाँ तक राजकाज का सम्बन्ध है, इस विषय के शब्दों का निर्माण विज्ञान की शब्दावली बनाने से आसान है। इसलिए विज्ञान में चाहे हिन्दी का प्रयोग कुछ दिन रुका भी रहे, राजभाषा के रूप में हिन्दी का व्यवहार रुके, इसका कोई कारण नहीं है।" (पृ० ४३३)

योगीन्द्रजी ने इससे उलटा निष्कर्ष निकाला है।

इस तरह की तर्क-पद्धति वे अपनाते हैं जो हठधर्मी से ग़लत नीति को भी सही साबित करने के लिए कमर कस लेते हैं। इस तरह विरोधी आलोचकों की बातों को तोड़-मरोड़कर पेश करने से जनवादी तत्त्वों में एकता स्थापित नहीं की जा सकती।

योगीन्द्रजी ने अन्ध-राष्ट्रवाद की बात बहुत बार की है। वह 'भाषा और समाज' के इस वाक्य पर भी गौर करें—

"वर्तमान अन्ध-राष्ट्रवाद की विशेषता यह है कि वह दूसरी भारतीय भाषाओं के

प्रति घृणा फैलाता है और अंग्रेजी को गले लगाता है।" (पृ० ४२५)

मैं चाहता हूँ कि पार्टी के नेताओं में हिन्दी के प्रति जो उपेक्षा-भाव है, वह खत्म हो। वे अपने सिद्धान्त और व्यवहार में एकता स्थापित करें। शासन-केन्द्र में चाहे एक भाषा चलाएँ चाहे अनेक, निश्चित अवधि में अंग्रेजी का चलन बन्द हो—यह माँग करें। अंग्रेजी को अनिश्चित काल के लिए भारत की राजभाषा बनाकर राष्ट्रीय जनतांत्रिक मोर्चे का निर्माण नहीं हो सकता।

(१९६५)

३७

देश का विघटन और अंग्रेज़ी

एक ज़माना था जब लोग समझते थे कि अंग्रेज़ी सभी भारतीय भाषाओं पर साम्राज्यवादियों द्वारा लादी हुई भाषा है। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान किसी भी देशभक्त को इस बारे में शक नहीं था कि अंग्रेजी की गुलामी अंग्रेज़ों की ही गुलामी का एक अंग है। उस समय राष्ट्रीय नेता मानते थे कि अंग्रेज़ी का प्रभुत्व राष्ट्र के लिए अपमान-जनक है। वे जानते थे कि अंग्रेज़ी शिक्षा के कारण देश की शक्ति और धन का अपार अपव्यय होता है। वे कहते थे कि देश पर मुट्ठी-भर अंग्रेज़ी-पढे हुकूमत करे, यह जनतन्त्र का मज़ाक है। उस ज़माने मे राष्ट्र के नेता भाषा की समस्या पर आम जनता के दृष्टिकोण से विचार करते थे। वे घोषित करते थे कि राष्ट्रीय एकता का अर्थ है भारत के करोड़ो श्रमिक जनों की एकता। यह एकता हिन्दी और केवल हिन्दी के द्वारा कायम हो सकती है।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद वे बातें अब पुरानी हो गई। जो अंग्रेज़ी की हिमायत करता है, वह उदार और प्रगतिशील माना जाता है। जो अंग्रेज़ी हटाने की बात करता है, वह पुराणपन्थी और हिन्दी-उन्मादी कहलाता है। राष्ट्रीय एकता के लिए सबसे आवश्यक है अंग्रेज़ी! अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के लिए एकमात्र विश्वभाषा है अंग्रेज़ी! ज्ञान-विज्ञान के लिए अनिवार्य माध्यम है अंग्रेज़ी!

अब राष्ट्रीय एकता का अर्थ जन-साधारण की एकता नहीं है। राष्ट्रीय एकता का अर्थ है अंग्रेज़ी-पढे नेताओं और नौकरशाहों की एकता। अब राष्ट्रीय एकता का प्रश्न जुड़ा हुआ है अखिल भारतीय नौकरियों के साथ।

तमिलनाड मे इतना उत्पात हुआ, तमिल की रक्षा के लिए? नहीं; लोगों को भय दिखाया गया कि सरकारी नौकरियाँ हथिया लेंगे हिन्दीवाले, दक्षिणवाले टापते रह जाएँगे। हिन्दी के अत्याचार से बचने के लिए कुछ लोगों ने सुझाव दिया कि हर राज्य के लिए नौकरियों का 'कोटा' निश्चित कर दिया जाय।

पिछले छः महीने से यह नौकरियों का सवाल अंग्रेज़ी-पढ़े बाबुओं के सामने है। उनके लिए यह सबसे महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्या है। अंग्रेज़ी-पढ़ा नौकरशाह वर्ग आम जनता से कितनी दूर है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इस समुदाय के सामने भाषा-समस्या का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू है—नौकरी!

देश की राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस के नेता भाषा-समस्या पर विचार करते हैं तो उनके सामने मुख्य प्रश्न होता है अखिल भारतीय नौकरियों की परीक्षाएँ कितनी भाषाओं में होंगी।

यह मानते हुए कि अपनी जगह नौकरियों की समस्या का भी महत्व है, हमें राष्ट्रीय एकता के प्रश्न को सरकारी नौकरियों के दायरे में बन्द न कर देना चाहिए। विभिन्न प्रदेशों की श्रमिक जनता की एकता किस तरह कायम की जाय, शासन-तन्त्र में आम जनता किस तरह भाग ले, राज्यसत्ता कुछ ऊपरवाले निहित स्वार्थों के हाथ में कठपुतली बनकर न रह जाय—भाषा की समस्या पर विचार करते हुए इन प्रश्नों को हमेशा सामने रखना चाहिए।

कांग्रेस कार्यसमिति ने फैसला किया है कि अखिल भारतीय नौकरियों की परीक्षाएँ अंग्रेजी, हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं में होंगी। कुछ पर्चे अंग्रेजी और हिन्दी में अनिवार्य होंगे। जिन उम्मीदवारों की भाषा हिन्दी होगी, उनके लिए एक पर्चा किसी अहिन्दी भाषा में होगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक राज्य की भाषा, शासन और शिक्षा का माध्यम बनेगी। हिन्दी-शिक्षण के स्तर को ऊँचा किया जाएगा। "अंग्रेजी ऐसी भाषा के रूप में पढ़ाई जाती रहेगी, जिसकी महत्वपूर्ण भूमिका है।" तीन भाषाएँ सीखने की नीति दृढ़ता से लागू की जाएगी। हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का विकास किया जाएगा।

जिन लोगों ने कांग्रेस कार्यसमिति के फैसले का स्वागत किया है, उनका विचार है कि अब अंग्रेजी की जगह प्रादेशिक भाषाओं का चलन हो जाएगा।

इस आशा का आधार क्या है?

प्रादेशिक भाषाएँ केवल परीक्षाओं का माध्यम बनेंगी, केन्द्रीय राजकाज का माध्यम नहीं। राजकाज होगा अंग्रेजी में। अखिल भारतीय सेवाओं में यह तो होगा नहीं कि परीक्षा में जिसका माध्यम तमिल है, उसे नौकरी तमिलनाड में ही करनी होगी। अखिल भारतीय नौकरियों का मतलब ही यह है कि किसी भी अफसर को एक राज्य से दूसरे राज्य में भेजा जा सकता है। तब यह विभिन्न प्रदेशों का कार्य किस भाषा में होगा? क्या तमिलभाषी अफसर दिल्ली में अपना दफ्तर तमिल में चलाएगा? या बँगलाभाषी अफसर मद्रास में अपना काम बँगला में करेगा?

स्पष्ट है कि अखिल भारतीय नौकरियों का माध्यम अंग्रेजी ही रहेगी।

कांग्रेस कार्यसमिति ने यह फैसला नहीं किया कि केन्द्रीय सरकारी नौकरियों में अंग्रेजी की जगह प्रादेशिक भाषाओं का व्यवहार होगा। फैसला यह किया है कि परीक्षाओं में अंग्रेजी के साथ प्रादेशिक भाषाएँ भी माध्यम बन सकती हैं।

इसलिए यह आशा लगाना व्यर्थ है कि केन्द्रीय राजकाज में अंग्रेजी की जगह प्रादेशिक भाषाओं का व्यवहार होने लगेगा, या अंग्रेजी के साथ उन्हें कहीं बालिश्त-भर जगह भी मिल जाएगी।

परीक्षाओं के लिए भी प्रादेशिक भापाओं को अनिवार्य माध्यम नहीं वनाया गया। माध्यम वनने के लिए उन्हें विकसित होना है, अपने प्रदेश में राजभापा बनना है, विश्वविद्यालयों में उच्चतम शिक्षा का माध्यम वनना है। वनने-वनाने का यह सारा क्रम कव समाप्त होगा, इसकी कोई अवधि निश्चित नही की गई।

भारत सरकार पन्द्रह साल से हिन्दी के विकास में लगी है, लेकिन अभी कही उस विकास का छोर नही दिखाई देता। वड़े-वड़े कोश वन जाने के वाद भी कार्यसमिति के प्रस्ताव में हिन्दी को अभी और विकसित करने की वात कही गई है।

यह अद्भुत राष्ट्रभापा-प्रेम है ! हिन्दी के विकास से वह कभी सन्तुष्ट नहीं होता ! विकास के अपूर्ण होने से वह अंग्रेजी को ही राष्ट्रभापा वनाए रहता है !

प्रादेशिक भाषाओ के प्रेमी समझ ले, उन्हें अपनी भापाओं के विकास के लिए कितनी लम्वी प्रतीक्षा करनी होगी।

प्रादेशिक भापाओं को पन्द्रह साल से यह अधिकार प्राप्त है कि वे उच्च शिक्षा का माध्यम वनें, प्रदेशों की राजभापा वनें। लेकिन इस अधिकार का उपयोग क्यो नहीं हुआ ? कांग्रेस के प्रस्ताव में कही इस वात की कैफियत नही दी गई कि, हर राज्य में शासन की वागडोर कांग्रेस के हाथ में होने पर भी, उस अधिकार का पूरी तरह उपयोग क्यों नहीं किया गया।

जिस अधिकार का उपयोग पन्द्रह साल में नहीं हुआ, इस प्रस्ताव के वाद उसका उपयोग होगा ही, इसका क्या प्रमाण है ? इसके विपरीत उसका उपयोग आगे भी न होगा, इसका प्रमाण है।

केन्द्र में जव तक अंग्रेज़ी का वोलवाला रहेगा, तव तक राज्यों में प्रादेशिक भापाओं को पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं हो सकते। अंग्रेज़ी-पढ़ा उम्मीदवार पहले अखिल भारतीय अफसर वनने की कोशिश करता है। इस कोशिश में असफल होता है तव प्रादेशिक अफसर वनने का प्रयत्न करता है। यहाँ भी नाकामयाव रहा तो मास्टरी या क्लर्की करता है। स्थिति यह है कि रेल, वैंक, डाक, तार, फौज, पुलिस, प्राइवेट फर्म—कही भी मामूली क्लर्की अंग्रेजी के विना नही मिलती। लाखों नौजवान हर साल फेल होते हैं, अंग्रेजी की वजह से। देश में शिक्षा वेहद महँगी है, अंग्रेज़ी के कारण।

इसलिए जो लोग धन और श्रम-शक्ति के इस अपव्यय को वन्द करना चाहते हैं, जो राज्यों में प्रादेशिक भाषाओं को उनके पूर्ण अधिकार दिलाना चाहते हैं उनके सामने एक ही कर्तव्य हो सकता है—केन्द्र में अंग्रेज़ी के प्रभुत्व को खत्म करना।

जो लोग सोचते हैं कि केन्द्र में अंग्रेज़ी के हटने से नौकरियाँ हिन्दीवालों को ज्यादा मिल जाएँगी, उनका भय दूर करना कठिन नहीं है। हिन्दीभापी उम्मीदवारों के लिए एक आधुनिक अहिन्दी भापा का ज्ञान अनिवार्य कर देना चाहिए। कांग्रेस कार्यसमिति के प्रस्ताव में यह नियम शामिल किया गया है कि हिन्दी-भापियों के लिए एक पर्चा अहिन्दी भापा का होगा। देश की भावात्मक एकता के लिए मुख्य जोर आधुनिक

प्रादेशिक भाषाएँ सीखने पर होना चाहिए।

किन्तु कांग्रेस के तीन भाषा वाले सूत्र में मुख्य जोर है अंग्रेजी पर। इसीलिए उस सूत्र को अमल में लाना कठिन होता है। वह जिस तरह अमल में लाया गया है, उससे किसी को सन्तोष नहीं है। सन्तोष इसलिए नहीं है कि अमल में लानेवालों की निगाह अंग्रेजी पर पहले है हिन्दी और भारतीय भाषाओं पर बाद को।

श्री सादिक अली कांग्रेस के जाने-माने नेता हैं। कांग्रेस के संगठन-कार्य से उनका विशेष सम्बन्ध रहा है। उन्होंने कार्यसमिति के प्रस्ताव की व्याख्या करते हुए ७ जून के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में एक लेख लिखा है। उसमें उन्होंने स्पष्ट कहा है कि तीन भाषाओं वाला फार्मूला लागू करने से अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार और भी अधिक होगा।

लिखा है "सन्देहवादी लोग कह सकते हैं कि तीन भाषाओं वाले फार्मूले को कारगर तरीके से लागू करने की गुंजाइश कम है। इसके बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि तीन भाषाओं वाले फार्मूले में अंग्रेजी वाला हिस्सा कारगर तरीके से जरूर लागू किया जाएगा।"

अंग्रेजी, और अधिक अंग्रेजी—यह है हमारे राष्ट्रीय नेताओं का दृष्टिकोण।

श्री सादिक अली का विचार है, "यह अच्छी बात है कि हमारे विद्यार्थियों में अंग्रेजी जानने की व्यापक इच्छा है।"

ऐसा है तो अंग्रेजी वैकल्पिक कर दीजिए। फिर देखिए, कितने लोग अंग्रेजी पढ़ते हैं। आगरा विश्वविद्यालय ने जब से बी० ए०-सी की परीक्षाओं में अंग्रेजी को वैकल्पिक कर दिया है, तब से लगभग नब्बे फी सदी विद्यार्थियों ने 'जनरल इंग्लिश' की परीक्षा देना बन्द कर दिया है।

श्री सादिक अली का मत है, "सही दृष्टिकोण यह है कि अंग्रेजी को उसका न्यायोचित स्थान (राइटफुल प्लेस) दिया जाय जिससे देश की सम्मिलित इच्छा शक्ति के सहारे वह फले-फूले। इस तरह उसके सामने ज्यादा सुन्दर, ज्यादा महान, ज्यादा रचनात्मक भविष्य होगा।"

न्यायोचित स्थान देना है अंग्रेजी को! रचनात्मक भविष्य है अंग्रेजी का! देश की सम्मिलित इच्छाशक्ति सहारा देगी अंग्रेजी को!

शासक वर्ग अपनी भाषा-नीति किस उद्देश्य से निर्धारित कर रहा है यह श्री सादिक अली के वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है।

सार्वभौम सत्ता होगी अंग्रेजी की। प्रादेशिक भाषाएँ होंगी उसकी दासियाँ!

उद्देश्य और इच्छाओं के अलावा हिन्दी-अहिन्दीभाषी राज्यों को यह अधिकार प्राप्त है कि जब तक उनके विधान-सभा, लोक-सभा तथा राज्य-सभा में प्रतिनिधि अपनी भारी बहुमत से अंग्रेजी हटाने का प्रस्ताव पास न करें तब तक—यानी अनिश्चित काल के लिए—अंग्रेजी ही भारत की राष्ट्रभाषा रहेगी।

इस पर भी कुछ लोगों को यह दुःस्वप्न होता है कि कांग्रेस के प्रस्ताव से हिन्दी

साम्राज्यवाद के लिए रास्ता साफ़ हो गया है। यदि लोकसभा यह प्रस्ताव पास कर दे कि भारत में सदा- सर्वदा के लिए अंग्रेज़ी एकमात्र राजभाषा रहेगी, तब भी ये लोग कहेंगे, उत्तरवाले दक्षिणवालों पर राज्य कर रहे हैं। जिन लोगों की नीति है कि हर बहाने 'द्रविड़-भारत' को 'आर्य-भारत' से अलग कर दिया जाय, वे अंग्रेज़ी के बारे में किसी भी आश्वासन से सन्तुष्ट नहीं हो सकते।

अंग्रेजी की जड़ मज़बूती से जमी है। कांग्रेस कार्यसमिति के प्रस्ताव को क़ानूनी रूप देने से वह और भी पुख्ता हो जाएगी। किसी को यह भय न होना चाहिए कि प्रादेशिक भाषाओं को नये अधिकार मिल गए हैं और अब अंग्रेजी के अभाव में राष्ट्रीय एकता छिन्न-भिन्न हो जाएगी।

यदि अंग्रेज़ी से राष्ट्रीय एकता दृढ़ होती थी तो भविष्य में वह और भी सुदृढ़ हो जाएगी।

किन्तु क्या सचमुच अंग्रेज़ी से राष्ट्रीय एकता दृढ़ होती है?

सन् '४७ में जब एक राष्ट्र से दो राष्ट्र बने, तब अंग्रेजी-पढे लोग ही विघटन-कारी प्रचार के अगुआ थे। बम्बई में संयुक्त महाराष्ट्र आन्दोलन के दौरान गुजरातियों और मराठी-भाषियों में संघर्ष हुआ। इसके नेता भी अंग्रेज़ी-पढ़े लोग थे। असमय में बँगालियों और असमियों के बीच दंगे हुए। यहाँ भी भाषा-सम्बन्धी आन्दोलन के नेता थे अंग्रेज़ी-पढ़े भद्र लोग। तमिलनाड में जो उत्पात हुआ, उसके सूत्रधार अंग्रेज़ी-प्रेमी सज्जन थे। कश्मीर में अलगाव के नेता विलायत जाकर अंग्रेज़ी में भाषण देनेवाले लोग हैं। नागालैण्ड के अलगाव-पन्थी नेता विलायत ही में निवास करते हैं।

अंग्रेज़ी-पढ़ा वर्ग भारत में विघटन-प्रक्रिया रोकने मे असमर्थ है। दिवालिये राजनीतिज्ञ राष्ट्रीय एकता कायम रखने के लिए जितना ही इस समुदाय का भरोसा करते हैं उतना ही विघटनकारी शक्तियाँ प्रबल होती जाती हैं।

राष्ट्रीय एकता को दृढ़ करने का दूसरा तरीका है जन-साधारण का भरोसा करना, फौलाद ढालनेवालों और अन्न पैदा करनेवालों की एकता के बल पर राष्ट्र को मजबूत करना। इस तरह की स्थायी और अपराजेय एकता हिन्दी से कायम हो सकती है, अंग्रेज़ी से नहीं।

कांग्रेस कार्यसमिति के प्रस्ताव में इस तरह की एकता पर ध्यान नहीं दिया गया। उसमें भरोसा किया गया है अखिल भारतीय सेवाओं में लगे हुए नौकरशाहों का। प्रस्ताव में एकता का माध्यम हिन्दी नहीं, अंग्रेज़ी है। अंग्रेज़ी को हटाने के लिए कोई अवधि निश्चित नहीं की गई। इसलिए इस प्रस्ताव का विरोध ही किया जा सकता है, स्वागत नहीं।

तमाम प्रादेशिक भाषाओं को अंग्रेज़ी की गुलामी से मुक्त करने के दो उपाय हैं—

(१) केन्द्र में अंग्रेज़ी की जगह हिन्दी हो, राज्यों में प्रादेशिक भाषाएँ राजभाषा हों;

(२) राज्यों में तो प्रादेशिक भाषाएँ राजभाषा हों ही, केन्द्र में भी अंग्रेजी की जगह उन सबका व्यवहार हो।

पहला उपाय ज्यादा व्यावहारिक है, संविधान के अनुकूल है। अनेक राजनीतिक दल उसका समर्थन भी करते हैं। किन्तु जब प्रश्न उठता है, कब तक अंग्रेजी हटाई जाएगी, तब परिवर्तन की अवधि अनिश्चित हो जाती है। नेताओं के सामने सीधा-सा बहाना है। अहिन्दीभाषी नहीं चाहते कि हिन्दी केन्द्रीय राजभाषा हो, इसलिए फिलहाल अंग्रेजी ही चलेगी।

ऐसी स्थिति में अंग्रेजी हटाने के दूसरे उपाय पर भी विचार कर लेना चाहिए। यह उपाय कठिन है, व्यय-साध्य है किन्तु असम्भव नहीं है। स्विट्जरलैण्ड में जर्मन, फ्रांसीसी और इतालवी को समान अधिकार प्राप्त हैं। हमारे यहाँ भी केन्द्र में सभी भारतीय भाषाओं का चलन हो सकता है।

कांग्रेस के नेता कहते हैं, जब तक अहिन्दीभाषी राज्य हिन्दी को स्वीकार नहीं करते, तब तक केन्द्र में अंग्रेजी चलेगी।

हिन्दीभाषी जनता उनसे कह सकती है जब तक अहिन्दीभाषी राज्य हिन्दी को स्वीकार नहीं करते, तब तक केन्द्र में सभी भारतीय भाषाओं का व्यवहार होने दीजिए।

यदि देश के नेताओं को प्रादेशिक भाषाओं से सच्चा प्रेम है तो वे केन्द्र में अंग्रेजी की जगह उनका व्यवहार क्यों नहीं करते ?

यदि भाषाओं के अविकसित होने का सवाल हो, तो कमीशन बिठाकर इस बात की जाँच कराएँ कि भारतीय भाषाओं के विकास में कौन-सी कमी रह गई है।

जो नेता भारतीय भाषाओं के अविकसित होने से परेशान हैं, उन्हें अपनी शिक्षा के स्तर पर भी ध्यान देना चाहिए।

विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में पारिभाषिक शब्दों से सम्बन्धित कठिनाई हो सकती है। लेकिन यहाँ सवाल राजकाज के लिए भारतीय भाषाओं के व्यवहार का है। क्या लोकसभा में आज तक कोई ऐसा भाषण हुआ है जिसके लिए अंग्रेजी ही माध्यम बन सकती थी जिसकी विषयवस्तु प्रकट करने की क्षमता भारतीय भाषाओं में नहीं थी ? क्या इस बात पर विश्वास किया जा सकता है कि जिन भाषाओं में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सुब्रह्मण्य भारती, वल्लत्तोल, प्रेमचन्द आदि ने अपनी महान् साहित्यिक रचनाएँ की हैं, उनमें श्री लालबहादुर शास्त्री, या श्री हीरेन मुकर्जी, या अन्य राजनीतिज्ञ अपना मन्तव्य प्रकट नहीं कर सकते ?

असल में बात यह है कि अधिकांश राजनीतिक पार्टियाँ अपने जन्मकाल से अब तक अपना अखिल भारतीय राजनीतिक काम अंग्रेजी में ही करती रही हैं। इनके नेता तरह-तरह के बहाने करते हैं, अपने अनुयायियों को तरह-तरह से बहकाते हैं। वे अपने दफ्तरों से अंग्रेजी निकाल नहीं पाते। जब तक जनता इनके दफ्तरों के सामने प्रदर्शन न करेगी, इनके केन्द्रीय भवनों से अंग्रेजी निकालने के लिए इन पर दबाव न डालेगी, तब तक ये नेता

अपनी नीति से बाज न आएँगे। भारतीय जनतन्त्र के संचालक ये ही लोग हैं। वे अपने पार्टी-कार्यों में अंग्रेज़ी से चिपके हुए हैं। तब सरकारी दफ्तरों और विश्वविद्यालयों से अंग्रेज़ी क्या खाकर निकालेंगे ?

इस समय नेता लोग देश में हवा बाँधे हैं कि अंग्रेज़ी के बिना न राष्ट्रीय काम चल सकता है, न अन्तर्राष्ट्रीय। यह हवा सिर्फ़ ऊपर-ऊपर है। ग़रीब जनता का काम तो अंग्रेज़ी के बिना ही चलता है। ऐसी हालत में जो राजनीतिक पार्टी अपने केन्द्रीय राजकाज में अंग्रेज़ी का चलन खत्म करती है, वह देश की बहुत बड़ी सेवा करती है। वह लोगों में आत्मनिर्भरता की चेतना दृढ़ करती है। वह अंग्रेज़ी-प्रेमियों को दिखला देती है कि अंग्रेज़ी के बिना भी काम चल सकता है।

श्री कामराज नाडार कांग्रेस के अध्यक्ष होते हुए भी तमिल में भाषण करते हैं। इससे देश में विघटन पैदा नहीं हो गया। क्या ही अच्छा हो यदि राष्ट्रसंघ में भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के नेता एक बार श्री कामराज हों और वहाँ जाकर तमिल में भाषण करें।

सोवियत संघ के प्रतिनिधि मन्यूल्स्की ने एक बार राष्ट्रसंघ के सामने उक्रैनी में भाषण किया था। तब श्री कामराज वहाँ तमिल में भाषण क्यों नहीं कर सकते ? मिस्र के अध्यक्ष श्री नासिर राष्ट्रसंघ के सामने अरबी में भाषण कर सकते हैं तो हमारे सम्मान्य प्रधानमन्त्री अफ्रीकी-एशियाई सम्मेलन के सामने हिन्दी में भाषण क्यों नहीं कर सकते ? भारतीय भाषाओं के व्यवहार से अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारा कमज़ोर नहीं होता, वरन मित्र-देशों में हमारी प्रतिष्ठा बढ़ती है। पिछले दिनों जब प्रधानमन्त्री सोवियत संघ गए, तब जगह-जगह हिन्दी वाक्यों से सजे हुए वन्दनवारों से उनका स्वागत किया गया। इससे सोवियत-भारत-मैत्री कमज़ोर नहीं हो गई।

क्या ही अच्छा होता यदि कांग्रेस कार्यसमिति स्वयं अपने लिये एक प्रस्ताव पास करती कि भविष्य में उसका काम अंग्रेज़ी में न होगा, भारतीय भाषाओं में ही होगा !

भारतीय जनतन्त्र के कर्णधार हमारे सीमित साहित्यिक अनुभव की ओर भी दृष्टिपात कर लें।

भारतीय भाषाओं ने एक-दूसरे को प्रभावित किया है, विभिन्न प्रदेश सांस्कृतिक स्तर पर एक-दूसरे के निकट आए हैं; रवीन्द्रनाथ ठाकुर से लगभग सभी आधुनिक भाषाओं के लेखक न्यूनाधिक प्रभावित हुए हैं, शरत्‌चन्द्र और प्रेमचन्द की रचनाओं से करोड़ों पाठक परिचित हैं—यह सब अंग्रेजी के कारण सम्भव नहीं हुआ। जो गीत श्रीनगर से कन्याकुमारी तक—और देश की सीमाएँ पार करके पेशावर से सिंहल तक—गूँजे हैं, वे अंग्रेजी के सम्पर्क-भाषा होने के कारण नहीं।

अंग्रेजी के बिना भी काम चल सकता है। अंग्रेज़ी के बिना ही काम चलेगा। स्वाधीन भारत में अंग्रेज़ी नहीं चलेगी।

भारत सरकार लोकसभा में सभी भाषाओं में बोलने और भाषणों के अनुवाद की व्यवस्था करे। लोकसभा, राज्यसभा की कार्यवाही, क़ानून, मसौदे—सभी भारतीय भाषाओं

में प्रकाशित हों। अखिल भारतीय सेवाओं में भारतीय भाषाओं का व्यवहार हो। कांग्रेस की यह नैतिक जिम्मेदारी है कि इस सारे परिवर्तन का भार उठाये। अहिन्दीभाषी जनता हिन्दी नहीं चाहती, यह कहकर वह अपनी जिम्मेदारी से बच नहीं सकती।

एक बार लोकसभा में जब हमारे प्रतिनिधि भारतीय भाषाओं में बोलेंगे, तब उनका अंग्रेजी-मोह कम होगा। तब उन्हें बोध होगा कि हिन्दी से अन्य भाषाओं का दमन नहीं होता, वरन उससे राष्ट्रीय एकता दृढ़ होती है। एक बार जब उन्हें विश्वास हो जाएगा कि उनकी भाषा को वही अधिकार प्राप्त हैं, जो हिन्दी को हैं, तब वे स्वेच्छा से हिन्दी बोलेंगे। जब तक अंग्रेजी अनिवार्य राजभाषा बनी हुई है, तब तक स्वेच्छा से हिन्दी बोलने की बात उनकी समझ में न आएगी।

जो लोग सचमुच चाहते हैं कि अहिन्दीभाषी राजनीतिज्ञ स्वेच्छा से हिन्दी को केन्द्रीय भाषा मानें, वे अब तक जनता के सामने कोई ऐसा कार्यक्रम नहीं रख सके जिससे इस उद्देश्य की पूर्ति हो। वे समझते हैं कि 'फिलहाल अंग्रेजी कायम रखने से अपने-आप अहिन्दीभाषियों में स्वेच्छा उत्पन्न हो जाएगी। पिछले पन्द्रह साल का अनुभव कुछ दूसरा है। अंग्रेजी की जड़ें और मजबूत हुई हैं। शिक्षित वर्ग के सामने से स्वेच्छापूर्वक हिन्दी अपनाने की बात दूर चली गई है। इस स्थिति का मूल कारण है अंग्रेजी को पाल पोसकर मजबूत करने की नीति। अहिन्दीभाषी राजनीतिज्ञों के हिन्दी-विरोध का कारण यह नहीं है कि उन पर जबरदस्ती हिन्दी लादी गई है। हिन्दी विरोध का कारण यह है कि वे 'स्वेच्छा' से अपने ऊपर अंग्रेजी लादे रखना चाहते हैं।

इसी समझ को बदलना है।

सभी भारतीय भाषाओं को केन्द्र में समान अधिकार प्राप्त हों—इस आधार पर अंग्रेजी के विरुद्ध सभी सच्चे भारतीय भाषा प्रेमियों की एकता स्थापित की जा सकती है।

राष्ट्र के नेताओं से निवेदन है जब तक अहिन्दीभाषी नेता केन्द्रीय राजभाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकार नहीं करते, तब तक सभी भारतीय भाषाओं को केन्द्रीय राजभाषा बनाए रहिए। अंग्रेजी हटाने का यह कार्यक्रम अगले पाँच वर्ष में पूरा कीजिए। पूर्व-निश्चित अवधि के पन्द्रह वर्ष पहले ही बीत चुके हैं। पाँच वर्ष की अतिरिक्त अवधि काफी है। शिक्षाक्रम में अंग्रेजी को वैकल्पिक बनाइए। केन्द्रीय सेवाओं तथा विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी की अनिवार्यता पाँच साल में खत्म कीजिए।

अंग्रेजी की दासता से भारतीय भाषाओं को मुक्त करना हर देशभक्त का पवित्र कर्तव्य है। इस कर्तव्य को पूरा करके राष्ट्र के नेता जनता के श्रद्धाभाजन बनेंगे। इसके विपरीत यदि उन्होंने अंग्रेजी को राजभाषा बने रहने दिया तो भावी विघटन के लिए उन्हीं को जिम्मेदार ठहराया जाएगा। (१९६५)

३८

प्रगतिशील साहित्यकार और भाषा-समस्या के जनतांत्रिक समाधान

प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन के आरम्भ में उसकी भाषा-सम्बन्धी मान्यताएँ वही थीं जो गांधीजी के नेतृत्व में चलनेवाले राष्ट्रीय आन्दोलन की थी। अंग्रेजी की जगह हिन्दी या हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा होगी; हिन्दी-उर्दू मूलतः एक ही भाषा हैं और उन्हें मिलाना प्रगतिशील लेखकों का कर्तव्य है, ये मान्यताएँ प्रेमचन्द के भाषणों में थी। उस समय हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी को लेकर ज़ोरदार बहस होती थी। हिन्दी-उर्दू बुनियादी तौर से एक ही भाषा हैं, इस बात को प्रायः सभी लेखक मानते थे। यह मान्यता नयी नहीं थी। बालमुकुन्द गुप्त जैसे लेखक बहुत पहले इस मान्यता को स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर चुके थे। बहस इस चीज को लेकर थी कि हिन्दुस्तानी भाषा बन चुकी है या बनाई जाय, उसका रूप उर्दू के अधिक निकट है या हिन्दी के, हिन्दी-उर्दू को मिलाने के लिए लिपि कौन-सी हो।

हिन्दीभाषी प्रदेश में उस समय प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन के संगठनकर्ता और संयोजक ज़्यादातर उर्दू के लेखक थे। प्रेमचन्द हिन्दी-उर्दू दोनों के लेखक माने जाते थे। सन् '३६ में, इस नये साहित्यिक आन्दोलन के आरम्भ में ही, उनका देहान्त हो गया। अब इसके नेताओं में ऐसे लोग रह गये जो या तो उदीयमान साहित्यकार थे जैसे श्री अली सरदार जाफरी या जो साहित्यकार कम और आन्दोलनकारी ज़्यादा थे जैसे डॉ० अब्दुल-अलीम और श्री सैयद सज्जाद ज़हीर।

१९३८ में कलकत्ता में दूसरा अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक-सम्मेलन हुआ। इसमें डॉ० अब्दुल अलीम ने 'हिन्दुस्तानी की समस्या' नाम से अंग्रेज़ी में एक निबन्ध पढ़ा। इसमें उन्होंने कहा कि हिन्दी-उर्दू दो भाषाएँ नहीं है वरन् वे एक ही भाषा के दो साहित्यिक रूप हैं। हिन्दुस्तानी उस प्रदेश की भाषा है जिसे पुराने ज़माने में लोग हिन्दुस्तान कहते थे। इस प्रदेश के उत्तर में हिमालय है, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में पंजाब और पूर्व में बँगाल है। मुग़ल छावनियों की ज़बान को ज़बान-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला, संक्षेप में उर्दू, कहा जाता था। "इसका प्रचलित नाम हिन्दी था जो प्रारम्भिक मुस्लिम विद्वानों का दिया हुआ था और जिसका अर्थ था हिन्द की भाषा।" अकबर के ज़माने में

प्राकृत पर फारसी का असर पड़ने लगा। "यह असर डालनेवाले खत्री और कायस्थ थे जिन्होंने फारसी सीखी। फारसी राजभाषा थी। वे अपनी आम बोलचाल में फारसी के लफ्ज वैसे ही इस्तेमाल करने लगे जैसे कि ज्यादातर पढ़े-लिखे लोग आजकल अंग्रेजी के शब्द इस्तेमाल करते हैं।" १७१६ ई० में दक्खिन के शायर वली का काव्य-संग्रह दिल्ली पहुँचा। उत्तर के प्रारम्भिक मुस्लिम कवियों ने ज्यादातर पुराने भारतीय छंदों का प्रयोग किया था। दक्खिन के कवि फारसी की बहरें इस्तेमाल करते थे। "आश्चर्य की बात है कि उत्तर के शायरों को कविता का यह नया ढंग इतना अच्छा लगा कि वे दिल्ली की ज्यादा शुद्ध भाषा में (यानी उस भाषा में जो ज्यादा फारसी मिश्रित नहीं थी) वली के रंग-ढंग की नकल करने लगे। तभी से दोनों में भेद शुरू हुआ जो अब बढ़ते-बढ़ते बहुत चौड़ी खाई बन गया है।"

डा० अलीम की ये स्थापनाएँ बहुत महत्त्वपूर्ण थीं। वह एक खास प्रदेश की भाषा को हिन्दुस्तानी कहते थे। इस प्रदेश का पुराना नाम हिन्दुस्तान था, यह उन्होंने ठीक कहा था। कुछ लेखकों-शासकों-इतिहासकारों ने हिन्दुस्तान शब्द का बराबर प्रयोग किया है। डॉ० अलीम ने भाषा का सम्बन्ध किसी धर्म से नहीं जोड़ा। उन्होंने बोलचाल की भाषा में फारसी शब्दों की आमद का बहुत सही कारण बतलाया। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के मेल से नयी भाषा बनने की बात नहीं की। फारसी के शब्द बोलचाल की भाषा में इसलिए नहीं आ गए कि वे हिन्दू मुस्लिम मिलन के लिए आवश्यक थे। वे इसलिए आए कि फारसी राजभाषा थी और इस राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रभाव के कारण बोलचाल की भाषा में बहुत से फारसी शब्द घुल मिल गए। लेकिन बोलचाल की भाषा का साहित्यिक रूप एक ही था। उसके दो रूप तब हुए जब वली की नकल करनेवाले उत्तर के कवियों की रचनाओं में फारसीपन का रंग गाढ़ा होने लगा। उर्दू का यह साहित्यिक विकास अठारहवीं सदी की घटना है और मुसलमानों के भारत आने से, भारत में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के मिलन से या इस्लाम से उसका कोई सम्बन्ध न था।

यह एक सही वैज्ञानिक और साम्राज्य विरोधी दृष्टिकोण था। गिलक्रिस्ट और ग्रियर्सन उर्दू-हिन्दी का सम्बन्ध धर्म से जोड़ चुके थे। डॉ० अलीम ने उस सम्बन्ध को अस्वीकार करके भाषा-समस्या के वैज्ञानिक विवेचन और सही समाधान की ओर महत्त्वपूर्ण कदम उठाया था। धर्म को आधार मानकर कोई समस्या हल नहीं की जा सकती, न लिपि की, न शब्दों के चुनाव की। हिन्दी-उर्दू समस्या पर जो भी विचार करे, उसे शुरुआत इस सूत्र से करनी चाहिए कि वे एक ही जाति की भाषा हैं, धर्म के आधार पर हिन्दू-मुस्लिम दो कौमें नहीं, उर्दू और हिन्दी का बुनियादी बोलचाल का रूप एक है।

हिन्दी-उर्दू में भेद होते हुए भी उनके साहित्य में बहुत बड़ी समानता है। डॉ० अलीम के लेख में इस समानता पर जोर नहीं है। उन्होंने हिन्दी और उर्दू को कृत्रिम रूप कहकर धता बता दी। इससे हिन्दी और उर्दू के प्रगतिशील लेखक हिन्दी-उर्दू साहित्य को प्रभावित करने के बदले उससे अपने को अलग कर सकते थे। उन्होंने मीर अम्मन और

लल्लूजी लाल के बाद तमाम साहित्यिक विकास को हिन्दुस्तान के विकास के लिए घातक बताया। उन्होंने कांग्रेस को फटकारा कि इतने दिन से हिन्दुस्तानी की माला जपने के बाद भी उसके विकास के लिए उसने कुछ नहीं किया। उन्होंने इलाहाबाद की हिन्दुस्तानी अकादमी को सुझाया कि वह हिन्दुस्तानी के विकास की योजना बनाए। उन्होंने 'हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी' के शब्दों का व्यवहार हानिकारक बताया (क्योंकि इससे हिन्दुस्तानी का सम्बन्ध हिन्दी से जुड़ता था)। प्रगतिशील लेखकों से उन्होंने कहा, मुख्य समस्या यह है कि हिन्दुस्तानी अभी विकसित साहित्यिक भाषा नहीं है; आप लोगों को उसे विकसित कर देना चाहिए। पारिभाषिक शब्द अंग्रेजी से लेने की सलाह दी जो उनकी समझ में अधिकांश सभ्य देशों की भाषाओं में सामान्य थे। लिपि की समस्या, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी की राय का समर्थन करते हुए, उन्होंने रोमन लिपि अपनाकर हल करने की सलाह दी।

रोमन लिपि अपनाने में उन्हें सबसे बड़ा लाभ यह दिखाई दिया, "इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि अपनी लिपियों को छोड़ देने से अपने बहुत से पुराने साहित्य से हमारा सम्बन्ध अपने-आप टूट जाएगा। धार्मिक पुनरुत्थानवादी इसे बर्दाश्त नहीं कर सकते। हमलोग अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं के आमूल परिवर्तन में विश्वास करते हैं। हम अपने साहित्य को बुद्धिसंगत बनाने में (इन रैशनलाइजिंग अवर लिटरेचर) विश्वास करते हैं। इसलिए यह हमारा कर्तव्य है कि हम ऐसी लिपि अपनाएँ जो सबसे ज्यादा वैज्ञानिक हो और जिसे अपनाकर हम आधुनिक संसार की आवश्यकताएँ पूरी कर सकें।"

इस प्रकार डॉ० अलीम का दृष्टिकोण पुरानी साहित्यिक विरासत की तरफ बिलकुल अस्वीकृति का था। यह दृष्टिकोण वास्तव में साम्राज्यवादी लेखकों का रहा है जो भारत की सांस्कृतिक उपलब्धियों को हमेशा अमान्य करते रहे हैं। लार्ड मैकाले ने कुछ ऐसी ही बातें अपने प्रसिद्ध निबन्ध में कही थीं। डॉ० अलीम भारत की अन्य भाषाओं के साहित्य से अपरिचित थे; वह हिन्दी पढ़ लेते हैं लेकिन कम-से-कम सन् '३८ में जब उन्होंने यह निबन्ध लिखा था, तब वह हिन्दी साहित्य के विकास से अपरिचित थे। उनके मुख्य सलाहकार श्री मुल्कराज आनन्द भारतीय साहित्य की प्रगति से और भी कोरे थे। प्रेमचन्द के अभाव में ऐसा कोई लेखक नहीं था जो इन्हें संकीर्णतावाद से बचाता। राष्ट्रीय आन्दोलन से आधुनिक साहित्य का सम्बन्ध न समझने के कारण उन्होंने हिन्दी-उर्दू के साहित्य के प्रति यह संकीर्ण दृष्टिकोण अपनाया। राष्ट्रीय आन्दोलन और भारतीय साहित्य में नव-जागरण को न समझने के कारण वे बहुत जल्दी ऐसे नेताओं के प्रभाव में आ गए जो आत्मनिर्णय के नाम पर मुस्लिम लीग और पाकिस्तान का समर्थन करते थे।

इन नये नेताओं में श्री सैयद सज्जाद ज़हीर मुख्य थे। सन् '३८ में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के मंत्री डॉ० अब्दुल अलीम थे; द्वितीय महायुद्ध के दौरान उसके मंत्री हुए सज्जाद ज़हीर साहब। डॉ० अलीम की तुलना में वह साहित्यकार कुछ ज्यादा थे। उनका 'लन्दन की एक रात' उपन्यास सन् '३८ के आस-पास छप चुका था। सन् '४३

में '४७ तक वह कम्युनिस्ट पार्टी के भूतपूर्व नेता श्री पूरन जोशी के दाहिने हाथ रहे। मुस्लिम-समस्या पर उन्हें सलाह देने के अलावा श्री जोशी की आत्मनिर्णय वाली नीति को वह मुसलमानों में लागू भी करते थे। उस समय कम्युनिस्ट पार्टी का नारा था, कांग्रेस-लीग एक हो। यह नारा इस समझ के आधार पर दिया गया था कि भारत में दो राष्ट्र या दो तरह की राष्ट्रीयता विकसित होती रही हैं—एक हिन्दुओं की, दूसरी मुसलमानों की। इन दोनों को मिलकर अंग्रेज़ों से सत्ता देने की माँग करनी चाहिए।

मुसलमानों की अलग कौम है, उसे आत्मनिर्णय का अधिकार यानी देश से अलग होकर अपना राज्य बनाने का हक मिलना चाहिए, इस सिद्धान्त को भाषा-क्षेत्र में लागू किया जाय तो यह नतीजा निकलेगा ही कि हिन्दुओं की भाषा हिन्दी है, मुसलमानों की भाषा उर्दू है।

हिन्दी-उर्दू में भेद क्या हुआ ? इसलिए कि हिन्दुओं ने उर्दू का ढाँचा लेकर उसमें उन शब्दों को भरा जिनका सम्बन्ध हिन्दू संस्कृति से था।

'हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी समस्या का हल' नाम के निबन्ध में श्री सज्जाद ज़हीर ने लिखा, "आधुनिक हिन्दी ने खड़ी बोली का ढाँचा उर्दू से लिया और उसमें इसने उन शब्द-योजनाओं और परम्पराओं से उसे अनुप्राणित किया, जो हिन्दू संस्कृति के अभिन्न अंग थे।"

आधुनिक युग में राष्ट्रीयता का अभ्युदय कैसे हुआ ? राजा राममोहन राय ने 'अंग्रेज़ ईसाई मिशनरियों के हमले से हिन्दू धर्म को बचाने के लिए ब्राह्म-समाज की नींव डाली। इसका प्रभाव आधुनिक बंगाली संस्कृति के विकास पर पड़ा और बंगाल के 'इसी आन्दोलन से प्रभावित होकर हिन्दी साहित्य के प्रथम महारथी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपना आन्दोलन शुरू किया। उनकी रचनाओं ने 'मध्यवर्ग के शिक्षित हिन्दुओं के हृदय से वह नैराश्य और विषाद दूर कर दिया जो पराधीनता के कारण देश में छा गया था।' भारतेन्दु ने 'प्राचीन हिन्दू महापुरुषों और देवताओं को रंगमंच पर लाकर हिन्दुओं को उनके विगत वैभव' की याद दिलाई, 'हिन्दू-समाज की बुराइयों' की आलोचना की।

इस प्रकार "हिन्दी उत्तर भारत में (विशेषकर युक्त प्रान्त, बिहार, राजस्थान और मध्य प्रान्त के हिन्दुस्तानी भाग में) हिन्दू राष्ट्रीय जागरण का—जिसके विभिन्न पक्ष अथवा रूप धर्मोद्धार, धर्म-सुधार, समाज-सुधार और नवीन शिक्षा प्रचार हैं—एक शक्तिशाली माध्यम बन गई।"

श्री सज्जाद ज़हीर ने भारतेन्दु युग के साहित्य में जो साम्राज्य-विरोधी तत्त्व थे, जिनका सम्बन्ध हिन्दू-समाज से ही नहीं, सारे भारत से था, उन्हें नज़रन्दाज़ किया। उन्होंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त जैसे हिन्दी लेखक उर्दू में भी लिखते थे। उन्होंने गिलक्रिस्ट और ग्रियर्सन से दो कदम आगे बढ़कर धर्म के आधार पर साहित्य और भाषा का बँटवारा कर दिया। जो धार्मिक भावनाएँ पुराने साहित्य में रही हैं उन्हें उस साहित्य का एक पक्ष न मानकर, उन्होंने उन

भावनाओं को राष्ट्रीय जागरण का मुख्य चिह्न मान लिया।

कहीं उनके दिमाग में एक पुराना कीड़ा भी रेंग रहा था। यह मुश्तर्का ज़बान का कीड़ा था। हिन्दुओं और मुसलमानों के मेल-जोल से उर्दू का जन्म और विकास हुआ। इस सम्मिलित विकास को खत्म कर दिया सम्प्रदायवादी हिन्दुओं ने!

"उर्दू अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में उत्तर और मध्य भारत के सम्मिलित सामाजिक जीवन के सांस्कृतिक आदान-प्रदान की स्वाभाविक माध्यम बन गई थी।" उर्दू लेखकों में रतननाथ सरशार जैसे हिन्दू थे। पुराने पश्चिमोत्तर प्रान्त—आज के उत्तर प्रदेश—में १८६९ में चौबीस पत्र निकलते थे, उन्नीस उर्दू में, तीन हिन्दी-उर्दू दोनों में। इनमें अधिकांश के मालिक और सम्पादक हिन्दू थे। १८७१ में अवध में जो विद्यार्थी उर्दू पढ़ते थे, उनमें ज्यादातर हिन्दू थे। "अतः उर्दू भाषा और उसकी लिपि के विरोध और बहिष्कार को लेकर जो हिन्दी नागरी आन्दोलन आरम्भ हुआ, इसको अपने समाज और संस्कृति पर हिन्दुओं की ओर से अन्यायपूर्ण, संकुचित, साम्प्रदायिक प्रहार समझना मुसलमानों के लिए स्वाभाविक था।"

हिन्दुओं और मुसलमानों के सांस्कृतिक आदान-प्रदान का माध्यम उर्दू बनी। यह कार्य भी स्वाभाविक था। हिन्दी-आन्दोलन को मुसलमानों ने अन्यायपूर्ण समझा, यह भी स्वाभाविक था। हिन्दी हिन्दुओं की सांस्कृतिक भाषा बनी, यह भी स्वाभाविक था।

ये तीन स्वाभाविक क्रियाएँ एक साथ कैसे हो गई? ज़हीर साहब के अनुसार हिन्दुओं और मुसलमानों की मूलतः दो संस्कृतियाँ हैं। इनको आगे अलग-अलग विकसित होना ही था। "आरम्भ से ही मुसलमानों के निकट हिन्दी और देवनागरी लिपि आन्दोलन हिन्दुओं की कट्टर साम्प्रदायिकता और मुस्लिम संस्कृति-विरोध का द्योतक रहा है।" इसलिए "१९०० में जब देवनागरी भी उर्दू के समान अदालतों में जारी हो गई, तो सर सैयद को विश्वास हो गया कि 'अब हिन्दुओं और मुसलमानों का एक राष्ट्र होकर अपने अभ्युत्थान के लिए सम्मिलित प्रयत्न करना असम्भव हो गया है।' उसी समय उर्दू-रक्षा-समिति सर सैयद के तत्त्वावधान में कायम हुई।"

मुसलमानों का अलग राष्ट्र हो, उर्दू की रक्षा का प्रयत्न किया जाय—दोनों बातों का उल्लेख साथ-साथ किया गया है। श्री सज्जाद ज़हीर के पास हिन्दी-उर्दू विरोध का हल क्या है? या अठारह साल पहले उनके पास कौन-सा हल था? उनके पास वही हल था जो सर सैयद अहमद ख़ाँ ने बताया था और जिसका सर मुहम्मद इकबाल ने नये सिरे से प्रचार किया था।

उर्दू हिन्दुओं और मुसलमानों की एकमात्र मिली-जुली भाषा न रह सकी। कारण था हिन्दुओं की साम्प्रदायिक कट्टरता। इसलिए हिन्दू अलग, मुसलमान अलग; एक राष्ट्र की भाषा हिन्दी, दूसरे की उर्दू।

जिसे राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान साम्प्रदायिकता कहा जाता था, उसी को श्री सज्जाद ज़हीर और उनके सहयोगी श्री पूरनचन्द जोशी राष्ट्रीयता कहने लगे। हिन्दू

राष्ट्रवाद, मुस्लिम राष्ट्रवाद—ये दो नये ढंग के राष्ट्रवाद सामने आए। एक का प्रचार मुस्लिम लीग ने किया दूसरे का, उनके पीछे, उनसे प्रेरणा लेकर, हिन्दू महासभा और जनसंघ ने। इन्हें मार्क्सवाद के नाम पर वैज्ञानिक ठहराया श्री सज्जाद ज़हीर ने।

मुसलमानों ने हिन्दी-आन्दोलन का विरोध किया। "इस व्यापक विरोध को समझने के लिए हमें यह जानना चाहिए कि मुसलमानों के लिए उस समय यह समझना कठिन था कि हिन्दी नागरी आन्दोलन हिन्दुओं के देशव्यापी सांस्कृतिक नवोत्थान का ही एक अंग था।" यह हिन्दुओं का नवोत्थान जारी रहा और उसे आगे बढ़ाया महात्मा गांधी ने।

चौंकने की बात नहीं है। गांधीजी के राष्ट्रीय आन्दोलन को जिन्ना साहब हिन्दू आन्दोलन कहते थे या नहीं? फील्ड मार्शल अय्यूब खाँ हिन्दू भारत से मुस्लिम कश्मीर को आज़ाद कराने के जेहाद शुरू कर चुके हैं या नहीं? ब्रिटिश प्रचारक कहते हैं या नहीं कि श्री लालबहादुर शास्त्री पाकिस्तान से इसलिए लड़ रहे हैं कि वह हिन्दू हैं?

ज़हीर साहब के वैज्ञानिक विवेचन के अनुसार "सन् १९२० में जब राष्ट्रीय जागरण की एक नयी लहर कांग्रेस और महात्मा गांधी के नेतृत्व में उठी, तो इसके बाद हिन्दुओं में हिन्दी को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला। बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने अपना सुप्रसिद्ध काव्य 'भारत-भारती' इसी युग के आस पास (सन् १९१३) में लिखा। यह कविता उन गांधीवादी भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती है जो इस समय उत्तरी भारत के हिन्दुओं को आन्दोलित कर रही थीं।"

सन् '२० में जो राष्ट्रीय जागरण की नयी लहर उठी, उसने सात साल पहले की रचना 'भारत-भारती' को प्रभावित किया और इसमें वे गांधीवादी भावनाएँ हैं जो उस समय के हिन्दुओं को आन्दोलित कर रही थीं।

उधर "हिन्दुओं के ही समान उत्तरी भारत के मुसलमानों में राष्ट्रीय जागरण" की लहर उठ रही थी। इस राष्ट्रीय जागरण का सम्बन्ध गांधीजी के आन्दोलन से नहीं है। बीसवीं सदी के आरम्भ में "राजनीतिक जागरण के साथ-साथ स्वतन्त्रता का भाव भी मुसलमानों में जागने लगा।" राजनीतिक जागरण? क्या यह गांधीजी के आन्दोलन से बाहर कोई जागरण था? स्वतन्त्रता का भाव? किससे? अंग्रेजों से या हिन्दुओं से या दोनों से? उर्दू साहित्य ने नई करवट ली "और शिबली, ज़फ़र अली खाँ, अबुल कलाम और अन्त में इकबाल ने मुसलमानों के नवीन जागरण को व्यक्त किया।"

अबुल कलाम आज़ाद मुसलमानों के 'राष्ट्रीय' जागरण के नेता कैसे बने, यह नहीं बताया गया। मुझे याद है सन् '४७ के आस-पास इस तरह के 'राष्ट्रीय' जागरण की चर्चा करनेवाले समझते थे कि कांग्रेस और गांधीजी का साथ देनेवाले मुसलमान गुमराह हैं। वे मुस्लिम इत्तहाद को तोड़नेवाले लोग हैं। मुसलमानों के असली नेता कायदे आज़म जिन्ना और अन्य मुस्लिम लीगी हैं। इकबाल ने राष्ट्रीयता के साथ ग़द्दारी करके

साम्प्रदायिकता को अपनाया, स्वभावतः उसकी आलोचना श्री जहीर के लेख में नहीं है यद्यपि बहुत से उर्दू लेखकों ने इसके लिए इकबाल की आलोचना की थी।

नतीजा यह कि "आधुनिक उर्दू की तरक्की हिन्दुस्तानी मुसलमानों के विगत सौ वर्षों के राष्ट्रीय जागरण से सम्बद्ध है।" राष्ट्रीय जागरण से सम्बद्ध है तो नया राष्ट्र बनेगा ही; जहीर साहब के अनुसार उर्दू का सारा विकास पाकिस्तान की ओर—भारत के विभाजन की ओर संकेत करता था। हिन्दू सम्प्रदायवादी भी उर्दू के दमन के पक्ष में यही तर्क देते थे। मुश्किल यह थी कि उर्दू के लेखकों में प्रेमचन्द भी थे; वह दोनों राष्ट्रीय जागरणों में हिस्सा बँटा रहे थे। क्या कारण है कि किसान-जीवन के अमर चित्रकार प्रेमचन्द के सामने होते हुए श्री सज्जाद जहीर जैसे मार्क्सवादी हिन्दी-उर्दू साहित्य का सम्बन्ध हिन्दू और मुस्लिम राष्ट्रवाद यानी सम्प्रदायवाद से जोड़ने लगे? कारण है आम जनता से अलगाव। उनका जन्म अभिजात वर्ग में हुआ। अपने वर्ग के संस्कार मिटाने के लिए उन्हें आम जनता से जैसा सम्पर्क कायम करना चाहिए था, उन्होंने नहीं किया। आम जनता में काम किए बिना ही वह बहुत जल्दी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता बन गए। श्री पूरनचन्द जोशी हमेशा ऐसे लोगों की तलाश में रहे हैं जो आला खानदान के हों, विलायत जाकर पढ़े हों, दिमाग के कच्चे हों जिससे कि उनकी नयी-नयी स्थापनाएँ आसानी से मान लें। श्री सज्जाद जहीर बहुत अच्छे लेखक, बहुत अच्छे राजनीतिक कार्यकर्ता बन सकते थे यदि श्रीमान् पूरनचन्द जोशी ने उन्हें बिगाड़ा न होता।

इसलिए 'गोदान' की तारीफ करने के बाद इस सम्प्रदाय के तरक्की-पसन्द अदीब कहते थे कि जब प्रेमचन्द तरक्की-पसन्द बन रहे थे, तभी वह स्वर्गवासी हो गए। प्रेमचन्द के विकास को वे बिलकुल न समझते थे। उनका साहित्य हर तरह के सम्प्रदायवाद पर कितना जबर्दस्त प्रहार है, यह उन्हें बिल्कुल दिखाई न देता था। एक मित्र ने छः-सात साल पहले अपने एक भाषण में कहा था कि प्रेमचन्द हिन्दुओं की आलोचना तो कर लेते थे, मुसलमानों की आलोचना करते जैसे उन्हें डर लगता था। मैंने 'समालोचक' में इन हिन्दी लेखक मित्र के आरोप का विस्तार से जवाब दिया था। उन्हीं की तरह '४३-'४७ में बम्बई के कुछ राजनीतिज्ञ प्रेमचन्द के बारे में कहते थे कि वह महज हिन्दू समाज-सुधारक थे।

दिलचस्प बात है कि 'भारत-भारती' पर जहीर साहब ने स्वर्गीय रामचन्द्र शुक्ल की सम्मति उद्धृत की है। इस सम्मति में कहा गया है, "सत्याग्रह, अहिंसा, मनुष्यतावाद, विश्वप्रेम, किसानों और श्रमजीवियों के प्रति प्रेम और सम्मान, सबकी झलक हम पाते हैं।"

इसे भी उन्होंने हिन्दुओं को आन्दोलित करनेवाली गांधीवादी भावनाओं के प्रमाणस्वरूप पेश किया है।

आधुनिक उर्दू साहित्य में फिराक गोरखपुरी, कृश्नचन्दर, राजेन्द्रसिंह बेदी जैसे ग़ैर-मुसलमान लेखक भी हैं। सम्प्रदायवादी कहते हैं कि ये आधे मुसलमान हैं। जहीर साहब की राय यह थी कि "उर्दू साहित्य का अधिकांश पहले भी, और आज और भी

अधिकतर मुसलमानों से सम्बन्ध रखता है, और इसी कारण उर्दू साहित्य के अधिकांश भाग पर मुसलमानों की सभ्यता और संस्कृति की छाप है। बिलकुल वैसे ही हिन्दी के अधिकांश भाग पर हिन्दू सभ्यता के प्रभाव स्पष्ट हैं।" इस तरह प्रेमचन्द, फिराक, बेदी, कृष्णचन्दर वगैरह-वगैरह के बावजूद श्री सज्जाद ज़हीर ने साहित्य को हिन्दू-मुस्लिम सभ्यता के आधार पर दो हिस्सों में बाँट दिया।

उनके दिमाग़ पर धार्मिक पुनरुत्थानवाद का इतना गहरा रंग चढ़ा हुआ था कि हिन्दी-उर्दू साहित्य में उन्हें हिन्दू मुस्लिम सभ्यता के अलावा और कुछ दिखाई ही न देता था।

हिन्दू सम्प्रदायवादियों से जब कोई कहता है कि आप हिन्दू धर्म का प्रचार करते हैं धार्मिक संकीर्णता फैलाते हैं, तो वे जवाब देते हैं कि हमारा तात्पर्य धर्म से नहीं है, हिन्दुत्व एक जीवन-पद्धति है, वह इस देश की जीवन-पद्धति है, जो उसे माने वह हिन्दू।

ज़हीर साहब ने लिखा था, "जब मैं हिन्दू संस्कृति या मुस्लिम संस्कृति का नाम लेता हूँ तो मेरा तात्पर्य उनके धार्मिक भेदों से नहीं है। भारतीय सभ्यता को हम देश के विभिन्न भागों में विभिन्न रूप में देखते हैं, और इनमें हमें अनगिनत समानताएं मिलती हैं। फिर भी उन इलाकों में जहाँ उर्दू या हिन्दी आम तौर से बोली जाती है, हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति का भेद, हमें उर्दू और हिन्दी के साहित्यिक रूपों में स्पष्ट दिखाई देता है।"

हिन्दू सम्प्रदायवादी कहते हैं कि सारे भारत में एक ही संस्कृति है, हिन्दू संस्कृति। ज़हीर साहब कहते हैं, एक नहीं, दो संस्कृतियाँ हैं। हिन्दू संस्कृति तो है ही, एक मुस्लिम संस्कृति भी है।

मुस्लिम संस्कृति किन इलाकों में है? उन इलाकों में जहाँ उर्दू बोली जाती है। क्या सिंध और पूर्वी बंगाल की भाषा उर्दू है? नहीं। फिर भी मुस्लिम संस्कृति के नाम पर भारत का वह सारा हिस्सा अलग किया गया जहाँ किसी की भी मातृभाषा उर्दू नहीं है। जिनकी मातृभाषा उर्दू है वे भारत में ही हैं, इसलिए इलाकाई ज़बान की समस्या फिर भी बनी रह गई।

उर्दू में अब भी बहुत से अखबार निकलते हैं जिनमें धुआँधार हिन्दू सम्प्रदायवाद का प्रचार होता है। जो उर्दू में लिखे वह आधा मुसलमान हो जाय यह आवश्यक नहीं है। एक ही भाषा में हर तरह के विचार व्यक्त किए जा सकते हैं। भाषा और धर्म दो अलग चीज़ें हैं। उर्दू में फारसी के जो शब्द आए हैं, वे ईरान के सांस्कृतिक प्रभाव के कारण, धर्म के कारण नहीं। फारसी मुसलमानों की धार्मिक भाषा नहीं है। उनका धर्म-ग्रन्थ अरबी में है। यह अरबी इस्लाम से पहले भी थी, उसका जन्म इस्लाम के साथ नहीं हुआ। घोर धर्मान्ध व्यक्ति ही धर्म के साथ भाषा का सम्बन्ध जोड़ सकता है। उर्दू के इन रक्षकों को यह नहीं दिखाई देता कि कश्मीरी, सिन्धी, बँगला आदि भाषाएँ बोलनेवाले लाखों मुसलमान हैं जिनका उर्दू से कोई सम्बन्ध नहीं है।

और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जिन्होंने हिन्दी-आन्दोलन और हिन्दू राष्ट्रवाद को जन्म दिया, कैसी हिन्दी लिखते थे? क्या उनकी भाषा मे सभी शब्द हिन्दू होते थे?

जहीर साहब ने भारतेन्दु की भाषा-शैली का बहुत सही वर्णन किया है। लिखा है, "भारतेन्दुजी की भाषा पर जब हम दृष्टि डालते है तो उसमें प्रवाह और ओज के साथ-साथ यह भी देखते हैं कि वह अपनी हिन्दी मे अरबी और फारसी के प्रचलित शब्द निस्संकोच प्रयोग करते हैं। उनकी रचना हिन्दी होती है, उसमे संस्कृत का मिश्रण होता है, और वह ब्रज और अवधी की परम्पराओं का भी दामन नही छोड़ती। इस दृष्टि से इसमें और संप्रति प्रचलित उर्दू गद्य की शैली में काफ़ी अन्तर है।"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों को छोड़ा नहीं, उनकी भाषा में संस्कृत शब्द भी होते हैं, ब्रज, अवधी आदि की जनपदीय और साहित्यिक परम्पराएँ उससे जुड़ी हुई हैं—क्या हिन्दी-उर्दू की मिली-जुली साहित्यिक परम्परा इससे भिन्न किसी और तरह की भाषा अपना सकती है? इस तरह की भाषा पर हिन्दू राष्ट्रवाद का कौन-सा ठप्पा लगा हुआ था? इस भाषा से उर्दू की रक्षा का मतलब क्या होता है? संस्कृत शब्दों का बहिष्कार, सांस्कृतिक शब्दावली केवल अरबी-फारसी से ली जाय, जनपदीय बोलियों और हिन्दी की पुरानी साहित्यिक परम्परा से अलगाव। यह उर्दू की रक्षा नही, उसके विनाश का मार्ग है।

दो तरह की संस्कृतियों, दो तरह के 'राष्ट्रीय' जागरणों की मान्यताएँ प्रस्तुत करने के बाद भी जहीर साहब ने फ़िल्मो मे और मजदूर नेताओ के भाषणों में हिन्दी-उर्दू का मिला-जुला रूप देखा, यह उनकी शराफत थी। जब संस्कृतियाँ हिन्दू और मुस्लिम खेमों में विभाजित थीं, तब यह मिली-जुली भाषा कौन-सी संस्कृति को प्रतिबिम्बित करती थी, जो न हिन्दू थी, न मुसलमान—यह उन्होंने नहीं बताया।

कांग्रेस-लीग एक हो, यह नारा भाषा के क्षेत्र में लागू करते हुए उन्होंने राय दी—"भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी और उर्दू दोनों हों।"

उन्होने उदारता से लिखा, "उर्दू और हिन्दी के आज के पार्थक्य को स्वीकार करते हुए हमें प्रयत्न करना चाहिए कि यह पार्थक्य कम हो।

"इसलिए आवश्यक है कि इस समय हिन्दी और उर्दू का यह भाषा-क्षेत्र जो समान रूप से दोनों का एक है, जिसे सरल उर्दू, सरल हिन्दी या हिन्दुस्तानी का नाम दिया जाता है, कायम रहे और उसकी सीमा बराबर बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय।"

हिन्दी और उर्दू बुनियादी रूप में एक हैं; उनके साहित्यिक, शिष्ट रूप में आज भेद है, उसे दूर करना चाहिए। दोनों का भाषा-क्षेत्र एक है। दोनो का सामाजिक परिवेश एक है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए यदि श्री जहीर ने जाति की मार्क्सवादी व्याख्या पर विचार किया होता तो वह इस नतीजे पर अवश्य पहुँचते कि हिन्दी-उर्दू एक ही जाति की भाषा हैं, दोनों का साहित्य एक ही जाति का साहित्य है, उनमें एक ही राष्ट्रीय जागरण की झलक है, दो राष्ट्रों के जागरण की नही। मार्क्सवाद में कहीं भी इसका

प्रमाण नहीं है कि धर्म के आधार पर भाषा या जाति का निर्माण स्वीकार किया गया हो।

यदि हिन्दी-उर्दू का इलाका एक था, तो बंगाल और सिंध में आत्मनिर्णय का अधिकार किसके लिए? फिर पाकिस्तान का समर्थन क्यों?

इन प्रश्नों का उत्तर यह है इलाका तो एक है लेकिन 'उसकी सीमा बराबर बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय'।

जहीर साहब के दिमाग में नक्शा यह है कि मुसलमानों की भाषा एक है उर्दू। जो मुसलमान उर्दू नहीं बोलते, वे भी आगे चलकर उर्दू बोलने लगेंगे। मुस्लिम संस्कृति से उर्दू का सम्बन्ध जोड़ने का एक ही नतीजा होगा भारत के सभी मुसलमानों की भाषा उर्दू हो। इसीलिए धीरे-धीरे इलाका बढ़ाते जाओ एक दिन सब मुसलमान उसमें सिमट जाएँगे। उधर हिन्दुओं की राष्ट्रभाषा होगी हिन्दी। हिन्दू संस्कृति से हिन्दी का सम्बन्ध है, इसलिए हिन्दू मात्र की एक भाषा होगी हिन्दी। हिन्दू राष्ट्र में बंगला मराठी, तमिल आदि भाषाएँ कायम रहीं तो वे राष्ट्र का खण्डन करेंगी—यही सम्प्रदायवादियों का दृष्टिकोण रहा है।

श्री सज्जाद जहीर की मान्यताओं को श्री शिवदानसिंह चौहान ने और भी पुष्पित और पल्लवित किया।

'राष्ट्रभाषा विवाद और समाधान' नाम के निबन्ध में शिवदानसिंहजी ने पहले तो सम्प्रदायवादियों को फटकार बताई, कहा कि १४० साल से यह हिन्दी-उर्दू की बहस राजनीतिक उत्तेजना और 'धार्मिक-साम्प्रदायिक उन्माद के वातावरण में अविराम चलती आई है', "प्रतिपक्षियों ने अपनी तर्कावली को रूढ़ बना रखा है", उन्होंने सावधान किया कि वे दिन गये जब " 'आर्य भाषा' हिन्दी के समर्थक उसे हिन्दुओं की परम्परागत भाषा कहकर" उसका चलन कचहरियों और दफ्तरों में कराना चाहते थे, उन्होंने किंचित् खेद प्रकट किया कि "हिन्दी का नेतृत्व विशेषकर हिन्दू राष्ट्रवादियों के हाथ में है," उधर "उर्दू का नेतृत्व विशेषकर मुस्लिम राष्ट्रवादियों के हाथ में है।" इसके बाद उन्होंने प्रगतिवादियों की खबर ली जिन्होंने मिली-जुली भाषा हिन्दुस्तानी का समर्थन किया, 'इससे उन्हें राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर गहराई से सोचने से जैसे छुट्टी मिल गई और सरल समाधानों को ही स्वीकार कर उन्होंने अपनी इतिकर्तव्यता मान ली।"

भाषा-समस्या पर गहराई से विचार करके, सरल समाधानों को रास्ते से हटा कर संश्लिष्ट समाधानों की ओर साहस से कदम उठाते हुए श्री चौहान ने अपनी ये मान्यताएँ प्रस्तुत कीं—

—"सर्वप्रथम यह स्वीकार करने की आवश्यकता है कि हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भाषाएँ हैं।'

—"हिन्दी और उर्दूवालों को यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि ये दोनों अलग-अलग स्वतन्त्र भाषाएँ हैं।'

—"ये दोनों पृथक् भाषाएँ खड़ी बोली की ज़मीन पर संस्कृत और फारसी के खाद्-बीज से उत्पन्न दो पौधों के समान हैं, अतः दो भिन्न संस्कृतियों हिन्दू और मुस्लिम की प्रतीक हैं।"

ये मान्यताएँ नई नही हैं। हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायवादी यही बातें कहते रहे है। लेकिन यह श्री शिवदानसिंह चौहान का ही बूता था कि वह हिन्दू राष्ट्रवादियो की निन्दा करते हुए उन्ही की स्थापनाओं को अपने जनवाद के नाम पर दोहराते चलें।

उनका जनवाद धन्य है क्योंकि "हम जनवाद के उन सिद्धान्तो के आधार पर इस प्रश्न का समाधान करना चाहते हैं जिनका आधार अखड हिन्दुस्तान अथवा विभाजित हिन्दुस्तान की केन्द्रीय सरकारो को भी लेना पड़ेगा।"

श्री चौहान ने जनवाद पर इतनी गहराई से विचार किया था कि उन्होंने अखंड और खंडित दोनों तरह के देश के लिए अपना अचूक समाधान प्रस्तुत किया था—

"इस समय देश में 'पाकिस्तान' और 'अखंड हिन्दुस्तान' का विवाद छिड़ा हुआ है। हमने अपने विवेचन में अखंड अथवा विभाजित भारत को लक्ष्य मे रखकर कोई समाधान निकालने की चेष्टा नहीं की, क्योंकि हमारी दृष्टि में अखंड हिन्दुस्तान हो अथवा पाकिस्तान और हिन्दुस्तान अलग-अलग हो, दोनों दशाओं में राष्ट्रभाषा का वही समाधान होगा जिस पर हम अभी विचार करेंगे।"

असली चीज है जनवादी दृष्टि प्राप्त करना। गुरु-कृपा से जिसे यह दृष्टि प्राप्त हो जाती है, उसके लिए जैसे पाकिस्तान, वैसे अखंड भारत। गुरु श्री सज्जाद ज़हीर की कृपा से यह दृष्टि मुरीद श्री चौहान को प्राप्त हो गई।

"इस जनवादी उदार दृष्टि को प्राप्त करने पर राष्ट्रभाषा के प्रश्न का समाधान स्वतः स्पष्ट हो जाता है।"

अब देखिए इस उदार दृष्टि के प्राप्त होने से भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में सत्य कैसा स्पष्ट दिखाई देने लगता है।

पहले अतीत के दृश्य देखिए। भारत में मुसलमान आए। जब ताजे थे, तब तो हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का मेल हो गया, जब यहाँ रहते-रहते यही के हो गये, तब उनकी संस्कृतियों में भेद हो गया। और यह भेद करनेवाले थे ब्रज और अवधी के दो कवि—सूरदास और तुलसीदास!

सुनिए हिन्दी साहित्य के विकास का यह अभिनव जनवादी विश्लेपण।

"इसमें सन्देह नही कि भारत में मुसलमानों के आगमन के पश्चात् हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियो में एक लम्बी अवधि तक मुक्त आदान-प्रदान और मिश्रण होता रहा।"

ईरानियों की संस्कृति, अरबों, पठानों, उजबकों की संस्कृति—सब एक-सी, सब इस्लामी संस्कृति!

निर्गुणपंथियों और प्रेम-मार्गियों ने हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों को मिलाया। "इस संयुक्त विचार-परम्परा की कविताएँ यद्यपि सत्रहवी शताब्दी तक होती रहीं परन्तु

स्वामी रामानुजाचार्य के अनुयायी रामानन्द और श्री वल्लभाचार्य ने राम और कृष्ण की सगुणोपासना की जो परिपाटी चलाई उसने तुलसी और सूर जैसे महाकवियों को जन्म दिया जिन्होंने अवधी और ब्रज की काव्यधारा को कबीर और जायसी की हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों की सम्मिलित परम्परा से एकदम अलग कर दिया। अवधी और ब्रज की काव्य-परम्परा हिन्दू संस्कृति की प्राचीन काव्य परम्पराओं की उत्तराधिकारिणी बन गई। यह हिन्दू जातीयता की नवचेतना का परिणाम था।"

मुसलमानों के आने पर पहले तो सम्मिलित संस्कृति की धारा चली, फिर उसे सूरदास और तुलसीदास ने तोड़ दिया। यह भी अच्छा हुआ क्योंकि सत्रहवीं सदी से हिन्दू जातीयता का अभ्युत्थान आरम्भ हो गया था। इन महाकवियों ने उसे पहचाना और उसे अपने साहित्य में अभिव्यक्त किया।

रीति और भक्ति की काव्यधाराओं में भले ही बहुत से मुसलमानों ने योग दिया हो, श्री चौहान के अनुसार "ये काव्यधाराएँ हिन्दू जातीयता के नवोन्मेष की प्रतीक हैं।" इनके भाव विचार ही नहीं, "सौन्दर्य मूल्य, छन्द-रचना, ध्वनि-योजना, अलंकार विधान" भी "संस्कृत साहित्य और हिन्दू-आर्य संस्कृति से प्रभावित और निरूपित हैं।" चौहान ने यह नहीं बताया कि जिन कवियों ने हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का मेल किया था, उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम छन्दों का मेल कैसे किया था।

आधुनिक हिन्दी के युग में आइए। हिन्दू संस्कृति की वह परम्परा आगे भी कायम रही। लिखा है—'सूरदास और तुलसीदास के समय से भारतेन्दु काल तक ब्रज और अवधी की काव्य-परम्परा में वह विचारधारा ही सर्वप्रधान बनी रही।"

आधुनिक खड़ी बोली ने अपने से पहले की सांस्कृतिक परम्पराओं से सम्बन्ध यों जोड़ा। "खड़ी बोली हिन्दी ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशों से अपना सीधा सम्बन्ध जोड़ कर शौरसेनी, मागधी आदि अपभ्रंशों की अन्य भाषाओं के प्राचीन साहित्य को अपना प्राचीन साहित्य घोषित करके अपने को आर्य-हिन्दू परम्परा का उत्तराधिकारी सिद्ध किया। इस प्रकार हिन्दू जातीयता और तदनन्तर हिन्दू राष्ट्रीयता ने अपनी जाग्रति, संगठन और विकास के लिए खड़ी बोली हिन्दी के द्वारा अपना मार्ग प्रशस्त किया अथवा कहें कि इस पुनरुत्थान और राष्ट्रीय चेतना में हिन्दुओं के लिए खड़ी बोली हिन्दी माध्यम और वाहक बनी। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने इस तथ्य को मुक्त कंठ से स्वीकार किया है।"

शिवदानसिंहजी ने उदारतावश हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों का उल्लेख कर दिया है। वरना पहले हिन्दू जातीयता, तदनन्तर हिन्दू राष्ट्रीयता के विकास का सूक्ष्म भेद किसने किया है? साधारण पाठक इस भेद को समझ भी नहीं सकते। हिन्दू जातीयता हिन्दी-भाषी क्षेत्र तक सीमित थी, इसके प्रचारक प्रसारक सूरदास और तुलसीदास थे। खड़ी बोली सारे भारत में फैल गई, वह हिन्दुओं की नयी भारतव्यापी राष्ट्रीयता का द्योतक हुई। इसलिए लिखा कि पहले हिन्दू जातीयता, तदनन्तर हिन्दू राष्ट्रीयता

का विकास हुआ। यदि यह व्याख्या ग़लत हो तो भाई शिवदानसिंह उसे दुरुस्त करके अपनी व्याख्या प्रस्तुत कर दें।

लेकिन 'अपभ्रंशों की अन्य भाषाओं' से उनका क्या तात्पर्य है, यह मैं बहुत कोशिश करने पर भी नहीं समझ पाया। ख़ैर, अर्थ जो कुछ भी हो, "अपभ्रशों की अन्य भाषाओं के प्राचीन साहित्य को अपना प्राचीन साहित्य"—यह टुकड़ा अपनी 'ध्वनि-योजना' में निश्चय ही हिन्दू राष्ट्रवादी है !

हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने ज्यादातर भारतीय साहित्य, भारतीय संस्कृति की बात की है। चौहान ने भारतीय शब्द की व्याख्या करके उनका तात्त्विक अर्थ स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने लिखा है—"आधुनिक हिन्दी के साहित्य के यदि सभी अंग-उपांगों का निरीक्षण करें (कितना धैर्य चाहिए इस कार्य के लिए ! सराहिये उस मर्मभेदी दृष्टि को जो अंगों ही नहीं, उपांगों तक का निरीक्षण कर लेती है !) तो उससे निर्विवाद सिद्ध हो जायगा कि हिन्दी साहित्य में भारतीय साहित्य, संस्कृति, विचारधारा तथा राष्ट्रीयता आदि जिन शब्दों के आगे 'भारतीय' विशेषण निर्बाध प्रयोग होता है वह वास्तव में मुसलमानों के योग से विकसित एक संयुक्त अखिल भारतीय संस्कृति अथवा विचार-धारा का द्योतन नहीं करता। इन प्रयोगों में 'भारतीय' केवल हिन्दू-आर्य संस्कृति और हिन्दू राष्ट्रीयता का अर्थवाची है।"

भाषाविज्ञान और समाजशास्त्र दोनों ही की दृष्टि से श्री चौहान की यह खोज अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दी लेखक भारतीय शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में करते हैं जिसमें भारतीय जनसंघ के नेता करते हैं।

जिन निर्गुणपंथी सन्तों के बारे में चौहानजी की राय है कि उन्होने हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का मेल किया था, उनके लिए हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने लिखा है कि उनके काव्य की बाहरी रूपरेखा 'सम्पूर्णतः भारतीय' है ('हिन्दी साहित्य की भूमिका', पृ० ३१)। शायद उनका मतलब है कि बाहर से पूरे हिन्दू हैं, भीतर से आधे मुसलमान। लेकिन उसी वाक्य में बौद्धों को भी लाकर 'भारतीय' के विशुद्ध अर्थ को खंडित कर दिया है—बौद्ध धर्म के अन्तिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदादि से उसका सीधा सम्बन्ध है।"

'काव्य मे प्राकृतिक दृश्य' नाम के अपने निबन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था, "आजकल के पार्कों में हम भारतीय आदर्श की छाया देखते हैं।" अर्थात् ये पार्क हिन्दू है, मुस्लिम नहीं।

श्री हरिशंकर शर्मा ने उर्दू-साहित्य के इतिहास में जोश मलीहाबादी की राष्ट्रीय कविताओं का उल्लेख किया है; श्री गोपीनाथ अमन ने 'उर्दू और उसका साहित्य' में चकवस्त की राष्ट्रीय कविताओं की चर्चा की है। चकवस्त तो हिन्दू थे ही, जोश भी कुछ समय के लिए हिन्दू राष्ट्रीयता के गीत गाने लगे, वरना आर्यसमाजी विद्वान् श्री हरिशंकर शर्मा उनकी राष्ट्रीयता की प्रशंसा कैसे करते।

फिराक साहब ने उर्दू की प्रगतिशील कविताओं के संग्रह 'जंजीरें टूटती हैं' की

भूमिका में इनके रचयिताओं के लिए दावा किया है कि "आदिकाल से अब तक की भारतीय संस्कृति उनकी जागीर है।" चूंकि यह जागीर हिन्दुओं की है, इसलिए फिराक गोरखपुरी का तो उसमें थोड़ा-बहुत हिस्सा हो भी सकता है, लेकिन मखदूम मुहीउद्दीन, शाही मासूम रज़ा वामिक जौनपुरी, अली सरदार जाफरी वगैरह भी हिस्सेदार हो जायें, यह बात बर्दाश्त नहीं की जा सकती।

बंगालियों ने शब्दों का अर्थ अपना भ्रष्ट कर दिया है। प्राचीन संस्कृति के सबसे बड़े जागीरदार श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कबीर, नानक, दादू आदि को पहले तो भारतीय साधक कहा, फिर उनका सम्बन्ध राममोहन राय से जोड़ा, राममोहन राय का सम्बन्ध आधुनिक साहित्य से जोड़कर हिन्दू-मुस्लिम विकास के तमाम इतिहास का ही सत्यानाश कर दिया। (देखिए दादू ग्रन्थावली की भूमिका)

भारत के आधुनिक विकास की विशेषता क्या है? श्री चौहान कहते हैं, "वस्तुतः हमारे देश के ऐतिहासिक विकास क्रम की ही यह विशिष्टता है कि राष्ट्रीय चेतना ने हिन्दू राष्ट्रीयता और मुस्लिम राष्ट्रवादिता का रूप ग्रहण किया।"

जिसे राष्ट्रवादी लोग साम्प्रदायिकता कहते थे, वही सच्ची राष्ट्रीयता है, जिसे वह राष्ट्रीयता कहते थे, वह 'पाँच-सात सौ वर्ष के ऐतिहासिक जीवन की स्मृतियों तक को उन्मूलन करने की असम्भव चेष्टा" है।

हिन्दुओं और मुसलमानों की एक राष्ट्रीयता? असम्भव! यह सम्प्रदायवाद है, जनमत की हत्या है। उदार जनवादी दृष्टि से विचार कीजिए तो पता चल जाएगा कि इस 'द्वैत को स्थायित्व प्रदान करने में अंग्रेजी शासन का भी हाथ भले रहा हो, "राष्ट्रीय जागरण ने इस भेद चैतन्य को और भी निखारा है।" चैतन्य महाप्रभु के बाद गौरांग महाप्रभु की कृपा से ये नये भेद चैतन्यजी प्रकट हुए।

इन भेद चैतन्यजी के प्रकट होने का फल यह हुआ कि एक ओर हिन्दू संस्कृति का प्रतिबिम्बित करनेवाला हिन्दी साहित्य विकसित हुआ, उसी तरह मुस्लिम संस्कृति को प्रतिबिम्बित करनेवाला उर्दू-साहित्य भी संवर्द्धित हुआ।

"हिन्दी (संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक बोली) के समानान्तर (अरबी-फारसीनिष्ठ साहित्यिक खड़ी बोली) का विकास मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव में हुआ।'

संस्कृत के शब्द आय हिन्दू हैं, फारसी के शब्द मुसलमान हैं, इसलिये जहाँ संस्कृत के शब्द ज्यादा हों वहाँ हिन्दू संस्कृति जीती, जहाँ अरबी फारसी के शब्द ज्यादा हों वहाँ इस्लाम जीता।

"राष्ट्रीय जागृति के साथ-साथ हिन्दी और उर्दू का भेद और भी बढ़ गया।" पहले प्रगतिशील लेखक यह भेद देखकर परेशान होते थे, उसे दूर करने की कोशिश करते थे। चौहान ने बताया कि परेशानी की कोई बात नहीं है, "दोनों भाषाओं ने अपनी प्रकृति के अनुकूल पर्याप्त विकास किया" और "राष्ट्रीय जागृति के बिना इन दोनों भाषाओं का ऐसा अपूर्व विकास असम्भव होता।'

इस राष्ट्रीय जागृति से शायद गांधीजी का भी कुछ सम्बन्ध था। उन्होंने जीवन-भर प्रयत्न किया कि यह भेद मिटे और हिन्दी-उर्दू एक-दूसरे के नजदीक आएँ। वे हिन्दू-मुसलमानों तथा हिन्दी-उर्दू के भेदभाव से क्षुब्ध थे। इसका कारण यह था कि उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आधुनिक इतिहास को समझा न था, उसका निर्माण भले ही किया हो। श्री चौहान के शब्दों में "हिन्दी और उर्दू के स्वतन्त्र विकास से केवल ऐसे ही लोग विक्षुब्ध हैं जो अपने अनैतिहासिक दृष्टिकोण और इस बद्धमूल धारणा के कारण कि हिन्दू-मुस्लिम एकता अथवा समस्त भारत की अखंडता के लिए एक ही राष्ट्रभाषा का होना अनिवार्य है, भारत की विशिष्ट वस्तुस्थिति को समझ नहीं पाते।"

यह हुई विशुद्ध समाजशास्त्र की बात। आप पूछ सकते हैं, किसी भाषा के शब्द-भण्डार या व्याकरण-व्यवस्था से धर्म का क्या सम्बन्ध है। आप न जानते होंगे कि संसार के तमाम ईसाइयों की भाषाओं का व्याकरण एक-सा है, तमाम मुसलमानों की भाषाओं का व्याकरण एक-सा है। जब इस्लाम भारत में आया तो उसने न केवल यहाँ की भाषाओं के शब्द-भण्डार में भारी उथल-पुथल की, उसने इन भाषाओं के व्याकरण में भी राष्ट्रीय और जनवादी क्रान्ति कर दी।

चौहान ने लिखा—"हिन्दी और उर्दू की भिन्नता केवल शब्दों के संस्कृत या फारसी प्रयोग तक ही सीमित नहीं है। उनके व्याकरण, पिंगल वाक्य-विन्यास आदि में भी मौलिक भेद उत्पन्न हो गया है।" क्लिष्ट शब्द तो दोनों में होते ही हैं, "परन्तु इससे भी अधिक खड़ी बोली के व्याकरण का शुद्ध पालन न हिन्दी मे किया जाता है, न उर्दू में। हिन्दी व्याकरण पर संस्कृत व्याकरण का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है और उर्दू व्याकरण पर फारसी और अरबी व्याकरण की गहरी छाप पड़ गई है।"

सम्भवतः अरबी और फारसी—दो भिन्न कुलों की भाषाओं—का व्याकरण एक-सा है क्योंकि दोनों का प्रभाव मुसलमानों की खड़ी बोली पर पड़ा है। आश्चर्य की बात है कि मराठी, हिन्दी और बँगला—तीनों के व्याकरण पर संस्कृत का प्रभाव पड़ा लेकिन मराठी में तीन लिंग हैं, हिन्दी में दो, बँगला में एक भी नहीं। गम्भीरता से विचार कीजिए तो आपको ज्ञान हो जायगा कि मराठी पर संस्कृत का प्रभाव सबसे ज्यादा है, इसलिए उसके बोलनेवाले सब हिन्दू हैं या हिन्दू राष्ट्रवादी हैं; हिन्दी में दो ही लिंग हैं, इसलिए यहाँ हिन्दुत्व कमज़ोर रहा, मुसलमान हिन्दू राष्ट्रवादी न हुए, उल्टा अपना राष्ट्रवाद विकसित करते रहे। बँगला में एक भी लिंग नहीं, संस्कृत का प्रभाव सबसे कम, इसलिए बंगाल के दो टुकड़े हो गए!

यहाँ तक तो हुई भूत और वर्तमान की बात।

अब लीजिए भविष्य की बात। चौहानजी ने गुरुजी को समझाया कि आप यह भ्रम त्याग दीजिए कि भविष्य मे कभी हिन्दी-उर्दू मिलकर एक हो जाएँगी। "यह कहना कि राष्ट्रीय भावना ज्यों-ज्यों व्यापक होती जाएगी त्यों-त्यों हिन्दी-उर्दू का भेद कम होता जाएगा, केवल भ्रांत धारणा है। यथार्थ सत्य तो यह है कि ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय भावना व्यापक

होती गई है, दोनों भाषाओं के पृथक् विकास की गति भी उतनी ही तीव्र होती गई है।"

अन्त में समाधान यह रहा कि "मुस्लिम प्रधान प्रान्तों में राजकीय कार्यों में उर्दू भाषा का प्रयोग होगा," इसी प्रकार "मध्यदेश (हिन्दू-प्रधान प्रान्तों) में राजकीय कार्यों में हिन्दी भाषा का प्रयोग होगा।" दोनों इलाकों के अल्पसंख्यक अपनी-अपनी भाषा का व्यवहार भी कर सकेंगे। चौहानजी यह मानकर चले थे कि पूर्वी बंगाल के मुसलमान उर्दू का व्यवहार करने को बहुत उन्मुख हैं। हिन्दू भारत में एक द्रविड प्रदेश है। उसके बारे में वह अधिक सतर्क थे। उन्होंने जबरन राष्ट्रभाषा लादने का विरोध करते हुए सुझाया—"सम्भव है कि वे अपनी ही किसी भाषा को अपने प्रान्तों की राष्ट्रभाषा बनाना चाहें।" इस तरह भाषा-समस्या का जनवादी समाधान यह हुआ कि द्रविड प्रान्तों की अपनी राष्ट्रभाषा, मुस्लिम प्रान्तों की राष्ट्रभाषा उर्दू, द्रविडों से भिन्न आर्य-हिन्दू भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी। तीन राष्ट्र और राष्ट्रभाषाएँ।

यह तो राष्ट्रभाषा की समस्या का समाधान हुआ। हिन्दी प्रान्तों की एक विशेष समस्या की ओर भी उन्होंने ध्यान आकृष्ट किया। हिन्दी प्रान्तों में "लगभग बीस भाषाएँ और बडी बोलियाँ बोली जाती हैं।" इनके आधार पर "हिन्दी प्रान्तों का भी पुनर्विभाजन करना होगा।" इस तरह हिन्दीभाषी प्रदेश को मिलाने के बदले चौहानजी ने बीस नये प्रान्त बनाने की सलाह दी।

'जनपदीय भाषाओं का प्रश्न' नाम के लम्बे निबन्ध में उन्होंने राहुलजी की मातृभाषा सम्बन्धी मान्यताओं को और भी संवारकर पेश किया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अंग्रेजी को अनिवार्य राजभाषा बनाकर यहाँ की भाषाओं का दमन किस तरह किया, इसका विवेचन न करके, साम्राज्यवाद की भूमिका को भुलाकर श्री शिवदानसिंह ने खडी बोली हिन्दी के साम्राज्यवाद पर आक्रमण किया। यह साम्राज्यवाद हिन्दी क्षेत्र की बोलियों का दमन कर रहा था।

उन्होंने लिखा, "अकेली खडी (हिन्दी उर्दू) ने लगभग पन्द्रह करोड बयासी लाख व्यक्तियों को अपनी मातृभाषाओं में शिक्षा पाने से वंचित कर रखा है। इससे सिद्ध है कि भारत भी 'भाषाओं का विशाल कारागार' है।"

भारत कारागार ब्रिटिश साम्राज्य के कारण नहीं है, यहाँ की भाषाएँ अंग्रेजी के कारण कारागार में बन्दी नहीं हैं, उन्हें कारागार में डाला है खडी बोली ने।

भारत को उपनिवेश ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने नहीं बनाया, यहाँ उपनिवेश कायम किये हैं हिन्दी साम्राज्य ने।

चौहान अपने अद्भुत् भाषाशास्त्र की दृष्टि "'हिन्दी-साम्राज्य के विभिन्न 'भाषा-उपनिवेशों' की आन्तरिक परिस्थिति पर" डालते हैं। वह इस नतीजे पर पहुँचते हैं, "हिन्दी का वर्तमान साम्राज्य 'ताश के घर' से अधिक मजबूत नहीं है।' बोलियों के उपनिवेश टूट जाएँगे, फिर खडी बोली को अपने साम्राज्य का पश्चिमी हिन्दी के क्षेत्र में भी विघटन करके अपने जनपद से ही सन्तोष करना पडेगा।"

चौहान का विचार था कि अंग्रेजों और अंग्रेजी का साम्राज्य चाहे बाद में खत्म हो, हिन्दी का साम्राज्य पराधीन भारत में ही खत्म हो जाना चाहिए। "यदि वर्तमान आधार को हटाकर न्याय, समानता और स्वतन्त्रता का नया आधार न प्रदान किया गया तो भारत के स्वतन्त्र होने पर हिन्दी के साम्राज्य को ढहते देर न लगेगी।"

भारत स्वतन्त्र हो गया; हिन्दी का 'साम्राज्य' न ढहा। बोलियों के उपनिवेश न टूटे। हिन्दी प्रान्तों में नये बीस प्रान्त न बने। इसलिए अठारह साल तक हिन्दी-साम्राज्य के ढहने की राह देखने के बाद चौहानजी ने स्वयं शस्त्र उठाये और आलोचना न० ३४ (जुलाई, '६५; सितम्बर में प्रकाशित) मे भारत की एकता के नाम पर इस साम्राज्य पर हल्ला बोल दिया।

चौहान के पहले के लेखों में जैसे अंग्रेजी का प्रभुत्व खत्म करने पर जोर नहीं है, वैसे ही इस लेख में अंग्रेजी को अनिवार्य राजभाषा के पद से हटाने का आग्रह नहीं है। श्री सज्जाद जहीर ने आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध, सारे देश की स्वाधीनता के लिए न लागू करके, उसे राष्ट्रीय एकता के विरुद्ध, जनतन्त्र के नाम पर, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हित में लागू किया था। इस समय उन्हें उर्दू के संरक्षण की जितनी चिन्ता है, उतनी अंग्रेजी हटाने की नही। उन्ही की तरह श्री चौहान ने उर्दू की रक्षा का नारा लगाया है लेकिन वह दूसरों की स्थापनाओ को दोहराते-भर नहीं हैं। वह योग्य शिष्य हैं, इस नाते उन्होंने आत्मनिर्णय का अधिकार हिन्दी के उपनिवेशों पर लागू किया है!

अवध, बुन्देलखण्ड, ब्रज, भोजपुरी क्षेत्रों के जो लेखक हिन्दी को अपनी मातृभाषा कहते हैं, उनकी निन्दा करते हुए श्री चौहान ने प्रश्न किया है कि जब अंग्रेजी में साहित्य रचनेवाले मुल्कराज आनन्द, भवानी भट्टाचार्य, और के० नारायणन अंग्रेजी को अपनी मातृभाषा नहीं कहते, तब प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, वृन्दावनलाल वर्मा, रामचन्द्र शुक्ल ही हिन्दी को अपनी मातृभाषा क्यों कहें? हिन्दी साहित्य का सारा इतिहास चौहानजी को विकृत दिखाई देता है; इसके रचनेवालों की मातृभाषा हिन्दी थी ही नही, जैसे मुल्कराज आनन्द और भवानी भट्टाचार्य की मातृभाषा अंग्रेजी नहीं है। यशपालजी की मातृभाषा हिन्दी नहीं है। "इस दृष्टि से उनकी और डा० मुल्कराज आनन्द की स्थिति में विशेष फर्क नही है। यह बात भारतेन्दु से लेकर मोहन राकेश तक की नई पीढ़ी के निन्यानवे फी सदी हिन्दी लेखकों और हिन्दी-आन्दोलन के सुभट योद्धाओं के बारे में भी सच है।"

मुल्कराज और यशपाल की स्थिति में विशेष फर्क न हो, थोड़ा बहुत फर्क तो है ही। चौहान हिन्दी के निन्यानवे फी सदी लेखकों को मातृघाती कहते हैं क्योंकि उनकी समझ में इन लेखकों की मातृभाषा हिन्दी नहीं है। लेकिन अंग्रेजी में उपन्यास-कहानियाँ लिखनेवाले मुल्कराज आनन्द को मातृघाती कहने का साहस उनमें नहीं है। कारण, इससे विश्वभाषा अंग्रेजी के प्रति संकीर्णता प्रकट होती है और 'ऐफ्रो-एशियन-सौलिडैरिटी' को धक्का लगता है। भारत में इस सौलिडैरिटी के तीन स्तम्भ है—मुल्कराज आनन्द,

सदर मकबूल जगीर और शिवदानसिंह चौहान।

भारतेन्दु से लेकर मोहन राकेश तक हिन्दी के निर्माता भी क्यों सब अपनी मातृभाषाएँ छोड़कर हिन्दी की सेवा करते रहे हैं? अर्थ और यश-लाभ के लिए! देशभक्त बनने का सुख अलग से। इन मातृघातियों से मातृभाषाओं की रक्षा करने के लिए कमर कसकर उठ खड़े हुए हैं, श्री शिवदानसिंह चौहान।

जनतांत्रिकता की होड़ में सभी भारतीय लेखकों को पछाड़ते हुए उन्होंने लिखा है "आज की हिन्दी' हम सबने अपनी मातृभाषाओं को त्यागकर स्कूलों में किताबों से ही सीखी-पढ़ी है, जिस तरह अंग्रेजी स्कूलों में किताबों से सीखी-पढ़ी है। इसे आप क्या कहेंगे, मातृघात या कुछ और, मैं यह तो नहीं जानता, क्योंकि जब हम लोगों ने स्कूलों में प्रवेश किया उस समय हिन्दी या उर्दू के अलावा अपनी मातृभाषाओं में पढ़ने का कोई विकल्प ही नहीं था। आज भी नहीं है। लेकिन यह सच है कि एक समय जो विवशता थी वह कालिक होते पर अर्थ और वर्तमान और देशभक्ति के रूप में प्रतिष्ठित होने का नुस्खा साबित हुई, इसलिए अपनी मातृभाषाओं के प्रति अपना कर्तव्य भुला देना ही हम सबके आगे सबसे सुविधाजनक मार्ग था।"

सुबह का भूला शाम को घर लौट आए तो उसे भूला हुआ नहीं कहते। चौहान अब समझ गए हैं कि अर्थ और यश के लिए हिन्दी-सेवा करना अनुचित है। उन्होंने स्वयं काफी यश अर्जित कर लिया है, अब भी 'आलोचना' से पैसा क्या मिलता होगा? उन्हें चाहिए कि वह हिन्दी के मातृघाती लेखकों के सामने अपने त्याग से एक मिसाल कायम करें। अब उन्हें हिन्दी लिखना बन्द कर देना चाहिए और जिन्दगी के बाकी दिन मातृभाषा की सेवा में लगाने चाहिए। सम्भवतः उनकी मातृभाषा ब्रज है, उसकी सेवा करें। अभी तक उनका कोई लेख, कोई पुस्तक ब्रजभाषा में लिखी हुई देखने को नहीं मिली। ब्रजभाषा में अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय देकर वह ब्रज और हिन्दी दोनों का उपकार करेंगे। मातृभाषा ब्रज न हो तो जो भी मातृभाषा हो, उसकी सेवा करें। उनके पिताजी ने एक बार आगरा में दर्शन दिए थे। पुलिस के आदमी थे। उन्होंने अपने पुत्र की चर्चा करते हुए बहुत मुहावरेदार खड़ी बोली का व्यवहार किया था। उनके धाराप्रवाह वाक्य मुझे अभी तक याद हैं यद्यपि उन्हें लिखकर प्रकाशित करने का साहस मुझमें नहीं है। यह सवाल मातृभाषा का है, पितृभाषा का नहीं।

फ्रॉयड ने ईडीपस काम्प्लेक्स ईजाद करके सभी बेटों और पिताओं को सम्भाव्य पितृघाती सिद्ध कर दिया था। शिवदानसिंहजी ने पितृघात की बात पुरानी पड़ जाने से उसे त्यागकर अधिक वैज्ञानिक इस मातृघाती कॉम्प्लेक्स का आविष्कार किया है। अब देखिए, इससे कैसी जटिल ग्रन्थियाँ लोगों के मन में पड़ जाती हैं।

कहते हैं, 'अपनी मातृभाषाओं के प्रति अपनी उपेक्षा को हम मातृघात कहें या नहीं, यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन इतना जानता हूँ कि हिन्दी के लेखक और आन्दोलनकारी नेताओं के अन्तर्मन में कहीं कोई अपराध-भावना की ग्रन्थि जरूर पड़ गई है, जिसके

कारण वे अपने अपराध पर परदा डालने के लिए इतिहास को तोड़-मरोड़कर यह सिद्ध करने की कोशिश करते रहते हैं कि मैथिली, राजस्थानी, अवधी, ब्रज आदि वस्तुत स्वतन्त्र भाषाएँ नहीं हैं, 'हिन्दी' (संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक खड़ी बोली) की ही स्थानीय बोलियाँ हैं और जनगणना आदि के मौकों पर हिन्दी-प्रचारक और जनसंघ के अन्ध-हिन्दू राष्ट्रवाद से प्रभावित सरकारी अमला इन भाषाओं को बोलनेवाली जनता पर दबाव डालते हैं कि वे मातृभाषा के खाने में राजस्थानी या मैथिली न लिखवाकर 'हिन्दी' लिखवाएँ, यानी वे उत्तर भारत की समूची जनता को अपने 'अपराध' में साझीदार बना लेना चाहते हैं।"

इस अपराध-भावना से वे लेखक मुक्त हैं जिन्होंने खड़ी बोली के उर्दू रूप को अपनाया है। खड़ी बोली यदि मातृभाषा है तो उर्दू-रूप में, हिन्दी-रूप में नहीं ! यह नयी मान्यता है जो श्रीचौहान के पुराने निबन्धों की मान्यता से बहुत आगे बढ़ गई है। अब उन्होंने सीधे-सीधे उर्दू को मुस्लिम राष्ट्रवाद की भाषा कहना छोड़ दिया है; अब वे हिन्दी का ही सम्बन्ध हिन्दू राष्ट्रवाद से जोड़ते हैं। उर्दू हिन्दुओं और मुसलमानों की मुश्तर्का ज़बान है !

लिखा है, "माँ के घुटनों पर बैठकर हम में से किसी ने 'हिन्दी' नहीं सीखी जिस तरह कि अधिक पुरानी 'शैली' (!) उर्दू को दिल्ली, लखनऊ, हैदराबाद अनेक सांस्कृतिक केन्द्रों के बच्चे हजारों हिन्दू और मुसलमान परिवारों में पुश्त-दर-पुश्त से अपनी माताओं की गोद में ही सीखते आए हैं।

क्या कारण है कि दिल्ली, लखनऊ और हैदराबाद के हिन्दू-मुसलमान तो पुश्त-दर-पुश्त अपनी माताओं की गोद में ही उर्दू सीखते आए हैं लेकिन इलाहाबाद, बनारस और पटना के हिन्दू-मुसलमान अपनी माँ की गोद में हिन्दी नहीं सीख पाए ? कारण यह है कि चौहान की समझ में उर्दू मुख्यतः मुसलमानों की भाषा है; दिल्ली, लखनऊ और हैदराबाद में मुसलमान काफ़ी बड़ी संख्या में हैं; बनारस, पटना और इलाहाबाद में वे इतनी बड़ी संख्या में नहीं है, इसलिए खड़ी बोली के प्रसार का एक नियम लागू होता है मुस्लिम-प्रधान शहरों में, दूसरा नियम लागू होता है हिन्दू-प्रधान शहरों में। इस कारण खड़ी बोली का उर्दू-रूप तो मातृभाषा है, उसका हिन्दी-रूप नहीं है ! शिवदानसिंह चौहान ने भाषाओं का विभाजन फिर उसी पुराने साम्प्रदायिक आधार पर किया है। उनके जनतांत्रिक आडम्बर के नीचे वही साम्प्रदायिकता का चोर छिपा हुआ है।

यदि यह मान भी लें कि दिल्ली, लखनऊ और हैदराबाद के हिन्दुओं और मुसलमानों की मातृभाषा उर्दू है, तो भी यह बात साफ़ नहीं होती कि चौहान उर्दू के उन तमाम लेखकों को मातृघाती क्यों नहीं कहते जो इन शहरों से दूर ब्रज, अवध, पंजाब या भोजपुरी क्षेत्रों के रहनेवाले थे। उर्दू के दो सबसे बड़े शायर ग़ालिब और मीर आगरा में पैदा हुए थे। सौदा के बाप ईरानी थे। इक़बाल पंजाबी थे। साहिर लुधियानवी, हफ़ीज जालन्धरी, जोश मलसियानी, जगन्नाथ आज़ाद, अहमद नदीम कासिमी, फ़ैज़, राजेन्द्र-

जब विनिमय के बड़े-बड़े केन्द्र नगरों के रूप में स्थापित होते है, तब उनमें अनेक बोलियों के क्षेत्रों—अनेक जनपदों—से सिमटकर लोग आते हैं। दिल्ली और आगरा में बहुत से परिवार पूरब से आकर बस गए। इनके यहाँ लोग अब भी घर में अवधी बोलते हैं। इनमें मुस्लिम परिवार भी हैं।

हिन्दी-भाषी जाति के विकास और गठन मे दिल्ली, आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद और पटना मुख्य सांस्कृतिक केन्द्र बने। यहाँ खड़ी बोली का प्रसार हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों ने किया। इनकी बोलचाल की भाषा में धार्मिक आधार पर कोई फर्क नहीं हैं। साथ ही इन शहरों के बहुत से हिन्दू और मुसलमान अपने घरों मे खड़ी बोली से भिन्न अपनी पुरानी बोली का भी व्यवहार करते रहे है। इसलिए यह कहना कि उर्दू तो मातृ-भाषा हैं, हिन्दी नहीं है, ग़लत है। दिल्ली, आगरा, लखनऊ आदि शहरो में हज़ारो लोग ऐसे हैं जिन्होंने माँ की गोद में खड़ी बोली सीखी है और हजारो ऐसे है जिन्होने मोहल्ले के दोस्तों से खड़ी बोली सीखी है। कुछ ऐसे भी है जो बहुत कोशिश करने पर भी खड़ी बोली नहीं सीख पाए, न उसका हिन्दी रूप, न उर्दू रूप।

कानपुर, लखनऊ, पटना आदि शहरो में मजदूरी और नौकरी के लिए जो अवधी, भोजपुरी, बुन्देलखण्डी आदि बोलियों का व्यवहार करनेवाले लोग एकत्र होते हैं, अपने सामाजिक कार्यो के लिए वे खड़ी बोली अपनाते हैं। इसे हम जातीय निर्माण की प्रक्रिया समझें या बोलियों के दमन की प्रक्रिया ! दिल्ली से पटना तक और पटना से भोपाल-उज्जैन तक कोई ऐसा शहर नहीं है जिसमें विभिन्न जनपदो के लोग एकत्र न हुए हों। इन लोगों ने अपने राजनीतिक-सांस्कृतिक कार्यों के लिए खड़ी बोली को अपनाया है। अब छोटे-छोटे कस्बों तक में एक ही देहाती बोलनेवाले नही रह गए हैं। लेकिन जातीय निर्माण की यह सारी प्रक्रिया न समझकर, बोली और भाषा का भेद न समझकर, जातीय प्रदेश और सामन्ती युग के जनपदों का भेद न समझकर, स्तालिन की 'नेशन' की परिभाषा आँख मूँदकर जनपदों पर लागू करके, भाषावार प्रान्त-निर्माण की माँग को हास्यास्पद बनाते हुए श्री चौहान ने माँग की है कि हिन्दी क्षेत्र में 'दस-पन्द्रह नये राज्यों का निर्माण' कर दिया जाय। "सोलह-सत्रह तो इस समय भी हैं। और इससे देश का विघटन नहीं हुआ तो दस-पन्द्रह और भाषावार राज्य बना देने से···आसमान नहीं फट पड़ेगा।"

अहिन्दी प्रदेशों में जो लोग हिन्दी के विरोधी हैं, वे यह तर्क देते हैं कि हिन्दी कृत्रिम भाषा है। उसकी कृत्रिमता सिद्ध करने के लिए वे हिन्दी की बोलियों का हवाला देते है, उन्हें स्वतन्त्र भाषाएँ कहकर हिन्दी को साम्राज्यवादी उत्पीड़क भाषा मानते हैं। यदि कोई हिन्दी-प्रेमी मराठी, बँगला या तमिल के लिए कहे कि वे हिन्दी की बोलियाँ है, या यह कि भारत में एक राष्ट्रभाषा रहेगी, और सब भाषाएँ मिटा दी जाएँगी, तो यह जरूर साम्राज्यवादी उत्पीड़न की बात होगी। लेकिन लखनऊ, कानपुर, इलाहाबाद, आगरा, दिल्ली में जो लोग मेहनत-मजदूरी करने आते हैं, वे खड़ी बोली का व्यवहार न करें तो बेमौत मरें। दिल्ली और कानपुर के सूती मिल-मजदूर खड़ी बोली का व्यवहार न करे तो

उनका ट्रेड यूनियन आन्दोलन ठप हो जाय। मजदूर वर्ग को अपने संगठन के लिए जातीय भाषा की जरूरत होती है जो अलग अलग बोलियाँ बोलनेवाले मजदूरों को एकजुट करे। चौहान के मार्क्सवाद में मजदूर वर्ग को स्थान नहीं है। यदि हो तो एक भी मिल, एक भी कारखाने, एक भी उद्योग का नाम बताने की कृपा करें जहाँ सिर्फ मैथिली, सिर्फ भोजपुरी, सिर्फ अवधी या अन्य कोई जनपदीय बोली बोलनेवाले ही काम करते हों।

चौहान ने कुत्सित समाजशास्त्र की काफी निन्दा की है। लेकिन उनके कुत्साहीन विशुद्ध समाजशास्त्र में कहीं पूँजीवादी विकास के अन्तर्गत नये विभिन्न केन्द्रों में विभिन्न जनपदों में एकत्र होनेवाले मध्यम और श्रमिक वर्गों का उल्लेख नहीं है।

जातीय भाषा का प्रसार सामाजिक विकास का परिणाम है, इसलिए उसका विभाजन धर्म के आधार पर नहीं होता। भारतीय बुद्धिजीवियों पर अंग्रेजी का प्रभाव है, वे 'मिथिक' परिकल्पनाओं की बात करते हैं, अंग्रेजी शब्दों और मुहावरों का गलत अनुवाद करके अपनी हिन्दी को सजाते हैं (जैसे 'कॉस्टली' के लिए 'कीमती' शब्द का व्यवहार—"कीमती किन्तु अनुपयोगी प्रयोग", "यह प्रयोग शायद बहुत कीमती भी साबित हो।") तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि वे ईसाई हो गए हैं या उन पर ईसाइयत का प्रभाव है। बोलचाल की खड़ी बोली में हिन्दू और मुसलमान साधारणतः अरबी-फारसी या संस्कृत के कठिन शब्दों का व्यवहार नहीं करते। यह है बुनियादी बात। यहाँ धर्म के आधार पर कोई विभाजन नहीं है। लोग फारसी या संस्कृत के शब्दों का ज्यादा प्रयोग करते हैं तो इसका प्रधान कारण सांस्कृतिक है, धार्मिक नहीं।

उस विशाल क्षेत्र में, जिसके नगरों के हिन्दू और मुसलमान, विभिन्न जनपदों से आये हुए मजदूर और नौकरीपेशा लोग, शिष्ट भाषा के रूप में खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं, सभी की जाति, कौम या नेशन एक है, वहाँ दस या पन्द्रह प्रान्त बनाने की बात करना हिन्दीभाषी जनता की जातीय एकता को तोड़ने का प्रयास करना है। इस क्षेत्र की बोलचाल की भाषा में हिन्दी-उर्दू का भेद नहीं है, इसलिए उर्दू को क्षेत्रीय भाषा कहना गलत है। यदि बोलचाल की उर्दू और हिन्दी में एक ही कल-कारखाने में काम करनेवाले मजदूर भेद करते तो उर्दू को क्षेत्रीय भाषा मानना उचित होता। लेकिन आम जनता बोलचाल में ऐसा कोई भेद नहीं करती। यह भेद शिष्ट भाषा के रूप और लिपि को लेकर है। अधिकांश जनता देवनागरी लिपि का व्यवहार करती है और शिष्ट भाषा के लिए अधिकतर शब्द संस्कृत से लेती है। एक अल्पसंख्यक समुदाय ऐसा है जो फारसी लिपि का व्यवहार करता है और अपनी शिष्ट भाषा में अरबी-फारसी से शब्द लेता है। इस समुदाय में मुसलमानों के साथ हिन्दू भी हैं, इसलिए उसे सांस्कृतिक अल्पमत कहना चाहिए। इन सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों की भावनाओं का आदर करते हुए उनकी लिपि और शिष्ट भाषा की रक्षा करनी चाहिए लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि हम दो कौमों के सिद्धान्त के आधार पर दो भाषाएं स्वीकार कर लें। ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहाँ साहित्यिक उर्दू बोलचाल की भाषा हो या जहाँ उर्दू की बोलचाल का रूप वहीं की हिन्दी के

बोलचाल के रूप से भिन्न हो। बोलचाल की खड़ी बोली के दो साहित्यिक रूप हैं—हिन्दी और उर्दू। उर्दू को हिन्दी की शैली कहने से बुरा लगता हो तो उसे खड़ी बोली की शैली कहिए, हिन्दी को भी खड़ी बोली की एक शैली कहिए। लेकिन सांस्कृतिक बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यकों का भेद याद रखिए। यह जान लीजिए कि बहुत से उर्दू लेखक और लेखिकाएँ—जिनमें श्रीमती रजिया सज्जाद जहीर भी हैं—अपनी रचनाएँ, उर्दू की इबारत में कोई फेर-बदल किये बिना, देवनागरी में छपवाती हैं। यह रिवाज बढ़ता जा रहा है कि प्रसिद्ध उर्दू लेखकों की रचनाएँ देवनागरी लिपि में पहले छपें, फारसी लिपि में बाद को। इससे हिन्दी-उर्दू साहित्य को देवनागरी के माध्यम से पढ़नेवालों की एक मिली-जुली जमात बनती है। यह जमात अपनी एकता, अपनी रुचि का असर लेखकों पर, उनकी हिन्दी-उर्दू शैली पर डालकर एक ही शैली के विकास में सहायक होती है। जो लोग दो कौमों के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते, वे इस एकता के नये सिलसिले से खुश होंगे।

राजपाल एण्ड सन्ज ने लोकप्रिय उर्दू शायरों की सिरीज निकालकर लाखों हिन्दी-भाषियों तक इनकी रचनाएँ पहुँचाईं, उन्हें दरअसल लोकप्रिय शायर बनाया। इससे उर्दू का नाश नहीं हो गया। देवनागरी लिपि में 'उर्दू साहित्य', 'डगर' जैसे पत्र निकलते हैं जिनमें उर्दू की रचनाएँ देवनागरी लिपि में छपती हैं। ख्वाजा अहमद अब्बास और उनके साथियों ने 'सरगम' निकाला था जिसमें देवनागरी लिपि में सरल उर्दू रचनाएँ छपती थीं। हिन्दी 'ब्लिट्ज़' की भाषा, 'जनयुग' और 'आलोचना' से भिन्न आसान उर्दू होती है जिसमें बहुत थोड़े पारिभाषिक शब्द संस्कृत के होते हैं। इस तरह हिन्दी-भाषियों ने उर्दू को अपनाया है, उसका दमन नहीं किया। देवनागरी के माध्यम से उन लोगों तक उर्दू-साहित्य पहुँचा है जो पहले उससे कोसों दूर थे। जो लोग अपने को मार्क्सवादी कहते हैं, बोलचाल की भाषा और उसके साहित्यिक रूप में बुनियादी भेद नहीं मानते, उन्हें सांस्कृतिक विकास के इस सिलसिले से खुश होना चाहिए। लेकिन सबसे ज्यादा मुहर्रमी सूरतें वही लोग बनाये हुए हैं जो अपने को मार्क्सवादी लेखकों का रहनुमा समझते हैं। कोई भूख-हड़ताल की धमकी देता है तो कोई नक्शे देखकर वह इलाका तय करने में लगा है जहाँ हिन्दी से अलग लोगों की मातृभाषा उर्दू है। कुछ अन्य मित्र सांस्कृतिक बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक का भेद न समझकर दिल्ली में या अन्य राज्यों में हिन्दी के बराबर उर्दू को राजभाषा बनाने का ख्वाब देख रहे हैं। और इन सबमें कोई भी यह माँग नहीं करता कि भारत की सभी भाषाओं का दमन करनेवाली विदेशी भाषा अंग्रेजी का प्रभुत्व खत्म हो!

जहाँ तक राजस्थानी और पंजाबी का सम्बन्ध है, उनके लिखने-बोलनेवाले तय करें कि वे हिन्दी अपनाएँगे या पंजाबी-राजस्थानी का स्वतन्त्र विकास करेंगे। यदि उत्तर प्रदेश की सरकार या दिल्ली सरकार उन पर किसी तरह का दबाव डालेगी कि वे हिन्दी का ही व्यवहार करें, तो मैं इसका विरोध करूँगा। साथ ही उपेन्द्रनाथ अश्क और यशपाल हिन्दी लिखते हैं तो मैं इसे मातृघात न कहूँगा।

हिन्दी भाषा जातीय विकास के परिणामस्वरूप विशाल हिन्दी क्षेत्र की भाषा बनी है। इस विकास को न समझने से भारतेन्दु से लेकर मोहन राकेश तक हिन्दी के सब बड़े लेखक साम्राज्यवादी या अवसरवादी दिखाई देते हैं। इस विशाल क्षेत्र में बोलियों के दमन की बात वे कहते हैं जो भारत में अंग्रेज़ी को राजभाषा बनाये रखना चाहते हैं। अंग्रेज़ी की रक्षा इस 'जनतन्त्र' का यह बुर्का पहनाकर नहीं की जा सकती।

जैसे जैसे अंग्रेज़ी को हटाने का समय नज़दीक आया वैसे-वैसे उर्दू के संरक्षण की माँग भी ज़ोर पकड़ती गई। खेद की बात है कि कुछ गुमराह मार्क्सवादी नेता हिन्दी पर उर्दू के दमन का अपराध लगाकर फिलहाल अंग्रेज़ी कायम रखने की नीति का प्रचार करते हैं। उर्दू के लेखक और उर्दू साहित्य के प्रेमी पाठक उसकी रक्षा हिन्दी लेखकों और हिन्दीभाषी जनता के सहयोग से ही कर सकते हैं। उन्हें इस हिन्दीभाषी जनता के साथ मिलकर अंग्रेज़ी को हटाने और सभी भारतीय भाषाओं को अंग्रेज़ी की दासता से मुक्त कराने के लिए संघर्ष करना चाहिए। वस्तुस्थिति को पहचानते हुए वे सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों के रूप में अपने अधिकारों के लिए लड़ें, हिन्दी भाषी जनता उनका साथ देगी। उनका अलगाव का रवैया सम्प्रदायवाद की उपज है और उन्हीं के लिए हानिकर है।

चौहान ने फासिज़्म और हिटलर की उग्रतर आर्य जाति-सम्बन्धी परिकल्पना' की निन्दा की है। वह कृपा करके अपने पुराने राष्ट्रभाषा वाले निबन्ध में देख जाएँ, उन्होंने कितनी बार आप हिन्दुओं और हिन्दू राष्ट्रवाद की चर्चा की है और उसके आधार पर हिन्दी के विकास का विश्लेषण किया है। उन्होंने अब हिन्दू राष्ट्रवाद का नाम लेना बन्द कर दिया लेकिन हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियाँ अभी बरकरार हैं। उन्होंने लिखा है कि 'विभिन्न कौमों की जनता (विशेषकर उत्तर भारत की जनता) ने हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के योगदान से दिल्ली के आस-पास बोली जानेवाली खड़ी बोली की भूमि पर एक अपनी ही सम्पर्क भाषा उर्दू का विकास किया।"

चौहान ने यह नहीं बताया कि बंगाल, कश्मीर, सिन्ध आदि में हिन्दू मुस्लिम संस्कृतियों के योगदान से किसी नयी सम्पर्क भाषा का विकास क्यों नहीं हुआ। वह यह नहीं जानते कि ईरानी, अरब, पठान, उज़बेक मुसलमानों की संस्कृति एक नहीं है, न तमिलनाड, बंगाल और गुजरात की संस्कृति एक है। और सारे हिन्दुओं की एक संस्कृति हो भी तो उनकी एक भाषा कैसे हो जायगी? भारत में आनेवाले तुर्क, पठान और ईरानी मुसलमानों की भाषा कैसे एक हो जायगी?

गुत्थी वही पुरानी है। वह समझते हैं कि संस्कृत के शब्द हिन्दू हैं और फारसी के शब्द मुसलमान! दोनों के मिलने से उर्दू का विकास हुआ।

और हिन्दी का विकास कैसे हुआ?

"हिन्दू समाज में उठे सुधार-आन्दोलनों और कई दूसरी ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रभाव से उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में खड़ी बोली की ही ज़मीन पर उर्दू के मुकाबले में उसके एक संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक रूप हिन्दी का विकास हुआ।"

यही बात है जो श्री सज्जाद जहीर ने अपने निबन्ध में लिखी थी और जिसे चौहानजी ने अपने पुराने निबन्ध में पल्लवित किया था। हिन्दी का विकास हिन्दू-समाज में उठे सुधार-आन्दोलनों के कारण हुआ। वह हिन्दुओं की भाषा है। उर्दू मुख्यतः मुसलमानों की भाषा है जिनके साथ कुछ शरीफ़ हिन्दू भी हैं।

चौहान को यह नहीं मालूम कि जितनी संस्कृतनिष्ठ हिन्दी (उन्हें छोड़कर) हिन्दी के औसत लेखक लिखते हैं, उससे ज्यादा संस्कृतनिष्ठ बँगला पूर्वी पाकिस्तान के ढाका रेडियो से बोली जाती है, वैसी ही संस्कृतनिष्ठ मलयालम केरल के ईसाई लिखते और बोलते हैं। भाषा से धर्म का अटूट सम्बन्ध होता तो हर प्रदेश में नयी-नयी सम्पर्क भाषाएँ बन गई होतीं।

चौहान के विचार से "संस्कृतनिष्ठ होने के कारण...हिन्दी ने उर्दू के मुक़ाबले में...राष्ट्रीय आन्दोलन को एकजुट करने में अधिक व्यापक योग दिया।" होना यह चाहिए था कि जो सहज सम्पर्क भाषा बनी थी, वही राष्ट्रीय आन्दोलन को एकजुट करती। लेकिन यह काम किया संस्कृतनिष्ठ—हिन्दू समाज की भाषा—हिन्दी ने। यह भी उसी पुरानी स्थापना का नया रूप है; गांधीजी ने जो राष्ट्रीय आन्दोलन चलाया वह मूलतः हिन्दू राष्ट्रवाद का आन्दोलन था।

अब बच गए मुसलमान। वे अलग राष्ट्र की माँग तो कर चुके। अब उर्दू को क्षेत्रीय भाषा बनाने के अलावा और किस चीज की माँग करें?

इस प्रकार चौहान का यह नया लेख भी उनकी पुरानी हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति की सम्प्रदायवादी—मार्क्सवाद-विरोधी—समझ के आधार पर लिखा गया है। वह वस्तुगत रूप से अंग्रेज़ी का समर्थन करता है, अंग्रेज़ी को राजभाषा बनाये रखनेवालों के तर्क दोहराता है। उनकी एक भी स्थापना हिन्दी के लेखक और पाठक न मानें तो यह स्वाभाविक है; इस पर उन्हें ख़फ़ा न होना चाहिए।

परिशिष्ट—१

१

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उन्नीसवीं सदी में आन्दोलन

"हिन्दी नई चाल में ढली, सन् १८७३ ई०।"

इस नई चाल की हिन्दी ने एक ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति की। उसने हिन्द प्रदेश की जनता के राजनीतिक और सांस्कृतिक जागरण को वाणी दी।

गिलक्राइस्ट और ग्रियर्सन आदि अंग्रेज विद्वानों की फैलाई हुई एक भ्रान्त धारणा अब भी लोगों में मिल जाती है कि उर्दू से अरबी-फारसी के शब्द निकालकर और उनकी जगह संस्कृत शब्द डालकर इस भाषा का निर्माण हुआ। भारतेन्दु का गद्य देखने से यह धारणा निर्मूल सिद्ध होती है। उनके निबन्धों में हुज्जत, जमाना, बयान, सफ़र, मुर्दे, कलम, रिवाज, तलाश, दरख्त, सबूत, गरज आदि जैसे शब्द निहायत बेतकल्लुफी से इस्तेमाल किये गए हैं। यही हाल बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी आदि लेखकों का भी है। कुछ लेखक ऐसे जरूर थे जो प्रचलित अरबी-फारसी के शब्द निकालकर उनकी जगह संस्कृत-शब्दावली रखकर शुद्ध हिन्दी लिखने के पक्षपाती थे। लेकिन भाषा की समस्या प्रचलित शब्दों की न थी।

समस्या यह थी कि जहाँ अप्रचलित शब्दों की जरूरत पड़े, यानी साधारण बोलचाल से अलग जहाँ ग़ैर-बुनियादी शब्द-भण्डार की जरूरत पड़े, वहाँ अरबी-फारसी से शब्द लिये जाएँ या संस्कृत से। बोलचाल की भाषा के आधार पर जिस साहित्यिक उर्दू का विकास हुआ, उसका रुझान ग़ैर-बुनियादी शब्द-भण्डार के लिए संस्कृत के बदले अरबी-फारसी की तरफ जाने का था। उर्दू की भी दो शैलियाँ थीं, एक वह जिसमें बोलचाल की हिन्दी के शब्द निकालकर उनकी जगह भी अरबी-फारसी के शब्द डाले जाते थे, ग़ैर-बुनियादी हिस्से में तो उनकी भरमार रहती ही थी। दूसरी शैली वह थी जिसमें बोलचाल की हिन्दी के शब्दों का बायकाट न किया जाता था और ग़ैर-बुनियादी हिस्से में भी अरबी-फारसी की बेजा भरमार न की जाती थी।

बोलचाल की भाषा एक ही थी, हिन्दी-उर्दू का बुनियादी शब्द-भण्डार एक ही था। लेकिन साहित्यिक शैली का निर्माण उन लोगों के हाथों हुआ जो अरबी-फारसी के विद्वान् थे या संस्कृत के विद्वान् थे। इन लोगों ने ग़ैर-बुनियादी शब्द-भण्डार के लिए अरबी-फारसी या संस्कृत का सहारा लिया।

यदि गैर-बुनियादी शब्द-भण्डार के लिए अरबी-फारसी का सहारा लेने की नीति हमारे जातीय विकास की ऐतिहासिक आवश्यकताएँ पूरी कर सकती तो 'नई हिन्दी' के चलन का सवाल न उठता, सवाल उठने पर भी उसमें सफलता न मिलती। कचहरियों, पुलिस विभाग आदि में उर्दू चालू थी। जनता का समर्थन मिलने पर उसका प्रचार इतना व्यापक हो जाता कि कोई भाषा-शैली उससे होड़ करने की जुरअत न करती। लेकिन गैर-बुनियादी शब्द भण्डार के लिए सिर्फ अरबी-फारसी का सहारा लेने की नीति भारत की किसी भाषा ने न अपनायी थी। कारण यह था कि यहाँ की भाषाओं का जो सम्बन्ध संस्कृत से था, वह अरबी-फारसी से न था। हिन्दी की क्रियाएँ—चलना, फिसलना, हँसना, रोना, खाना, पीना, मरना, जीना, आदि-आदि—संस्कृत की क्रियाएँ भी हैं। इस तरह अरबी फारसी की क्रियाएँ बोलचाल की हिन्दी में बहुत कम हैं। इसलिए इस तरह की क्रियाओं से बननेवाले शब्द भी अरबी-फारसी की क्रियाओं से बननेवाले शब्दों की अपेक्षा बोलचाल की हिन्दी में कहीं ज्यादा हैं। बोलचाल की हिन्दी में तद्भवों की भरमार है। उतने तद्भव अरबी-फारसी से नहीं बने, यद्यपि बोलचाल की भाषा में आये हुए अरबी-फारसी के शब्दों का रूप और कभी-कभी अर्थ भी एक हद तक बदला है।

बोलचाल की हिन्दी की तरह भारत की अन्य भाषाओं में भी अरबी-फारसी के सैकड़ों शब्द घुल-मिल गए। इसका सबब यह नहीं था कि मुसलमानों की भाषा अरबी-फारसी थी और हिन्दुओं की भाषा संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश थी। बाबर वगैरह की जबान दरअसल तुर्की थी। कुछ ईरानियों के अलावा उच्च वर्ग के मुसलमानों के घरों में भी फारसी न बोली जाती थी। लेकिन सैकड़ों साल तक फारसी उत्तर भारत की राजभाषा रही थी। सैकड़ों अरबी के शब्द फारसी के जरिये यहाँ आए। इसके अलावा शिक्षित मुसलमानों के लिए धर्मग्रन्थ की भाषा अरबी थी। बोलचाल की हिन्दी में फारसी शब्दों के घुलने मिलने का मुख्य कारण फारसी का राजभाषा होना था।

फिर भी हिन्दी भाषी प्रदेश की-सी समस्या कश्मीरी, बँगला, मराठी आदि भाषाओं में नहीं पैदा हुई। इसके कई कारण थे। राजभाषा फारसी के केन्द्र हिन्दी प्रदेश ही में थे। आगरा और दिल्ली मुगलों की राजधानी रह चुके थे। यहाँ के शिक्षित वर्ग में फारसी का प्रचार भारत के दूसरे नगरों और प्रान्तों के मुकाबले में ज्यादा था। १८३६ ई० तक यहाँ राजभाषा फारसी रही और उसके बाद कचहरियों, पुलिस विभाग आदि में जो भाषा चली, वह अरबी-फारसी शब्दों से लदी हुई थी।

अंग्रेजों ने यहाँ की सामन्तशाही को अपना मित्र और चाकर बनाया। नवाबों के दरबार जन-संस्कृति के केन्द्र न थे। जनता से उनका अलगाव उनके संरक्षण में चलनेवाली भाषा-नीति पर भी पड़ा। लखनऊ, रामपुर, हैदराबाद के दरबार एक खास तरह की शैली और कविता के केन्द्र बन गये। अंग्रेजों ने दो लिपियों और दो शैलियों के चलन को प्रोत्साहन दिया और भाषा-सम्बन्धी विवाद उनकी 'फूट डालो और राज करो' नीति का जरूरी हिस्सा बन गया। लेकिन यह समझना बहुत बड़ी भूल होगी कि समूचा उर्दू

साहित्य सामन्ती संस्कृति से प्रभावित है। उर्दू का एक बहुत बड़ा हिस्सा सामन्त-विरोधी और राष्ट्रीय है। उससे हिन्दी के लेखक बहुत कुछ सीख सकते हैं और पिछले हिन्दी लेखकों ने बहुत कुछ सीखा है। उसमें बोलचाल की हिन्दी का बहुत ही सुन्दर और सँवारा हुआ रूप मिलता है।

भारतेन्दु के समय तक—और एक हद तक अब भी—शिक्षा पर पंडितों और मौलवियों का इजारा था। इसका एक फल यह हुआ कि हिन्दी-उर्दू की दो लिपियों का चलन हुआ। इससे साहित्य के पाठक दो हिस्सों में बँट गये और अक्सर उन्हें पता न रहता था कि दूसरी लिपि में क्या लिखा जा रहा है। जनसाधारण की भाषागत एकता साहित्य की शैली पर अपना असर न डाल पाई। फिर भी लिपि-भेद से ही हिन्दी-उर्दू का भेद इस हद तक नहीं बढ़ा। जायसी के 'पद्मावत' के फारसी लिपि में लिखे जाने से वह उर्दू का ग्रन्थ नहीं हो गया। मूल प्रश्न ग़ैर-बुनियादी शब्द-भण्डार का था। उन्नीसवीं सदी के अनेक उर्दू-लेखक अपनी भाषा को सरल करने का प्रयत्न कर रहे थे और उसमें अरबी-फारसी की अनावश्यक भरमार कम कर रहे थे। फिर भी जरूरत पड़ने पर बोलचाल की शब्दावली से बाहर वे अरबी-फारसी का ही सहारा लेते थे।

भारतेन्दु ने कोई नयी भाषा नहीं चलाई। उन्होंने प्रचलित खड़ी बोली को साहित्यिक रूप दिया। उनके पक्ष में तीन बातें महत्त्वपूर्ण थीं। उनकी भाषा-सम्बन्धी नीति वही थी जो अवधी और ब्रज के पुराने हिन्दू-मुसलमान कवियों की थी। उर्दू के कवि—कुछ अपवाद छोड़कर—तुलसी, सूर, मीरा, रहीम, रसखान, आलम शेख, पजनेस, जायसी, पद्माकर, भूषण आदि की परम्परा से अपरिचित थे। इस परम्परा और उसकी भाषा-नीति को भारतेन्दु ने अपनाया। यह भाषा-नीति यह थी कि तत्सम संस्कृत के मुक़ाबले में तद्भव शब्दों का प्रयोग करना, बोलचाल के अरबी-फारसी शब्दों का बहिष्कार न करना, ग़ैर-बुनियादी शब्द-भण्डार के लिए संस्कृत का सहारा लेना। दूसरी बात उनके पक्ष में यह थी कि उन्होंने ग्रामीण या जनपदीय बोलियों का स्वभाव पहचाना और अपनी हिन्दी को गाँव के साधारण पढ़े-लिखे लोगों के लिए सुलभ बनाने की कोशिश की। तीसरी बात उनके पक्ष में नागरी लिपि थी। सैकड़ों साल तक फारसी के राजभाषा बने रहने पर भी नागरी का लोप न हुआ। गाँव के लोग ज़्यादातर नागरी ही काम में लाते थे। इस लिपि के ज़रिये भारतेन्दु जनता के उस तमाम हिस्से को बटोर सके जो उर्दू न जानता था या जिसकी जातीय आवश्यकताएँ उर्दू से पूरी न होती थीं।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भाषा-सम्बन्धी बहस में हिस्सा लेनेवालों ने यह सब विकास-क्रम न समझा था। उर्दू के समर्थकों को हिन्दी प्रतिद्वन्द्वी के रूप में दिखाई दी। कुछ मुसलमान लेखकों को यह अपनी संस्कृति पर ही हमला दिखाई दिया। अंग्रेज़ों ने अपनी भाषा-नीति से बहस को बढ़ावा दिया और उसमें दोनों तरफ से ऐसी बातें कही गई जो उचित न थीं। इसी बहस की गर्मी में भारतेन्दु ने 'उर्दू का स्यापा' लिखा था :

"है है उर्दू हाय हाय ! कहाँ सिधारी हाय हाय ॥"

और आगे चलकर बालमुकुन्द गुप्त ने 'उर्दू को उत्तर' लिखा था

"न बीबी बहुत जी में घबराइये,
सम्हलिए जरा होश में आइये।"

लेकिन उर्दू सिधारी नहीं। इसका कारण उसका बुनियादी शब्द-भण्डार था जो बोलचाल की हिन्दी का ही था। वह दूसरी लिपि के माध्यम से—दरबारी और दरबारी साहित्य के अलावा—साधारण जनता के एक हिस्से की सेवा करती रही। इसलिए प्रेमचन्द, पद्मसिंह शर्मा आदि लेखकों का मत था कि क्रमशः साहित्य में एक मिली-जुली शैली का विकास होगा और वह उर्दू को हटाकर या दबाकर न होगा बल्कि उससे बहुत कुछ लेकर होगा।

भारतेन्दु ने बहस के दौरान कुछ तल्ख बातें जरूर लिखीं लेकिन वह न उर्दू से नफरत करते थे, न उर्दू के प्रचलित शब्दों का बहिष्कार करते थे। यही नहीं, वह उर्दू में गद्य-पद्य खुद भी लिखते थे। भारतेन्दु को जब व्याख्यान देने के लिए बलिया बुलाया गया था, तब विज्ञापन में उन्हें 'शायरे मारूफ बुलबुले हिन्दुस्तान' कहा गया था। वाजिद अलीशाह के शायर मिर्जा आबिद ने 'बागे आलम में मोअत्तर है हवा' आदि उन पर कसीदा लिख कर भेजा था।[1] श्री रामशंकर व्यास ने लिखा था कि उन्हें नजीर और अनीस का काव्य विशेष प्रिय था। २७ सितम्बर, १८७२ की 'कविवचन-सुधा' में एक दिलचस्प विज्ञापन छपा था। यह विज्ञापन उर्दू के साप्ताहिक पत्र 'कासिद' के बारे में था जिसे भारतेन्दु निकालनेवाले थे।

"कासिद!
सातवें दिन आवेगा!!
नये हितकारी और विचित्र समाचार कहेगा!!!

यह एक साप्ताहिक उर्दू पत्र निकलेगा इसमें अनेक हित की, नये उद्गार की, साम्प्रत समयानुसार लोक-वृद्धि की और अनेक शुभ समाचार की बातें रहेंगी—यह पत्र बहुत उत्तम बड़े-बड़े पृष्ठों में स्वच्छ अक्षरों में छपेगा मूल्य—१०) वार्षिक।

हरिश्चन्द्र
उद्यमकर्ता।"

भारतेन्दु में उर्दू के प्रति द्वेषभाव होता तो वह 'कासिद' निकालने की बात कभी न सोचते।

भारतेन्दु ने हिन्दी के माध्यम से जिस जातीय संगठन में योग दिया, उसमें अवध, ब्रज, बुन्देलखण्ड, भोजपुर आदि जनपदों की जनता शामिल थी। यदि महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की यह स्थापना सच मानी जाय कि अवधी, ब्रज, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी बोलनेवाले अलग-अलग जातियों के लोग हैं, तो भारतेन्दु का यह काम इतिहास-विरोधी ठहरेगा। भारतेन्दु भोजपुरी क्षेत्र के निवासी थे। भोजपुरी जानते

१. ब्रजरत्नदास – 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', पृ० ८३।

भी अच्छी तरह थे। लेकिन उन्होंने भोजपुरी में न लिखकर हिन्दी को अपना साहित्यिक माध्यम बनाया जैसे कि आगे प्रेमचन्द और प्रसाद ने किया। इतिहास-विरोधी राग भारतेन्दु का नहीं था; इतिहास-विरोधी स्थापना महापंडित राहुल और उन जैसे विचारकों की है। यद्यपि राहुलजी स्वयं हिन्दी के लेखक हैं—और अपना जीवनचरित उन्होंने भोजपुरी में लिखना उचित नहीं समझा—फिर भी वह हिन्दीभाषी जनता का एक प्रान्त बनाने की मांग करने के बदले बोलियों के आधार पर हिन्द प्रदेश के तेरह टुकड़े करने का सुझाव पेश करते हैं। सन् १९५३ की 'आलोचना' (दिल्ली) में इस आशय का उनका एक लेख छपा था। सोलहवीं सदी के आस-पास ही व्यापार के प्रसार के साथ भोजपुरी आदि के क्षेत्रों में खड़ी बोली फैलने लगी थी। व्यापार के केन्द्रों में एक ही बोली बोलनेवाले लोग इकट्ठा हों, ऐसा नहीं होता। उद्योग-धन्धे और व्यापार शहरों में विभिन्न बोलियाँ बोलनेवाले लोगों को बटोरते हैं और उनमें किसी एक बोली का व्यवहार 'शिष्ट' लोग करते हैं। बनारस आदि पूर्वी नगरों में खड़ी बोली व्यापारी कौमों के साथ आई। २ अक्तूबर, १८७२ की 'कविवचन-सुधा' में भारतेन्दु का 'हिन्दी भाषा' नाम का निबन्ध छपा था। यह निबन्ध ऐतिहासिक महत्त्व का है। इसमें भारतेन्दु ने बनारस की बोलियों का अध्ययन किया है और यह दिखाया है कि शिष्ट जनों की भाषा हिन्दी है।

बनारस के लोगों की बोली के बारे में वह कहते हैं, "इसी बनारस में जो बनारस के पुराने रहवासी हैं उनके घर में विचित्र-विचित्र बोलियाँ बोली जाती हैं जैसा पुरबियों की बोली तो आइला जाइला प्रसिद्ध ही है परन्तु यहाँ के पुराने निवासी कसेरे लोग 'बाट.' शब्द का बहुत प्रयोग करते हैं जैसा 'आवत हइ' के स्थान पर 'आवत बाटी', 'का करत हौव.' वा 'का करत:' के स्थान पर 'का करत बाटच.' वा 'बाटो' वा 'बाट:'।"

बनारस में इन बोलियों के एकत्र होने और उन सबके ऊपर हिन्दी के चलन का कारण क्या है? इसका कारण व्यापार का प्रसार, औद्योगिक और व्यापारी केन्द्रों का निर्माण, सामन्ती सम्बन्धों के भीतर पूंजीवादी सम्बन्धों का पनपना और विभिन्न बोलियाँ बोलनेवालों का जातीय गठन है। 'प्रेमजोगिनी' में झपटिया 'मिसरो नही आए' कहता है लेकिन जलबरिया 'सुत्तल थोड़े रहली' और 'कंवा छिला जाला' कहता है। और शिष्ट लोग खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं।

बनारस की विभिन्न बोलियों का उल्लेख करने के बाद भारतेन्दु 'हिन्दी भाषा' वाले निबन्ध में कहते हैं, "जो हो यह तो सिद्धान्त है कि जो यहाँ के शिष्ट लोग बोलते हैं यह परदेसी भाषा है और यहाँ पश्चिम से आई है।"

पछाँह से यह बोली किसके साथ आई, इस प्रश्न का उत्तर भारतेन्दु के इस वाक्य से मिलता है : "अब पश्चिमोत्तर देश में घर में बोलने की भाषा कौन है यह निश्चय नहीं होता क्योंकि दिल्ली प्रान्त के वा अन्य नगरों में भी खत्रियों वा पछाँही अगरवालों वा और पछाँही जातियों के अतिरिक्त घर में हिन्दी कोई नहीं बोलते वरंच यहाँ तो कोस-कोस पर भाषा बदलती है।" दिल्ली के अलावा अन्य नगरों में भी खड़ी बोली खत्रियों, पछाँहीं

अग्रवालों आदि के ज़रिये फैली जिनका मुख्य पेशा व्यापार था। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि मुग़ल-साम्राज्य के ध्वंस के बाद "दिल्ली के आस-पास के प्रदेशों की हिन्दू व्यापारी जातियाँ (अगरवाले, खत्री आदि) जीविका के लिए लखनऊ, फैज़ाबाद, प्रयाग, काशी, पटना आदि पूरबी शहरों में फैलने लगीं। उनके साथ-साथ उनकी बोलचाल की भाषा खड़ी बोली भी लगी चलती थी।"[१]

वास्तव में यह क्रम मुग़ल-साम्राज्य के ध्वंस से पहले ही शुरू हो चुका था। शुक्लजी ने व्यापारियों द्वारा खड़ी बोली के प्रसार का तथ्य बहुत सही दिया है। इन व्यापारियों में मुसलमान भी थे। इसके सिवाय सत्रहवीं से उन्नीसवीं तक एक बोली बोलनेवालों का दूसरी बोली के क्षेत्र में जाकर बसने का क्रम बराबर चलता रहा। अवध के जो मुसलमान मिथिला में जाकर बस गए और वहाँ एक नये ढंग की हिन्दुस्तानी का व्यवहार करने लगे, वह कार्य भी इसी क्रम के अन्तर्गत हुआ।

जो लोग समझते हैं कि खड़ी बोली केवल सभ्य व्यवहार या साहित्य की भाषा है, उन्हें इस तथ्य पर ध्यान देना चाहिए कि दिल्ली के अलावा अन्य नगरों में वह बहुत से लोगों की मातृभाषा थी और है। इस सिलसिले में भारतेन्दु ने लिखा था, "ऐसे ही पश्चिमोत्तर देश में अनेक भाषा हैं पर उनमें ऐसे नगर थोड़े हैं जिनमें आबाल-वृद्ध-वनिता सब खड़ी भाषा बोलते हों अतएव यद्यपि काशी ऐसे पूर्व प्रदेशों की मातृभाषा या घर के बोलचाल की भाषा हिन्दी है यह तो हम नहीं कह सकते पर हाँ यह कह सकते हैं कि इसी पश्चिमोत्तर देश में कई नगर ऐसे हैं जहाँ यही खड़ी बोली मातृभाषा है।"

इस बोलचाल की भाषा में हिन्दी-उर्दू का भेद न था। यह विभिन्न बोलियाँ बोलनेवाली जनता की नई जातीय भाषा थी जो उसे एक सूत्र में बाँध रही थी। गिल-क्राइस्ट से ही इस बात का सूत्रपात हो चुका था कि मुसलमानों की शिष्ट बोली और होगी और हिन्दुओं की और। लेकिन भारतेन्दु बोलचाल की भाषा में भेद न मानते थे। हिन्दी-उर्दू का भेद अरबी-फ़ारसी या संस्कृत से शब्द लेने के कारण था। ८ सितम्बर, १८७३ की 'कविवचन-सुधा' में हिन्दी-उर्दू के बारे में एक लेख छपा है जिसका अंग्रेज़ी में शीर्षक है, "Hindi Versus Urdu, Philologically हिन्दी और उर्दू।" इसमें हिन्दी-उर्दू के भेद के बारे में यह स्थापना है "हिन्दी और उर्दू में अन्तर क्या है हम बिना संकोच के उत्तर देते हैं कि भाषाओं में कुछ अन्तर नहीं है क्योंकि व्याकरण की विभक्तियाँ और नियम दोनों के एक हैं पर इतना ही अन्तर है कि हिन्दी में जिसके लिए हिन्दी शब्द नहीं मिलता वहाँ संस्कृत शब्द काम में आते हैं और उर्दू में सहज हिन्दी शब्द होने पर भी और जहाँ शब्द नहीं मिलते हैं वहाँ तो अवश्य ही अरबी और फ़ारसी के शब्द लिखे जाते हैं, यही दोनों में अन्तर है।"

भारतेन्दु ने हिन्दी के नई चाल में ढलने का वर्ष १८७३ लिखा था। वास्तव में

---

१ रामचन्द्र शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ४८४।

१८६८ में ही 'विद्यासुन्दर' के प्रकाशन और 'कविवचन-सुधा' के निकलने से हरिश्चन्द्री हिन्दी का चलन शुरू हो गया था। लेकिन हरिश्चन्द्र ने न तो कोई नई भाषा चलाई थी, न व्याकरण आदि में ही कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन किया था। उनकी हिन्दी की विशेषता उनकी शैली थी। 'विद्यासुन्दर' में 'समाचार लेने के हेतु', "यह चोर हमारी प्राणप्यारी त्रिभुवनमोहिनी का अंग स्पर्श करके आता है', 'पुरस्कार के हेतु', 'बस अब बहुत भई', 'सब काम सिद्ध भया', 'बिना युद्ध भए', 'ऐसी दशा शत्रु की होय', 'और जो वह संन्यासी नहीं होवे", 'जो यह बात सत्य होय' आदि प्रयोग मिलते हैं। 'कर्पूरमंजरी' में : "महाराज, कहिये और क्या होय?" 'मुद्राराक्षस' में : "जो कोई सुननेवाला और समझनेवाला होय।" 'वैदिकी हिंसा' में : "बड़ा आनन्द भया"। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में : "बेटा, साँझ भई", "ठीक है, सैंत सोना"। 'विषस्य विषमौषधम्' में : "तो क्या हुआ है, होय।" 'वैष्णवता और भारतवर्ष' में : "स्नान आदि भी यहीं तक रहें", 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है' में : "हमारी जो आँच में भई है।"

भाषा के परिष्कार की दृष्टि से भारतेन्दु का काम युगान्तरकारी नहीं कहा जा सकता। उनके पहले—उर्दू गद्य को छोड़ भी दें तो—रामप्रसाद निरंजनी, सदासुखलाल, राजा लक्ष्मणसिंह आदि समर्थ हिन्दी-लेखक हो चुके थे। लल्लूलाल की भाषा की तुलना में भारतेन्दु की भाषा युगान्तरकारी मालूम हो सकती है लेकिन हिन्दी गद्य के विकास में लल्लूलाल का जो महत्त्व ग्रियर्सन ने घोषित किया है, वह इतिहास से सिद्ध नहीं होता।

भारतेन्दु अनेक शब्दों में पूर्वी बोलचाल के अनुकूल 'ह' का इकारान्त प्रयोग भी करते हैं। 'पहिचानना', 'पहिले' ('विद्यासुन्दर') ही नहीं, 'गहिना पहिनाओ', 'पहिरने लगे' ('कर्पूरमंजरी'), 'कवच पहिराया' ('मुद्राराक्षस') आदि प्रयोग भी उनके यहाँ हैं। ब्रजभाषा का भी काफ़ी असर उनके गद्य पर है। आछत, बेर, तें, कै आदि शब्द नाटकों के गद्य में मिलते हैं। विराम चिह्न आदि के मामले में उन्होंने पूरी स्वच्छन्दता बरती है। शब्दों के हिज्जे में भी जहाँ-तहाँ स्वतन्त्र प्रयोग मिलते हैं।

भारतेन्दु का युगान्तरकारी महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने हिन्दी भाषा की सरलता पहचानी, अपने गद्य में उन्होंने अमल से दिखा दिया कि यह भाषा कितनी मीठी है, उनके हाथ में गद्य एक कला बन गया, वह सभी तरह के भावों और विचारों के लिए गद्य को लचीले माध्यम की तरह काम में लाने लगे। 'विद्यासुन्दर' ही में उन्होंने कुशल शिल्पी की प्रतिभा दिखा दी। "हाय हाय, ऐसा सुन्दर रूप तो न कभी आँखों देखा, न कानों सुना, इसकी दोनों हाथ से बलैया लेने को जी चाहता है। लोग सच कहते हैं कि चन्द्रमा को सिंगार न चाहिए। हमको जान पड़ता है कि चन्द्रमा ही पृथ्वी पर उतर के बैठा है। क्या कामदेव इस रूप की बराबरी कर सकता है? ऐसी कौन स्त्री है जो इसको देख के धीरज धरेगी।" इस स्वर पर हम मुग्ध हो जाते हैं, उसे बार-बार सुनना चाहते हैं। यह स्वर उनके नाटकों में बार-बार सुनाई देता है और हिन्दी-नाटकों में वह स्वर तो क्या, उसके कहीं नजदीक पहुँचनेवाला स्वर भी अब तक नहीं सुनाई दिया।

इस गद्य की सरसता का कारण तद्भव शब्दों और बोलचाल के साधारण शब्दों का चतुराई से प्रयोग है। चन्द्रमा को शृंगार नहीं, सिंगार। रूप की समानता नहीं, बराबरी। धैर्य धारण करेगी नहीं, धीरज धरेगी। और बलैया लेने की बात पर तो शुद्ध हिन्दीवादियों का हार्ट फेल हो जाएगा।

'विद्यासुन्दर' के गद्य का लेखक कहावतों और मुहावरों का धनी है। 'देखकर भी बहाली दिए जाती है' —ठेठ बनारसी मुहावरा इस्तेमाल किया है। कहावतें विशेष रूप से व्रजभाषा से ली गई हैं।

कर्पूरमंजरी' में एक दोहा है

"कठिन संस्कृत, अति मधुर, भाषा सरस सुनाय।
पुरुष नारि अन्तर सरिस, इनमें बीच लखाय॥"

संस्कृत और भाषा का यह भेद भारतेन्दु की गद्य-रचना में सही साबित होता है। यदि उन्होंने संस्कृत-शब्दावली को अपनी शैली का मुख्य आधार बनाया होता, तो उसमें वैसी सरसता न पैदा होती। उनके समय तक व्रजभाषा के प्रति निरादर भावना न पैदा हुई थी। आगे चलकर कुछ हिन्दी साहित्यकारों ने व्रजभाषा के तद्भव शब्दों को छोड़कर उनके तत्सम रूप अपनाने की जो शैली अपनायी, उससे हिन्दी की अपनी विशेषता को काफी धक्का लगा। इस अवैज्ञानिक धारणा को सही ठहराने के लिए यह सिद्धान्त गढ़ा गया कि व्रजभाषा तुतलाती थी और खड़ी बोली स्पष्ट बोलने लगी है। दूसरा सिद्धान्त यह गढ़ा गया कि संस्कृत शब्दों की बहुतायत होने से हिन्दी भारत के दूसरे हिस्सों में ज्यादा समझी जाएगी। ये दोनों ही तथाकथित सिद्धान्त हिन्दी की जातीयता के आड़े आते थे।

'हिन्दी भाषा' नाम के निबन्ध में भारतेन्दु ने लिखने की भाषा की विभिन्न शैलियों के उदाहरण दिए हैं। इनमें एक शैली वह है जिसमें 'संस्कृत के शब्द बहुत हैं', दूसरी वह है जिसमें 'संस्कृत के शब्द थोड़े हैं', तीसरी वह है जो 'शुद्ध हिन्दी है'। शुद्ध हिन्दी किससे शुद्ध है? यह हिन्दी फारसी शब्दों से शुद्ध नहीं है, वह संस्कृत से भी बहुत कुछ शुद्ध है। इसीलिए जिस शैली में 'संस्कृत के शब्द थोड़े हैं', उससे भी उसे अलग श्रेणी में रखा गया। चौथी शैली वह है जिसमें 'किसी भाषा के शब्द मिलने का नेम नहीं है', पाँचवीं वह है जिसमें 'फारसी शब्द विशेष हैं' इत्यादि। इन शैलियों पर अपना मत देते हुए भारतेन्दु ने लिखा है कि "नम्बर २ और ३ लिखने के योग्य हैं।" भारतेन्दु ने उन शैलियों को पसन्द किया है जिनमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं या नहीं के बराबर हैं। इसके विरुद्ध भारतेन्दु के नामलेवा और पानीदेवा बहुत से शुद्ध हिन्दीवादियों ने अच्छी शैली उसे समझा है जिसमें भरसक संस्कृत के शब्द हों (और जितना ही निरर्थक हो, शैली उतना ही सार्थक समझी जाय!)।

भारतेन्दु की शुद्ध हिन्दी का नमूना यह है :

"पर मेरे प्रीतम अब तक घर न आए क्या उस देश में बरसात नहीं होती या किसी सौत के फेर में पड़ गये कि इधर की सुध ही भूल गये। कहाँ तो वह प्यार की

बातें कहाँ एक संग ऐसा भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना । हा ! मैं कहाँ जाऊँ कैसी करूँ मेरी तो ऐसी कोई मुँहबोली सहेली नहीं कि उससे दुखड़ा रो सुनाऊँ कुछ इधर-उधर की बातों ही से जी बहलाऊँ ।"

ब्रजभाषा से इस गद्यशैली का कितना नज़दीकी सम्बन्ध है, यह सहज ही देखा जा सकता है । ख़ास तौर से अपने नाटकों की भाषा में भारतेन्दु ब्रजभाषा की तद्‌भव प्रधान शैली का ज़्यादा प्रयोग करते हैं । 'कर्पूरमंजरी' में उनकी सरस शैली गद्यकाव्य की तरह प्रभावशाली हो गई है । यथा—"इसकी चितवन कलेजे में से चित्त को जोराजोरी निकाले लेती है । इसकी सहज शोभा इस समय कैसी भली मालूम पड़ती है । अहा ! इस कपड़े से जो पानी की बूँदें टपकती हैं वे ऐसी मालूम होती हैं मानो भावी वियोग के भय से वस्त्र रोते हैं । काजल आँखों से धो जाने से नेत्र कैसे सुहाने हो रहे है, और बहुत देर तक पानी में रहने से कुछ लाल भी हो गए हैं ।"

भारतेन्दु ने गद्य के लिए तो खड़ी बोली को माध्यम बनाया लेकिन पद्य के लिए उनका विचार था कि ब्रजभाषा को ही माध्यम बना रहना चाहिए । इस तरह गद्य और पद्य में एक असंगति रही और भारतेन्दु के बाद पद्य में खड़ी बोली को माध्यम बनाने के लिए एक लम्बा संघर्ष चला । 'हिन्दी भाषा' वाले निबन्ध में उन्होंने अपना यह मत प्रकट किया है कि "पश्चिमोत्तर देश की कविता की भाषा ब्रजभाषा है यह निर्णीत हो चुकी है ।" अपने अनुभव के बारे में लिखा है : "मैंने आप कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी, इससे यह निश्चय होता है कि ब्रजभाषा में ही कविता करना उत्तम होता है और इसी से सब कविता ब्रजभाषा में ही उत्तम होती हैं ।" खड़ी बोली में कविता मीठी क्यों नहीं होती, इसका "सबसे बड़ा कारण यह जान पड़ा कि इसमें क्रिया इत्यादि में प्रायः दीर्घ मात्रा होती हैं इससे कविता अच्छी नहीं बनती ।"

वास्तव में खड़ी बोली की कविता में मिठास के अभाव के लिए कोई वैज्ञानिक कारण नहीं है । कारण कवियों में अभ्यास की कमी ही हो सकता है । ब्रजभाषा में पद्य का एक बना-बनाया रास्ता था; कविता की अपनी शब्दावली थी । खड़ी बोली में यह सब गढ़ना था ।

खड़ी बोली बनारस और दूसरे पूर्वी जिलों में शिष्ट लोगों की बोलचाल की भाषा के रूप में फैल रही थी । इसलिए भारतेन्दु जैसे कवि का उससे प्रभावित न होना असम्भव था । उनकी एक तरह की शैली वह है जिसमे ब्रजभाषा खड़ी बोली के साथ घुलती-मिलती दिखाई देती है । जैसे 'प्रेमतरंग' के इस गीत में—

किन वे रुठाया मेरा यार ।
कहाँ गया, क्यों छोड़ गया मोहिं, तोड़ गया क्यों प्यार ।

या

नशीली आँखोंवालो सोए रहो अभी है बड़ी रात।
सगरी रैन मेरे संग जागत रहे करत रंगीली बात॥

दूसरी तरह की बोली उनकी लावनियों की है जिसमें प्रचलित फारसी के शब्द भी आते हैं और जिसकी भाषा आमतौर से शुद्ध खड़ी बोली होती है। सूफी कवियों के रंग में भारतेन्दु खड़ी बोली की कितनी सरस कविता कर सकते थे, इसका नमूना इन पंक्तियों में मिलेगा—

श्री राधा-माधव जुगल चरन रस का अपने को मस्त बना।
पी प्रेम पियाला भर भर कर कुछ इस मै का भी देख मजा॥
यह वह मै है जिसके पीने से और ध्यान छुट जाता है।
अपने मे औ' दिलवर में फिर कुछ भेद नहीं दिखलाता है॥
इसके सुरूर से मस्त हुवेक अपने को नजर बस आता है।
फिर और हवस रहती न जरा कुछ ऐसा मजा दिखाता है॥
टुक मान मेरा कहना दिल को इस मैखाने की तर्फ झुका।
पी प्रेम पियाला भर भर कर कुछ इस मै का भी देख मजा॥

लावनीबाजों ने खड़ी बोली कविता की एक सजीव परम्परा कायम की थी। उनके लिए दीर्घ ह्रस्व मात्राओं से खड़ी बोली के मीठे, कड़वे बनाने का सवाल न था। उनके यहाँ खड़ी बोली एक बहुत ही लचीला माध्यम बन गई थी और भारतेन्दु ने जब उस परम्परा का सहारा लिया, तब उन्होंने खड़ी बोली में बहुत ही सरस कविता की। यह सही है कि यह कविता पर प्रसाद की शैली से बहुत दूर है लेकिन वह जन-काव्य की परम्परा के बहुत निकट है।

जनसाधारण के कवियों ने पद्य में खड़ी बोली की परम्परा बहुत दिन से चला रखी थी। उन्हें यह विश्वास दिलाने की ज़रूरत न थी कि ब्रजभाषा छोड़कर खड़ी बोली में लिखने से साहित्य और जल्दी उन्नति करेगा। कवियों के सामने प्रश्न यह था कि वे इस सजीव परम्परा से नाता जोड़ेंगे या नहीं। भारतेन्दु के नाटकों में खड़ी बोली के गीतों आदि का आना यह साबित करता है कि जनता में खड़ी बोली के पद्य प्रचलित थे। 'वैदिकी हिंसा' में राजा गाता है 'पीले अवधू के मतवाले प्याला प्रेम हरी रस का रे।' 'सत्य हरिश्चन्द्र' में धर्म कहता है—

हम चौधरी डोम सरदार। अमल हमारा दोनो पार।

और पिशाच-डाकिनियों का गीत—

हम सजमे बजके बजके चलैंगे चमकेंगे, चम चम चम।

'भारत-दुर्दशा' में आलस्य का गीत है—

दुनिया में हाथ-पैर हिलाना नहीं अच्छा।

'अंधेर-नगरी' में घासीराम का 'चने जोर गरम' खड़ी बोली की अपनी चना-जोर शैली

में है। ऐसे ही चूरनवाले का लटका है—

चूरन अमलबेद का भारी। जिसको खाते कृष्णमुरारी।
मेरा पाचक है पचलोना। जिसको खाता श्यामसलोना॥

आम जनता में खड़ी बोली के पद्यों के चलन का मतलब यह था कि कविता में भी खड़ी बोली को माध्यम बनाने की ऐतिहासिक आवश्यकता पैदा हो गई थी।

भारतेन्दु की उपर्युक्त शैलियों के अलावा उनकी उर्दू शैली की रचनाएँ हैं। 'रसा' नाम से वह शायरी करते थे और आमतौर से उनकी भाषा सरल उर्दू होती है। यथा—

दिल मेरा ले गया दगा करके।
बेवफा हो गया वफा करके॥

o o

दोस्तो कौन मेरी तुर्बत पर,
रो रहा है 'रसा रसा' करके।

भारतेन्दु की समूची खड़ी बोली की कविता परिमाण में कम नहीं है। उन्होंने खड़ी बोली की सरल लोकप्रिय कविता में सफलता पाई थी। लेकिन ब्रजभाषा में जिस पुरानी शैली पर वह शृंगार-रस के पद्य बनाते थे, उस शैली पर उन्होंने खड़ी बोली में पद्य नहीं बनाये। खड़ी बोली बनाम ब्रजभाषा विवाद में भारतेन्दु के अपने प्रयोग यह साबित नहीं करते कि खड़ी बोली में सरस कविता न लिखी जा सकती थी।

भारतेन्दु ने खड़ी बोली को—उसके हिन्दी रूप में—नाटक, निबन्ध, पत्रकारिता, उपन्यास और एक हद तक कविता का भी माध्यम बनाया। उनके सामने हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य रचने की समस्या भी थी। उनका यह स्वप्न था कि एक हिन्दी विश्वविद्यालय खोला जाय। शिल्प की उन्नति के लिए वह बराबर ज़ोर देते रहे थे। इसलिए विज्ञान के लिए पारिभाषिक शब्दावली की समस्या का उठ खड़ा होना स्वाभाविक था। उस समय भी ऐसे लोग थे जो हिन्दी में वैज्ञानिक पुस्तकों का अभाव दिखाकर हिन्दी माध्यम से विज्ञान की शिक्षा देने का विरोध करते थे। भारतेन्दु के समय में ही हिन्दी-प्रेमी विद्वान् वैज्ञानिक पुस्तकें तैयार करने की तरफ ध्यान देने लगे थे। उन्हें भारतेन्दु से इस काम में प्रोत्साहन मिला।

२३ अगस्त, १८७३ की 'कविवचन-सुधा' में भारतेन्दु ने 'हिन्दी की उन्नति' नाम के निबन्ध में उन लोगों को जवाब दिया था जो कहते थे कि हिन्दी में वैज्ञानिक पुस्तकें लिखी ही नहीं जा सकतीं। ऐसे 'विद्वानों' का मज़ाक उड़ाते हुए उन्होंने लिखा था, "बहुत से लोग बिना समझे-बूझे दाढ़ी हिला-हिलाकर कहा करते थे कि हिन्दी में वैज्ञानिक ग्रन्थ (Scientific Works) नहीं लिखे जा सकते और भाषा में इतने शब्द नहीं कि वैज्ञानिक भावना प्रकाश की जाय पर हम लोग यह जल्पने वाले लोगों को सचेत करते हैं कि वे इस निद्रा से जागें और टुक आँख खोलकर देखें कि अब हिन्दी भाषा की उन्नति

चाहनेवाले लोग जो कहते थे सो कर दिखाते हैं काशिस्थ राजकीय पाठशाला के गणित विद्या के मुख्य अध्यापक पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र एम० ए० ने हिंदी भाषा में गणित विद्या की पूरी श्रेणी (Mathematical Series) बनाने का संकल्प किया है तथाच उक्त महाशय ने सरल त्रिकोणमिति (Plane Trigonometry) हिन्दी भाषा में प्रस्तुत कर ली।'

२१ सितम्बर, १८७३ की 'कविवचन-सुधा' में इस विषय की चर्चा करते हुए उन्होंने फिर लिखा था, "बहुत लोग गाल बजाकर कहते हैं कि हिन्दी हो जाने से विज्ञान के पढ़न पढ़ाने में विघ्न हो जायगा क्योंकि हिन्दी भाषा में इतने थोड़े शब्द हैं कि वैज्ञानी भावना उसके द्वारा प्रकाश नहीं हो सकती है पर हम उसका यही उत्तर देते हैं कि कोई बात बिना युक्ति के प्रामाणिक नहीं हो सकता है हिन्दी के शत्रु बकबस यह भी कह सकत है कि इस संसार में ऐसे भी मनुष्य होते हैं जिनके चार सींग होते हैं पर इसको कोई बुद्धिमान न मानेगा क्योंकि इसका कुछ प्रमाण नहीं है पर उनके इस कहने पर भी हिन्दी में वैज्ञानी शिक्षा नहीं हो सकती है कोई नहीं मानेगा जब तक कि अपने साध्य के लिए प्रबल प्रमाण न देंगे यों तो अपनी कलम है और अपना कागज।"

ऐसे लोगों की आज भी कमी नहीं है जो समझते हैं कि हिन्दी (या अन्य किसी देशी भाषा) के माध्यम से विज्ञान की शिक्षा नहीं दी जा सकती। यही नहीं, कहनेवाले यहाँ तक कहते हैं कि हिन्दी में शिक्षा देने से शिक्षा का स्तर गिर जाएगा, देश का सांस्कृतिक पतन हो जाएगा। ऐसे लोग शिक्षा और विज्ञान को थोड़े-से अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों की जागीर समझते हैं। हिन्दी के माध्यम से लोग विज्ञान पढ़ने लगे तो इनकी जागीरदारी खत्म हो जाएगी। भारतेन्दु अंग्रेजी पढ़ने और अंग्रेजी द्वारा आधुनिक विज्ञान की शिक्षा पाने के विरुद्ध न थे। लेकिन उनके सामने समस्या यह थी कि इस शिक्षा और ज्ञान को तमाम देशवासियों के लिए सुलभ कैसे बनाया जाय। वह शिक्षा को जनवादी और लोकप्रिय रूप देना चाहते थे, उसे थोड़े से अंग्रेजी-भक्त विद्वानों की जागीर न बना देना चाहते थे। इसीलिए 'हिन्दी की उन्नति' में उन्होंने कहा था—

> विविध कला शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार।
> सब देसन से लै करहु, भाषा माँहि प्रचार।।

भारतेन्दु की यह नीति देश में शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति की उन्नति के लिए एकमात्र सही नीति है। हिन्दी को तुच्छ समझना उसे विज्ञान की शिक्षा के अयोग्य समझना वास्तव में अपनी अशिक्षा और विज्ञान में अपनी अयोग्यता का परिचय देना है। दोष भाषा का नहीं है शिक्षा के कर्णधारों का है। जिस दिन शिक्षा का उद्देश्य जनता की वास्तविक उन्नति करना होगा, उस दिन अंग्रेजी के माध्यम का मोह छोड़ना ही होगा और हिन्दी में विज्ञान की शिक्षा के लिए भरपूर कोशिश करनी ही होगी।

रामप्रसाद निरंजनी, सदासुखलाल, राजा लक्ष्मणसिंह के युग के बाद भारतेन्दु ने हिन्दी नई चाल में ढाली। उन्होंने बोलचाल की भाषा का यह साहित्यिक रूप अरबी-

फारसी के प्रचलित शब्दों को निकालकर नहीं सँवारा। उन्होंने बोलचाल की शब्दावली के अलावा ग़ैर-बुनियादी शब्द-भण्डार के लिए संस्कृत का सहारा लिया। उनकी भाषा यहाँ की ग्रामीण बोलियों के निकट थी, वह ब्रज-अवधी की पुरानी साहित्यिक परम्परा की भाषा-नीति के अनुकूल थी। नागरी लिपि के सहारे वह जनता में लोकप्रिय हुई।

हिन्दी का विकास हिन्द प्रदेश की जनता के जातीय विकास के साथ जुड़ा हुआ था। साहित्यिक हिन्दी का विकास हमारे जातीय विकास की ज़रूरत पूरा करता था। हिन्द प्रदेश के पूर्वी जिलों में भी व्यापारी लोगों के ज़रिये खड़ी बोली का प्रसार हुआ था। भोजपुर, अवध, ब्रज आदि जनपदों का अलगाव बहुत पहले कम होना शुरू हो गया था। भारतेन्दु के समय में वह और कम हो रहा था। शहरों में विभिन्न बोलियो का एकत्र होना देखा जा सकता था, उन सबके ऊपर जातीय भाषा के रूप में हिन्दी का प्रसार हो रहा था। इस बोलचाल की हिन्दी में साहित्यिक हिन्दी-उर्दू वाला भेद न था। हिन्दी जाति की भाषा एक थी। उसके साहित्यिक रूप दो हुए।

भाषा के परिष्कार की दृष्टि से भारतेन्दु के गद्य में बहुत-सी खामियाँ थीं, लेकिन उनका युगान्तरकारी काम यह था कि उन्होंने बोलचाल की भाषा की प्रकृति पहचानी, उसकी मिठास को साहित्य में जगह दी, उस भाषा को सभी तरह के साहित्य का समर्थ माध्यम बनाया। वह समझते थे कि पद्य के लिए ब्रजभाषा ही उपयुक्त है; फिर भी उन्होंने स्वयं खड़ी बोली में कम पद्य नहीं रचा जो उनके ब्रजभाषा में लिखे हुए पद्य से बढ़कर है। *जनता में खड़ी बोली कविता की अपनी एक परम्परा कायम हो चुकी थी।* भारतेन्दु ने इसे पहचाना और उसके अनुकूल पद्य भी रचे। वास्तव में खड़ी बोली (हिन्दी) में पद्य-रचना के लिए ऐतिहासिक आवश्यकता कभी की पैदा हो चुकी थी।

भारतेन्दु ने उन लोगों का विरोध किया जो यह दावा करते थे कि हिन्दी में विज्ञान की किताबें लिखी ही नहीं जा सकतीं या हिन्दी में विज्ञान की शिक्षा न देन चाहिए। उनके सामने शिक्षा और विज्ञान का उद्देश्य समूचे देश की उन्नति करना था और यह काम देशी भाषाओं द्वारा ही हो सकता था।

इस तरह भारतेन्दु ने हिन्दी को नई चाल में ही नहीं ढाला वरन् उसके चौमुखी विकास के लिए संघर्ष भी किया। (१९५३)

२

गांधीजी और भाषा-समस्या

अपने राजनीतिक जीवन के आरम्भ से ही गांधीजी ने भाषा-समस्या पर सोचना और लिखना आरम्भ कर दिया था। सत्य, अहिंसा, स्वराज्य, सर्वोदय—किसी भी अन्य विषय पर उनके विचार आज के लिए इतने उपादेय नहीं हैं, जितने भाषा-समस्या पर। अंग्रेजी, भारतीय भाषाओं, राष्ट्रभाषा हिन्दी और हिन्दी-उर्दू की समस्या पर उन्होंने जितनी बातें कही हैं, वे बहुत ही मूल्यवान हैं। किसी राजनीतिक नेता ने इन समस्याओं पर इतनी गहराई से नहीं सोचा, किसी पार्टी और उसके नेताओं ने भाषा-समस्या के सैद्धान्तिक समाधान को अपनी नित्यप्रति की कार्यवाही में इस तरह असली जामा नहीं पहनाया, जैसे गांधीजी ने। उनकी नीति के मूल सूत्र छोड़ देने से यह समस्या दिन-पर दिन उलझती जा रही है। जो लोग उसे उलझा रहे हैं, वे गांधीजी की जय बोलते हुए, गांधीवाद की दुहाई देते हुए ऐसा कर रहे हैं।

गांधीजी की भाषा-नीति का पहला सूत्र है, भाषा-समस्या का समाधान जनता के हित में हो।

नेता अंग्रेजी में भाषण दें, जनता समझे नहीं। ऐसे नेता न तो देश में कोई बड़ा परिवर्तन कर सकते थे, न उनकी राजनीति जनता की राजनीति बन सकती थी। जो नेता अंग्रेजी में ही बोलने की ज़िद करते थे और हिन्दी सीखने में इन्कार करते थे, उनके लिए गांधीजी ने सन् '२७ में लिखा था, "वास्तव में ये अंग्रेजी में बोलनेवाले नेता हैं जो आम जनता में हमारा काम जल्दी आगे बढ़ने नहीं देते। वे हिन्दी सीखने से इन्कार करते हैं जबकि हिन्दी द्रविड़ प्रदेश में भी तीन महीने के अन्दर सीखी जा सकती है, अगर सीखने-वाले इसके लिए तीन घंटे हर रोज़ दें।" (थॉट्स ऑन नेशनल लैंग्वेज, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, पृ० २२)।

गांधीजी ने नेताओं का अंग्रेजी बोलना छुड़ाया। उनके संघर्ष के फलस्वरूप कम-से-कम अब अपने प्रदेशों में वे जनता के सामने अंग्रेजी में भाषण नहीं करते। लेकिन उनका राजनीतिक-सांस्कृतिक काम अब भी बहुत कुछ अंग्रेजी में होता है। अब राज्यसत्ता कांग्रेसी नेताओं के हाथ में है। यह राज्यसत्ता, उसे चलानेवाली नौकरशाही वर्ग किसके लिए है? स्वराज्य किसके लिए है? सन् '३१ में गांधीजी ने लिखा था, "यदि स्वराज्य

अंग्रेजी-पढ़े भारतवासियों का है और केवल उनके लिए है, तो सम्पर्क भाषा अवश्य अंग्रेज़ी होगी। यदि वह करोड़ों भूखे लोगों, करोड़ों निरक्षर लोगों, निरक्षर स्त्रियों, सताये हुए अछूतों के लिए है तो सम्पर्क भाषा केवल हिन्दी हो सकती है।" (उप०, पृ० ३१)

इसलिए यदि जनतन्त्र जनता का है और जनता के लिए है तो उसमें अंग्रेजी के लिए जगह न होनी चाहिए। अंग्रेज़ी को अपनानेवाले वे लोग हैं जो भाषा-समस्या पर जनता के हितों को ध्यान में रखकर विचार नहीं करते। उन्होंने लिखा था, "कुछ लोग जो अपने दिमाग़ से जनता की बात एकदम निकाल देते हैं, वे यही नहीं कहते कि अंग्रेज़ी भी सम्पर्क भाषा हो सकती है, वे कहते हैं कि अंग्रेज़ी ही एकमात्र सम्पर्क भाषा हो सकती है।" (उप०, पृ० ३०)

जो राजनीतिज्ञ जनता-जनता सबसे ज़्यादा चिल्लाते हैं, वे अपनी राजनीतिक कार्यवाही में इसी जनता की उपेक्षा करते हैं। गांधीजी मार्क्सवादी-लेनिनवादी नही थे लेकिन लेनिन की भाषा-सम्बन्धी नीति का सारतत्त्व उन्होंने ग्रहण कर लिया था। उन्होंने भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा अंग्रेजी के व्यवहार की आलोचना करते हुए सन्' ३७ में लिखा था, "उनके लेख अंग्रेज़ी न जाननेवालों के लिए गुप्त खज़ाना (सील्ड बुक) हैं। लेकिन रूस का हाल देखिए। वहाँ क्रान्ति से पहले ही तमाम पाठ्य पुस्तकें (वैज्ञानिक पुस्तकों समेत) रूसी में छपती थीं। दरअसल इसी बात ने लेनिन की क्रान्ति के लिए मार्ग तैयार किया। हम आम जनता से सच्चा सम्पर्क तब तक कायम नहीं कर सकते, जब तक कांग्रेस यह फैसला नहीं करती कि उसका सारा विचार-विमर्श हिन्दी में होगा और उसके प्रान्तीय संगठनों का काम प्रान्तीय भाषाओं में होगा।" (उप०, पृ० ५३)

विभिन्न प्रदेशों के बीच विदेशी भाषा को अपनी सम्पर्क-भाषा बनाकर कोई भी देश जन-क्रान्ति नहीं कर सकता। क्रान्ति का अर्थ मुट्ठी-भर आदमियों द्वारा ख़ूनखराबी करना नहीं होता। क्रान्ति का अर्थ है, समाज-व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन लाना। इस तरह के परिवर्तन आम जनता के सहयोग के बिना कभी नहीं लाये जा सकते। जो देश पराधीन हैं, वे आम जनता के संघर्ष के बिना स्वाधीन नहीं हो सकते; और जो देश स्वाधीन हैं, वे आम जनता की दृढ़ एकता और समर्थ राजनीतिक कार्यवाही के बिना अपनी स्वाधीनता की रक्षा नहीं कर सकते।

कुछ लोग समझते हैं कि सम्पर्क भाषा तो मन्त्रियों, नेताओं, बड़े-बड़े अफसरों वगैरह के लिए ही जरूरी है। आम जनता अपनी प्रादेशिक भाषाएँ बोलती ही है; उसे सम्पर्क भाषा से क्या लेना-देना है? ऐसा सोचनेवाले अपने को शासक और जनता को शासित समझते हैं। उनके लिए नौकरशाह जनता के नौकर नहीं हैं, वे उसके बादशाह हैं। जिन पार्टियों के हाथ में राज्यसत्ता नही है, जिनके नेता निकट भविष्य में मन्त्री बनने के उम्मीदवार हैं, वे भी अनजाने अपने को जनता का सेवक नहीं हुक्मरान समझने लगे हैं। इसलिए वे अंग्रेजी को सम्पर्क भाषा बनाकर चैन से अपनी गद्दियों पर बैठे हुए हैं।

इन सबसे भिन्न गांधीजी का मत था कि सम्पर्क नेताओं में ही नही, विभिन्न प्रदेशों

की आम जनता में होना चाहिए। उन्होंने लिखा था, "आप और हम चाहते हैं कि करोड़ों आदमी अन्तर्प्रान्तीय सम्पर्क कायम करें। स्पष्ट है कि अंग्रेजी के द्वारा, कई पीढ़ियाँ गुजर जाने पर भी, वे परस्पर सम्पर्क स्थापित न कर सकेंगे।" (१९२७, उप०, पृ० ४८)। यदि हमारे देश के जनवादी, समाजवादी, मार्क्सवादी-लेनिनवादी राजनीतिज्ञ गांधीजी की इस बात को मानें कि करोड़ों जनता को आपस में राष्ट्रीय स्तर पर सम्पर्क कायम करना है, तो वे सबसे आगे बढ़कर हिन्दी प्रचार के काम में हिस्सा बँटाएँ, वे अंग्रेजी की छतरी के नीचे बैठकर दूर से हिन्दी की नुक्ताचीनी न करते रहें।

देशव्यापी सम्पर्क जनता का, स्वराज्य करोड़ों अशिक्षित और निर्धन लोगों के लिए, नेता और जनता के बीच सबसे बड़ी दीवार अंग्रेजी—यह हुआ गांधीजी की भाषा-नीति का पहला सूत्र।

गांधीजी के लिए भाषा समस्या कोई शुद्ध भाषा विज्ञान की समस्या नहीं थी। उन्होंने राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के सन्दर्भ में ही उस पर विचार किया था। अंग्रेजों ने भारतीय जनता को गुलाम बनाने के साथ उसकी भाषाओं का दमन किया, उस पर अंग्रेजी लादी। अंग्रेजी का चलन राजनीतिक-सांस्कृतिक पराधीनता का अंग था, उसे सम्पर्क भाषा के पद से हटाना राजनीतिक-सांस्कृतिक स्वाधीनता के लिए आवश्यक था। अंग्रेजी की जगह भारतीय भाषाओं का व्यवहार राष्ट्रीय आत्मसम्मान की रक्षा का प्रश्न था।

उनकी भाषा-नीति का दूसरा सूत्र है राष्ट्रीय आत्मसम्मान की रक्षा के लिए अंग्रेजी का प्रभुत्व खत्म करो।

१९०९ में गांधीजी ने लिखा था, "क्या वे लोग जो अपनी मातृभाषा का अपमान करते हैं, कभी देश का भला कर सकते हैं? मैं इसकी कल्पना नहीं कर सकता कि गुजरात के लोग अपनी मातृभाषा छोड़कर अन्य कोई भाषा अपना लें। ऐसा हो तो यह कहने में जरा भी अतिशयोक्ति न होगी कि जो लोग अपनी भाषा छोड़ देते हैं, वे देशद्रोही हैं और जनता के प्रति विश्वासघात करते हैं।' (उप०, पृ० १८९)

जो लोग अंग्रेजी में उपन्यास और कहानियाँ लिखकर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित करते रहे हैं, वे गांधीजी के इन वाक्यों पर गंभीरता से विचार करें।

गांधीजी ने गुजराती भाषी शिक्षित जनों में मातृभाषा का प्रेम जगाया अंग्रेजी बोलने पर उनकी लानत-मलामत की। गुजरात के नवीन साहित्यिक अभ्युत्थान में उनका योगदान अनुपम है। दिसम्बर, १९१५ में सग्रामपुर, सूरत के जैन विद्यार्थियों ने गांधीजी को अपने पुस्तकालय का उद्घाटन करने के लिए बुलाया। गांधीजी के बोलने की बात सुनकर वहाँ बड़ा जन-समुदाय एकत्र हो गया। एक विद्यार्थी ने अंग्रेजी में भाषण किया। दूसरा खड़ा हुआ, उसने अंग्रेजी में निबन्ध पढ़ा। गांधीजी ने इन अंग्रेजी बोलनेवालों को लक्ष्य करके कहा, "यदि अंग्रेजी जाननेवाले मुट्ठीभर लोगों को हम देश मान लें तो कहना होगा कि हमने देश शब्द का अर्थ नहीं समझा।" उन्होंने उन लोगों को फटकारा जो कहते थे कि वे मातृभाषा में अपने विचार अच्छी तरह प्रकट नहीं कर सकते। उन्होंने कहा, "जो

युवक यह कहते हैं कि हम अपने विचार मातृभाषा द्वारा नहीं प्रकट कर सकते, उनसे मैं यही निवेदन करूँगा कि आप मातृभाषा के लिए भार-रूप हैं। मातृभाषा की अपूर्णता दूर करने के बदले उसका अनादर करना—उससे हाथ ही धो बैठना—किसी सच्चे सपूत को शोभादायक नहीं।"

यह फैशन अभी तक बना हुआ है कि जिनके पास कहने को कुछ नहीं है वे भी करुण कंठ से क्षमा-याचना करते हुए जनता से कहते हैं, हम हिन्दी में अपने विचार 'फ्लुएंटली' प्रकट नहीं कर सकते ! मातृभाषा की अपूर्णता दूर करना इनके वश की बात नहीं ; वे अंग्रेज़ी के भारवाही बनकर मातृभाषा और मातृभूमि के लिए केवल भार-रूप हैं !

गांधीजी गुजराती के, समस्त भारतीय भाषाओं के सम्मान के लिए लड़े। उनके इस संघर्ष का आदर करनेवालों में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी भी थे। उन्होंने गांधीजी का उपर्युक्त भाषण मार्च, १९१६ की 'सरस्वती' में छापा था। भाषण को हिन्दी में अनुवादित करके भेजा था गुजराती सज्जन श्री मणिभाई व्यास ने।

दिसम्बर, १९१६ में गांधीजी ने देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा के प्रचारपर लखनऊ में भाषण दिया। आठ-दस हज़ार श्रोताओं के बीच उन्होंने यह भाषण हिन्दी में दिया। अपने हिन्दी सीखने और हिन्दी के लिए अपमानित होने के बारे में उन्होने ये मर्मस्पर्शी शब्द कहे थे—

"जिन प्रान्तों में हिन्दी का प्रचार कम है वहाँ हिन्दी पढ़नेवालों की बड़ी कमी है। मैं स्वयं हिन्दी सीखना चाहता था। पर अहमदाबाद में कोई हिन्दी-ज्ञाता शिक्षक न मिला। मिला बेचारा एक गुजराती-भाषाभाषी, जिसने पन्द्रह-बीस वर्ष काशी में रहकर टूटी-फूटी हिन्दी सीखी थी। उसी से मैंने हिन्दी सीखी। सम्मेलन यदि अन्य भाषा-भाषी प्रान्तों में आदमी भेजे तो बहुत से लोग हिन्दी सीख जाएँ।"

हिन्दी की दरिद्रता के गीत गाते अंग्रेजी-प्रेमी भारतवासी थकते नही है। पता नहीं इनकी संख्या पहले ज़्यादा थी, या अब है। गांधीजी ने इन लोगों को लक्ष्य करके कहा था, "लोग कहते हैं कि हिन्दी में कुछ नही है—हिन्दी साहित्य खोखला है—अतएव अंग्रेजी के बिना काम नहीं चल सकता। कभी-कभी तो अंग्रेजी न जानने के कारण लोगों को वृथा ही बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। यह मैं भी मानता हूँ। यहाँ तक कि मुझ-जैसे लोगों को, हिन्दी का व्यवहार करने के कारण—हिन्दी बोलने के कारण—रेलवे इत्यादि में धक्के भी खाने पड़ते हैं। अंग्रेज़ी से हिन्दी कितना ही पीछे क्यों न हो, हमें उसका गौरव बढ़ाना ही पड़ेगा।"

राष्ट्र के जो नेता आज हवाई जहाजो और 'एयर कंडीशण्ड' गाड़ियों में सफ़र करते हुए अंग्रेज़ी को सम्पर्क भाषा का गौरव प्रदन करते है, क्या वे कभी याद करते हैं कि अंग्रेजी-रेलो के यात्री मोहनदास कर्मचन्द गांधी को हिन्दी बोलने के कारण धक्के खाने पड़े थे ? वे राष्ट्रपिता की जय बोलते हैं, राष्ट्रपिता के नाम पर जनता को अध्यात्मवाद के उपदेश देते हैं, राष्ट्र के नाम पर सन्देश प्रसारित करते है, उस भाषा में

जिसका व्यवहार गांधीजी राष्ट्र सम्मान के प्रतिकूल समझते थे।

गांधीजी ने अंग्रेजों के सामने, उच्चतम अंग्रेज पदाधिकारियों के सामने, महा-प्रतापी ब्रिटिश साम्राज्य के प्रतिनिधि वाइसराय के सामने भारतीय भाषाओं के गौरव की रक्षा की। उसी भाषण में उन्होंने कहा था, "सरकारी कौंसिलों में अंग्रेजी की पूछ है—उसी का विशेष आदर है। लोग कहते हैं कि वाइसराय इत्यादि अंग्रेजी के अतिरिक्त और कोई भाषा नहीं समझते। अतएव अंग्रेजी का ही उपयोग करना आवश्यक है। पर मैं कहता हूँ कि यदि मैं बोलना जानता हूँ और मेरे कथन में कोई बात ऐसी है जिससे वाइसराय लाभ उठा सकें तो अवश्य मेरी बातें, हिन्दी में होने पर भी, सुनेंगे। आपको जरा दृढ़ता और मनोयोग से काम लेना चाहिए। आत्मावलम्ब किए बिना कोई काम सिद्ध नहीं होता।"

अब अंग्रेज वाइसराय नहीं हैं। लेकिन मनोवृत्ति वही है। अंग्रेजी बोलने में लोग गौरव का अनुभव करते हैं। इससे राष्ट्रीय आत्मसम्मान की भावना क्षीण होती है। अंग्रेज वाइसराय एक बार किसी को हिन्दी में बोलने की अनुमति भी दे दे लेकिन यदि स्वाधीन भारत की लोकसभा में कोई मन्त्री हिन्दी में बोले तो महाक्रान्तिकारी कामरेड गोपालन 'वाक आउट' कर देते हैं! गांधीजी ने केवल दूसरों को वाइसराय के सामने हिन्दी बोलने का उपदेश न दिया था, उन्होंने साहस से अपने उपदेश के अनुसार आचरण भी किया था।

१९३१ में संयुक्त भारत के चेम्बर ऑफ कॉमर्स का अधिवेशन कराची में हुआ। उसमें विभिन्न प्रान्तों के सेठ और व्यापारी मौजूद थे। अंग्रेज भी थे। किन्तु गांधीजी ने अपना भाषण हिन्दी में दिया। इस भाषण में उन्होंने बताया कि सन् '१८ में वाइसराय के सामने वह हिन्दी में बोले थे। सन् '१८! अंग्रेज वाइसराय! अंग्रेज और अंग्रेजियत का वह आतंक! उस वातावरण में वाइसराय के सामने हिन्दी बोलने खड़े हुए कर्मवीर गांधी।

—कराचीवाले भाषण में उन्होंने कहा था, "मेरे अंग्रेज मित्र मुझे क्षमा करेंगे कि जो कुछ मुझे कहना है, वह मैं राष्ट्रभाषा में कहूँगा। इस अवसर पर मुझे उस सभा की याद आती है जो यहीं १९१८ में बुलाई गई थी। बहुत बहस मुबाहसे के बाद जब मैं इस सभा में आने को तैयार हुआ तो मैंने उनसे प्रार्थना की कि मुझे हिन्दी या हिन्दुस्तानी में बोलने की अनुमति दी जाए। मैं जानता हूँ कि इसके लिए प्रार्थना करना जरूरी नहीं था, फिर भी सभ्यता का तकाजा था, वरना वाइसराय को बुरा लगता। उन्होंने तुरन्त मुझे अनुमति दे दी और तब से इस मामले में मेरी हिम्मत और खुल गई है। और आज फिर मैं उसी जगह अपने उस अमल को दोहराने जा रहा हूँ। और इस चेम्बर के सदस्यों से मैं विनय करूँगा कि आपका यह कर्तव्य है कि अपना सारा काम राष्ट्रभाषा में करें। इस संगठन में आपको अपनी जनता में ही बोलना पड़ता है। देश का वातावरण भी इस समय ऐसा है कि उसका प्रभाव आप पर भी जरूर पड़ेगा।" (उप०, पृ० २४)

आज किसी अखिल भारतीय संगठन में लोगों से कहा जाए कि अपना काम

राष्ट्रभाषा में कीजिए तो बहुत से देशभक्त कह उठेंगे—हम पर हिन्दी लादी जा रही है ! उन पर अंग्रेज़ी पहले से लदी हुई है, यह वे भूल जाते हैं। अंग्रेज़ी के लिए स्वेच्छा, हिन्दी के लिए अनिच्छा—यह है उनकी देशभक्ति !

५ जुलाई, १६२८ के 'यंग इंडिया' में गांधीजी ने अंग्रेजी के प्रभुत्व से होनेवाली देश की हानि के बारे में लिखा था, हजारों नवयुवक अपना कीमती समय इस विदेशी भाषा को सीखने में नष्ट करते हैं जब कि उनके दैनिक जीवन में उसकी कोई उपयोगिता नहीं है, अंग्रेज़ी सीखने में समय लगाते हुए वे मातृभाषा की उपेक्षा करते हैं, वे इस अन्ध-विश्वास के शिकार होते हैं कि ऊँचे दर्जे के विचार अंग्रेज़ी ही में प्रकट किए जा सकते है, अंग्रेज़ी के लादे जाने से राष्ट्र की शक्ति सूख गई है, विद्यार्थियों की आयु क्षीण हो गई है, आम जनता से वे दूर जा पड़े है, शिक्षा पाना बड़े खर्च का काम हो गया है। "यदि यही सिलसिला जारी रहा तो बहुत सम्भव है कि राष्ट्र की आत्मा का नाश हो जाय।"

और सब तरह की हानि तो होती ही है, खर्च ज़्यादा होता, उम्र कम होती है, मातृभाषा की उपेक्षा होती है; गांधीजी के लिए सबसे बड़ा खतरा यह था कि अंग्रेजी का प्रभुत्व राष्ट्र की आत्मा का नाश कर देगा। वह ऐसा क्यों सोचते थे ? इसलिए सोचते थे कि वह स्वाधीनता-आन्दोलन के सन्दर्भ में भाषा-समस्या पर विचार करते थे। उनके लिए प्रश्न यह नहीं था कि अंग्रेजी विश्व-भाषा है और हिन्दी दरिद्र है; प्रश्न यह था कि विदेशी भाषा के व्यवहार से राष्ट्रीय चरित्र पर असर क्या पड़ता है। इसलिए वह तुरन्त अंग्रेजी को विदा करने के पक्ष में थे। लेकिन जिसे गांधीजी राष्ट्र की आत्मा कहते थे, उसे अंग्रेज़ी-प्रेमी नेता मानसिक संकीर्णता कहते हैं !

गांधीजी अंग्रेजी पढ़ने के विरुद्ध नहीं थे। वह उसे वाणिज्य और कूटनीति की भाषा मानते थे। किन्तु वह यह सहन न कर सकते थे कि वह किसी भारतीय भाषा के हक मारे। वह बहुत अच्छी तरह जानते थे कि अंग्रेजी का विश्व-महत्त्व ब्रिटिश साम्राज्य के कारण है। उन्होंने १६१८ में ही घोषित किया था, "हमें ऐसी हालत पैदा कर देनी चाहिए कि हमारे राजनीतिक या सामाजिक सम्मेलनों में, कांग्रेस तथा प्रान्तीय सभाओं आदि में अंग्रेजी का एक शब्द भी न सुना जाय। अंग्रेजी का व्यवहार हमें पूरी तरह बन्द कर देना चाहिए। अंग्रेज़ी ने विश्वभाषा की जगह पा ली है लेकिन यह इसलिए कि अंग्रेज सारी दुनिया मे फैल गए हैं और हर जगह अपने पैर उन्होंने जमा लिये हैं। जब उनकी यह स्थिति नहीं रहेगी, तब अंग्रेजी का प्रसार भी संकुचित हो जाएगा।" (उप०, पृ० ६)

साम्राज्यवाद के पतन के साथ अंग्रेज़ी के प्रसार का दायरा कम हो गया है। अन्य भाषाएँ विश्व-स्तर पर अंग्रेज़ी से स्पर्धा करती है। बोलनेवालों की संख्या की दृष्टि से संसार की तीसरी भाषा हिन्दी भी विश्वभाषा के रूप में अंग्रेज़ी का महत्त्व कम कर सकती है, विश्वभाषा के रूप में उससे स्पर्धा कर सकती है यदि अंग्रेज़ी-प्रेमी भारतवासी अपने देश को अंग्रेज़ी की गुलामी से आजाद कर दें।

सन्'४७ से पहले हर देशभक्त मानता था कि अंग्रेजी का व्यवहार; शिक्षा-संस्थाओं,

राजनीतिक झगड़ों आदि में अंग्रेजी का चलन मानसिक पराधीनता का लक्षण है। राजा राममोहन राय जैसे समाज-सुधारक समझते थे कि भारत की राष्ट्रभाषा अंग्रेजी हो जाएगी। ६ जून, १९६५ के 'न्यू एज' (साप्ताहिक) में डॉ० सी० होम नाम के सज्जन ने लिखा है कि उन्नीसवीं सदी के मध्य में जब भारत में नया औद्योगिक युग शुरू हो रहा था, तब भारत के प्रमुख नागरिकों ने अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए खूब जोरदार आन्दोलन किया। राजा राममोहन राय ने इसका नेतृत्व किया।

दिलचस्प बात है कि जो भी अंग्रेजी को भारत की असली राष्ट्रभाषा मानता है वह किसी-न-किसी रूप में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की प्रगतिशील भूमिका भी मानता है। डॉ० सी० होम के अनुसार "प्लासी के सतत्तर साल बाद, यानी जब ब्रिटिश साम्राज्यवाद की वस्तुगत रूप से प्रगतिशील भूमिका का एक चक्कर पूरा हो गया था, क्या इससे यह पता नहीं चलता कि समाज में नये काम पूरा करने की उत्सुकता पैदा हो गई थी?"

जैसे कुछ लोग कहते हैं कि हर देश में समाजवाद अपने ढंग से आता है और उसका अपना रूप होता है, वैसे ही क्या अजब जो हर देश में पूँजीवाद भी अपने ढंग से आए और उसका अपना रूप हो। भारतीय पूँजीवाद की विशेषताएँ क्या हैं? इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह आरम्भ से ही अंग्रेजी बोलता रहा है। आखिर देश की एकता तो कायम रखनी ही थी, यहाँ संस्कृत राष्ट्रभाषा बन न सकती थी। प्रादेशिक भाषाएँ बोलियाँ थीं नहीं कि वे किसी एक राष्ट्रभाषा में भीतर दब जातीं। द्रविड़ और संस्कृत भाषा-परिवारों का भेद अलग! अंग्रेजी के सिवाय भारतीय पूँजीवाद कौन-सी भाषा बोलता? इसलिए जिन लोगों ने लार्ड मैकाले के लिए रास्ता साफ किया, जिन्होंने मैकाले की भाषा-नीति का समर्थन किया, वे सब प्रगतिशील थे। जिन्होंने अंग्रेजी का विरोध किया, वे सब दकियानूसी और प्रतिक्रियावादी थे।

संस्कृत और द्रविड़ परिवारों में ऐसी भयानक खाई है तो मलयालम, तेलुगु आदि भाषाओं में संस्कृत के इतने शब्द कैसे पहुँच गए? द्रविड़ देश के शंकराचार्य ने संस्कृत में अपने विचार क्यों प्रकट किए? क्या उस समय तक कोई द्रविड़ भाषा उत्पन्न ही न हुई थी? वह तमिल कहाँ थी जो प्राचीनता में संस्कृत के समकक्ष कही जाती है?

वास्तव में यहाँ तमिल भी थी, अनेक द्रविड़ और गैर-द्रविड़ भाषाएँ भी थीं। फिर भी शिक्षित जन संस्कृत का व्यवहार करते थे क्योंकि सामन्ती व्यवस्था के बावजूद, डॉ० सी० होम सम्प्रदाय की अपेक्षा, उनमें राष्ट्रीयता का बोध ज्यादा था।

जनता के दृष्टिकोण से न सोचने पर आज के गुमराह प्रगतिशील विचारक को पूँजीवाद और समाजवाद दोनों के विकास के लिए अंग्रेजी आवश्यक दिखाई देती है।

श्री मोहनकुमार मंगलम ने 'भारत का भाषा-संकट' नामक पुस्तक में लिखा है, "हम यह याद किये बिना नहीं रह सकते कि महान् राजा राममोहन राय उस दिन का स्वप्न देखते थे, जब भारत की भाषाएँ रंगमंच से हट जाएँगी और अंग्रेजी यहाँ की करोड़ों जनता की सामान्य भाषा हो जाएगी।" (पृ० ४)

लार्ड मैकाले और इन महान् समाज-सुधारकों का सम्बन्ध इस प्रकार है, "इस तरह इन प्रारम्भिक समाज-सुधारकों ने भी अंग्रेज़ी को उठाने और भारतीय भाषाओं का विकास रोकने में लार्ड मैकाले के प्रयत्न में मदद दी।" (पृ० ५)

भारत की भाषाओं और संस्कृति की हालत उस समय क्या थी? "भारत और पूर्व की संस्कृति अधिक प्राचीन थी परन्तु इस समय वह ठहराव की हालत में (स्टैग्नैन्ट) थी। वह पश्चिम के शक्तिशाली सांस्कृतिक उभार के सम्पर्क में आई।"

भले ही शेली, मैथ्यू आर्नल्ड, येट्स आदि लेखक भारतीय संस्कृति से प्रभावित रहे हों, श्री मोहनकुमार मंगलम के लिए यहाँ की संस्कृति गतिरुद्ध ही थी। इसीलिए आज राजभाषा के पद के लिए तमिल को योग्य बनाना उन्हे हिमालय पहाड़ उठाने जैसा लगता है। (उप०, पृ० ६८)

होम और मोहनकुमार मंगलम दोनों का मत है कि भारत में संस्कृत के बाद कोई भी सम्पर्क भाषा न थी। इसलिए अंग्रेज़ी सम्पर्क भाषा के रूप में स्वाधीनता-प्राप्ति के पहले भी ज़रूरी थी और आज भी ज़रूरी है। भारतीय इतिहास के ये विशेषज्ञ भूल जाते है कि अंग्रेज़ों का राज कायम होने से पहले यहाँ सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी का प्रचार और प्रसार सर्वत्र था। इसीलिए अंग्रेज़ों ने अपने अफसरों के लिए हिन्दुस्तानी का ज्ञान अनिवार्य कर दिया था।

दिल्ली के असिस्टेंट रेज़िडेंट मेटकाफ ने २९ अगस्त, १८०६ को हिन्दुस्तानी के अपने शिक्षक गिलक्रिस्ट के नाम एक पत्र में लिखा था, "भारत के जिस भाग में भी मुझे काम करना पड़ा है, कलकत्ता से लेकर लाहौर तक, कुमाऊँ के पहाड़ो से नर्मदा तक, अफगानों, मराठों, राजपूतों, जाटों, सिखों और उन प्रदेशों के सभी कबीलों में जहाँ मैंने यात्रा की है, मैंने उस भाषा का आम व्यवहार देखा है जिसकी शिक्षा आपने मुझे दी थी। अपने अनुभव से और दूसरों से सुनी हुई बातों के बल पर मैं कन्याकुमारी से कश्मीर तक या आवा से सिंधु के मुहाने तक इस विश्वास से यात्रा करने की हिम्मत कर सकता हूँ कि मुझे हर जगह ऐसे लोग मिल जाएँगे जो हिन्दुस्तानी बोल लेते होंगे।" (जे० बी० गिलक्रिस्ट, 'ए वाकैबुलरी, हिन्दुस्तानी एण्ड इंग्लिश, इंग्लिश एण्ड हिन्दुस्तानी, एडिनबरा में उद्धृत)

राजा राममोहन राय ने अंग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए मेमोरैंडम पेश किया, होम-सम्प्रदाय को यह तो दिखाई देता है लेकिन जिस भाषा को कश्मीर से कन्याकुमारी तक भारत की करोड़ों जनता अपनी सम्पर्क भाषा बना रही थी, वह उन्हें बहुत आँखें गड़ाकर देखने पर भी नहीं दिखाई देती।

गांधीजी न लार्ड मैकाले के रोब में थे, न राजा राममोहन राय के। उन्होंने सन् '२० में लिखा था, "हम अपने विचार से अपने राष्ट्रीय जीवन में प्रादेशिक भाषाओं (वर्नाक्युलर्स) को उनका उचित स्थान दे रहे है। भाग्य राजा राममोहन राय की इस भविष्यवाणी का साथ नहीं दे रहा कि भारत एक दिन अंग्रेज़ी-भाषी देश हो जाएगा।

लेकिन उस महान् समाज-सुधारक का भूत अब भी कुछ लोगों पर सवार है। कुछ प्रसिद्ध आदमी बहुत जल्दी यह फैसला दे देते हैं कि राष्ट्र की सम्पर्क भाषा अंग्रेजी होगी।" (थॉट्स ऑन नेशनल लैंग्वेज, पृ० १७)

गांधीजी का भी सम्बन्ध भारतीय पूंजीवाद के विकास से रहा है। उनके स्वदेशी आन्दोलन से भारतीय पूंजीपतियों को अपने उद्योग धन्धे विकसित करने में सहायता मिली। बिड़ला जैसे उद्योगपति गांधीजी के नजदीकी लोगों में थे। होम महाशय का सन् बीस के बाद का पूंजीवादी विकास नहीं दिखाई देता क्योंकि तब अंग्रेजी का विरोध और भारतीय भाषाओं का समर्थन होने लगा था।

गांधीजी को जरूर मैकाले भक्तों से बराबर साबका पड़ा होगा। ये लोग सीधे मैकाले का नाम न लेकर राजा राममोहन राय की दुहाई देते रहे होंगे। इसीलिए राम-मोहन राय का नाम अक्सर उनके लेखों में आता है। सन् '२१ में उन्होंने इस बात पर दुःख प्रकट किया था कि अंग्रेजी ने प्रान्तीय भाषाओं की जगह ले ली है। उन्होंने कहा था कि राजा राममोहन राय और भी बड़े समाज-सुधारक होते यदि उन्हें अंग्रेजी में सोचने और उसी में अपने विचार प्रकट करने की अस्वाभाविक क्रिया न करनी पड़ती। (उप०, पृ० २०१)

अंग्रेजों ने आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, दक्षिण अफ्रीका, उत्तरी अमरीका आदि में भरसक वहाँ की भाषाओं का नाश किया। लाखों नीग्रोजन अपनी भाषाएँ छोड़कर—गुलाम बनाए जाकर—अंग्रेजी-भाषी हो गए। भारतीय जनता ने १८५७ में अंग्रेजों को इस जन घाती, भाषा-घाती नीति पर चलने का मजा चखा दिया। सन् १८५७ से पहले भी महाराष्ट्र के शिक्षा शास्त्रियों ने जमकर मैकाले की भाषा-नीति का विरोध किया। वहाँ के समाज-सुधारक डी० सी० होम एण्ड कम्पनी को नहीं दिखाई देते। "दिया लोभ चसमा चखनि लघु पुनि बड़ो दिखाय।" अंग्रेजियत के चश्मे से अंग्रेजी-परस्त तो बहुत बड़े समाज सुधारक मालूम होते हैं, अंग्रेजी के विरोधी इतने छोटे हो जाते हैं कि उनके अस्तित्व का उल्लेख भी आवश्यक नहीं होता।

गांधीजी ने राजा राममोहन राय के साथ लोकमान्य तिलक का नाम भी लिया था और कहा था कि यदि उनकी शिक्षा दीक्षा कम अस्वाभाविक व्यवस्था में हुई होती तो जनता पर उनका प्रभाव और भी गहरा पड़ा होता।

लोकमान्य तिलक मराठी के समर्थ लेखक थे। वह भारतीय भाषाओं का स्थान अंग्रेजी को देने के पक्ष में नहीं थे। इसके अलावा राजा राममोहन राय के विपरीत वह हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानते थे। कानपुर में जनता ने उनका स्वागत किया तो उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया कि वह हिन्दी में भाषण नहीं कर सकते। "यद्यपि मैं उन लोगों में से हूँ जो चाहते हैं और जिनका विचार है कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है। मैं हिन्दी समझ सकता हूँ और टूटी-फूटी बोल भी सकता हूँ, व्याख्यान नहीं दे सकता।" ('सरस्वती', फरवरी, १९१७)

इस विचार को अमली रूप देने के लिए उन्होंने 'केसरी' का एक हिस्सा हिन्दी में प्रकाशित करना शुरू कर दिया था।

लोकमान्य तिलक जैसे समाज-सुधारक ह्यूम-जैसे अंग्रेज़ी-प्रेमियों की दृष्टि से ओझल रहते हैं।

स्वाधीनता-प्राप्ति से साल-भर पहले गांधीजी ने उस दिमागी गुलामी की निन्दा की थी जो अंग्रेज़ी को अपनी राजभाषा बनाने के लिए नेताओं को मजबूर करती है। सोवियत संघ की मिसाल देते हुए उन्होंने लिखा था, "रूस ने अपनी सारी वैज्ञानिक प्रगति अंग्रेज़ी के बिना ही की है। यह हमारी दिमागी गुलामी है जो हम कहते हैं कि अंग्रेजी के बिना काम नहीं चल सकता। मैं इस पराजवादी मत को कभी स्वीकार नहीं कर सकता।" (उप०, पृ० २०१)

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद गांधीजी ने २१ सितम्बर, १९४७ के 'हरिजन' में 'दिमागी क़ाहिली' की निन्दा की जिससे प्रेरित होकर अफसर और नेता कहते थे कि शिक्षा और शासन में अंग्रेज़ी ही चलेगी।

गांधीजी ने अपने राजनीतिक जीवन के आरम्भ से लेकर भारत के स्वाधीन होने के बाद तक, अपने जीवन की आख़िरी घड़ियों तक अंग्रेज़ी का विरोध किया, अंग्रेज़ी के ऊपर निर्भर रहने की आदत को राष्ट्र के लिए हानिकर बताया, अंग्रेजी की हिमायत को राष्ट्रीय चरित्र के लिए घातक बताया। जो लोग अंग्रेज़ी कायम रखकर भाषा-समस्या का समाधान खोजते रहे हैं, उनमें राष्ट्रीय आत्मसम्मान की कमी है।

राष्ट्रभाषा की समस्या राष्ट्रीय चेतना के आधार पर ही हल हो सकती है। जो लोग भाषा-समस्या को साम्राज्य-विरोधी संघर्ष के सन्दर्भ से अलग हटाकर हल करना चाहते हैं, वे समस्या को बराबर उलझाते जाएँगे, उसे सुलझाना उनके लिए सम्भव न होगा। यह गांधीजी का दूसरा सूत्र हुआ।

गांधीजी का तीसरा सूत्र है—भारतीय जनता की अमली राष्ट्रभाषा हिन्दी है।

यदि राजनीतिज्ञ जनता के व्यवहार को देखें, इस बात को समझें कि अंग्रेज़ी न जाननेवाले साधारण जनों को भी परस्पर सम्पर्क के लिए एक सामान्य भाषा की ज़रूरत होती है, तो उन्हें यह दिखाई देने लगे कि जनता के अन्तर्प्रादेशिक सम्पर्क की भाषा कौन-सी है। महाराष्ट्र-गुजरात-पंजाब के लोग आपस में हिन्दी को सम्पर्क भाषा के तौर पर इस्तेमाल करते हैं, इसे बहुत-से लोग मानते हैं। सवाल है दक्षिण भारत का। क्या वहाँ के साधारण लोग भी हिन्दी को सम्पर्क भाषा के रूप में अपनाते हैं?

गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका के अपने इस अनुभव का उल्लेख किया था कि वहाँ तमिल और तेलुगु बोलनेवाले लोग परस्पर सम्पर्क के लिए हिन्दी काम में लाते हैं। जो कार्य वे दक्षिण अफ्रीका में करते थे, उसे वे दक्षिण भारत में भी अवश्य करते रहे होंगे। वास्तव में तमिल-तेलुगु-भाषियों को उत्तर भारत से सम्पर्क कायम करने के लिए ही हिन्दी की ज़रूरत नहीं होती, उन्हें आपस में सम्पर्क-भाषा के लिए भी ज़रूरत हिन्दी की होती है।

एक मित्र ने अंडमान से मुझे वहाँ की भाषा स्थिति के बारे में यह लिखा है, "अधिकतर यहाँ बँगला, तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम बोली जाती हैं। आपस में व्यवहार की भाषा हिन्दी है जो 'हम बोलता है, आप करता मांगता है' पद्धति से बोली जाती है। हिन्दी ही राष्ट्रभाषा है यहाँ स्वतः सिद्ध हो जाता है। तमिल तेलुगु से हिन्दी में ही बात कर पाता है। इसी प्रकार अन्य भाषा-भाषी।" —

दक्षिण भारत में गांधीजी का अनुभव ऐसा ही था, "यह कहना सही नहीं है कि मद्रास में अंग्रेजी के बिना काम नहीं चलता। मैंने अपने सारे कामों के लिए वहाँ सफलता-पूर्वक हिन्दी का व्यवहार किया है। मैंने रेल में मद्रासी मुसाफिरों को दूसरों से हिन्दी में बातें करते सुना है।" (उप०, पृ० ६)

सी० एफ० एण्ड्रूज का अनुभव भी यही था। उनकी मातृभाषा अंग्रेजी थी लेकिन उन्हें हिन्दी बोलने में उतना कष्ट न होता था जितना राज्यसभा या लोकसभा के कुछ भारतीय सदस्यों को। 'द ट्रू इंडिया' (१९३९) पुस्तक में उन्होंने लिखा था, "जब एक व्यक्ति मुझसे मिलने आया था, उससे जब मैंने अंग्रेजी में बातचीत करने की कोशिश की तो उसने कहा, 'कृपा करके हिन्दुस्तानी में बातचीत कीजिए।' और जब मैं उस भाषा में बोला तो वह मेरी बात आसानी से समझ गया।"

राजनीतिज्ञों को उत्तर-दक्षिण के सम्पर्क के लिए नई भाषा गढ़ना नहीं है, वह भाषा जनता में पहले से प्रचलित है, उसे केवल सरकारी स्तर पर सम्पर्क-भाषा के रूप में स्वीकार करना है। जहाँ तक बंगाल का सम्बन्ध है, वहाँ की भाषा हिन्दी के बहुत ही नजदीक है। इस नजदीकीपन के अलावा कलकत्ता की लगभग आधी आबादी हिन्दुस्तानी है। इस आबादी में ज्यादातर लोग मेहनत-मजूरी करके गुजर करनेवाले हैं। उनके मालिकों को उनसे हिन्दी ही में बात करनी होती है। गांधीजी ने लिखा था कि "उत्तर भारत का जो भैया बम्बई के सेठ के यहाँ दरबानगीरी करता है, वह गुजराती नहीं बोलता, उसका मालिक सेठ ही मजबूर होकर उससे टूटी फूटी हिन्दी में बातचीत करता है" (उप०, पृ० ६)। यही स्थिति बंगाल की है। यहाँ न जाने कितने 'हिन्दुस्तानी' दरबान का काम करते रहे हैं। उनके मालिक उनसे टूटी-फूटी हिन्दी में ही बातें करने को बाध्य हुए हैं।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने पहले हिन्दी इसी तरह के लोगों से सीखी थी। "कलकत्ता में अपने बचपन में ही लेखक ने हाट-बाजारों में तथा घर के बिहारी नौकरों से बंगाल में प्रयुक्त 'बाजारू हिन्दी' कहलाने योग्य भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया था।" (भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० २६५) यद्यपि डॉ० सुनीतिकुमार भाषा को धर्म से और धर्म को संस्कृति से जोड़कर यह नतीजा निकालते हैं कि 'हिन्दी के संस्कृत उपादान को क्रमशः कम करने की प्रवृत्ति भारतीय परम्परा एवं भारतीय संस्कृति पर प्रच्छन्न आघात-सा है' (उप०, पृ० २३८) फिर भी वह मानते हैं कि 'हिन्दी (हिन्दुस्तानी) के साढ़े चौबीस करोड़ बोलने या समझनेवालों में से लगभग बीस करोड़ हिन्दुस्तानी का

यही सहज रूप बोलते हैं" (उप०, पृ० २०६) ; मौलवी, मुंशी और मुल्ला लोग "फारसी-भरी उर्दू का निर्माण एवं वर्द्धन करते रहे। उसी प्रकार पंडित लोग तथा अन्य लेखक लोग संस्कृत-भरी हिन्दी का निर्माण करते रहे। परन्तु साधारण जनों का हिन्दुस्थानी के विषय में एक ही रुख रहा; इनमें पश्चिमी पंजाब से लगाकर पूर्वी बंगाल तक के हिन्दू-मुसलमान सभी थे। वे अब भी, साधारण जीवन में अपने से भिन्न भाषावालों से बात-चीत करना चाहते हैं तो प्रचलित हिन्दुस्थानी का ही व्यवहार करते हैं।" (उप०, पृ० २०६)

पश्चिमी पंजाब से पूर्वी बंगाल तक, जैसे कश्मीर से कन्याकुमारी तक, जन-सम्पर्क की भाषा बोलचाल की हिन्दी है। व्याकरण के अनुसार शुद्ध रूप में, संस्कृत शब्दों से सजाकर जनता इसे नहीं बोलती। उसके स्थानीय भेद हैं जैसे ब्रिटेन, अमरीका और आस्ट्रेलिया की अंग्रेजी में भेद हैं। बोलचाल की हिन्दी बंगाल में भी समझी जाती है और जनता के व्यवहार में आती है। फिर भी बंगाल में हिन्दी का तीव्र विरोध है, सभी लोगों में नहीं किन्तु मध्यवर्ग और पढ़े-लिखे लोगों में है, इसमे कोई सन्देह नहीं।

गांधीजी ने सन्' २१ में 'यंग इंडिया' में लिखा था कि बंगाल के लोग अपने पूर्वाग्रह के कारण भारत की और कोई भाषा सीखना नहीं चाहते (थॉट्स ऑन नेशनल लेंग्वेज, पृ० १९)। हिन्दी-प्रचार के काम में बंगाली विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है। हिन्दी के समर्थकों में डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी जैसे भाषाविद् रहे हैं। उन्होंने भारतीय भाषाओं के लिए—विशेषकर बंगला और हिन्दी के लिए—बहुत काम किया है। आज वह हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के विरुद्ध अंग्रेजी का समर्थन करते हैं, इससे उनका पहले किया हुआ काम निरर्थक नहीं हो जाता। उसके लिए कृतज्ञता प्रकट करना धर्म है। उनसे पहले बंकिमचन्द्र चटर्जी के समय में 'बंगदर्शन' पत्र ने लिखा था, "हिन्दी भाषार साहाय्ये भारतवर्षेर विभिन्न प्रदेशेर मध्ये जांहारा ऐक्यबन्धन सस्थापन करिते पारिबेन तौहाराई-प्रकृत भारतबन्धु नामे अभिहित हइबार योग्य।" (बालमुकुन्द गुप्त द्वारा उद्धृत, बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली, कलकत्ता, पृ० १५९)

फिर भी बंगाल में ऐसे बुद्धिजीवी बहुतायत से है जो किसी भी भारतीय भाषा को सीखना अपने लिए हेठी की बात समझते हैं। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने ही लिखा है, "कोई भी महाराष्ट्रीय या बंगाली व्यक्ति इस बात का अनुभव नहीं करता कि अपनी मातृभाषा की अपेक्षा नागरी-हिन्दी या उर्दू के माध्यम द्वारा उच्चतर सस्कृति की प्राप्ति हो सकती है; बाजारू हिन्दी का तो प्रश्न ही दूर है।" (भारतीयआर्यभाषा और हिन्दी, पृ० २१५)

इसी तरह तमिलनाड के श्री मोहनकुमार मंगलम ने यह राय ज़ाहिर की है कि "स्वाधीनता-प्राप्ति के समय हिन्दी शायद सबसे कम विकसित भाषा थी।" (भारत का भाषा-संकट, पृ० ३१)। वाक्य में 'शायद' उन्होंने शालीनतावश लगा दिया है, वरना हिन्दी को पिछड़ी हुई भाषा कहना प्रत्येक भारतवासी का वैधानिक अधिकार है।

तमिलनाड और बंगाल के अंग्रेजी प्रेमी बुद्धिजीवियों को विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति ध्यान में रखना चाहिए। किसी समय असम, उड़ीसा, बिहार आदि प्रदेश संयुक्त बंगाल के अन्तर्गत थे। इसी प्रकार केरल और आंध्र तमिलनाड के साथ जुड़े हुए थे। इन बड़े-बड़े प्रांतों में तमिल और बंगाली बुद्धिजीवी अंग्रेजी के कारण सरकारी नौकरियाँ पाते थे, अफसर बनकर दूसरों पर हुकूमत करते थे, वकील, डाक्टर, इंजीनियर आदि के पेशों में इन्हीं का बोलबाला था। मद्रास प्रेसीडेन्सी टूट गई, रह गया तमिलनाड। उड़ीसा, असम और बिहार अलग हो गए, रह गया विभाजित बंगाल। असम में बंगालियों और असमियों के बीच दंगे हुए। और कारणों के अलावा दंगों के पीछे दोनों जातियों के बीच पुराना तनाव भी काम कर रहा था। तमिलनाड और आंध्र के शिक्षितजनों में उससे मिलता-जुलता तनाव है। तमिलनाड में भाषावार प्रान्त बनाने का आन्दोलन नहीं चला। यह आन्दोलन चलाया उन्होंने जो तमिल पूंजीपतियों या तमिल बुद्धिजीवियों के संग से परेशान हो चुके थे। बंगाल वैसे ही कटा छँटा था, वहाँ भाषावार प्रान्त बनाने के आन्दोलन का सवाल नहीं था। इन दो प्रदेशों में हिन्दी विरोध सबसे ज्यादा है। तमिल-नाड में इस विरोध ने हिंसात्मक रूप लिया।

यह विरोध मध्यवर्ग के कुछ लोगों और पूंजीपतियों तक सीमित है। ये लोग आम जनता को यह भय दिखलाकर कि उनकी भाषा खत्म कर दी जाएगी उसे भड़काते हैं। लेकिन तमिलनाड में तमिल राजभाषा बन गई हो, विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम हो, ऐसा नहीं है। सरकारी नौकरियाँ पाने के लिए लोग वहाँ अपने बच्चों को अंग्रेजी के माध्यम से ही शिक्षा देना पसन्द करते हैं। श्री मोहनकुमार मंगलम के अनुसार मद्रास सरकार के श्रम-विभाग का काम भी अंग्रेजी में होता है, श्रमिक संघों और कारखानों के इन्स्पेक्टरों के बीच पत्र-व्यवहार अंग्रेजी में होता है, राज्य सेक्रेटेरियट का सारा काम केवल अंग्रेजी में होता है, छोटे-मोटे व्यापार और धन्धों तक में अंग्रेजी चलती है, "इसमें अतिशयोक्ति नहीं है कि मद्रास में तमिल का एक शब्द सीखे बिना भी आदमी वर्षों तक रह सकता है, नौकरों के मामले में थोड़ी परेशानी जरूर होगी।" (भारत का भाषा-संकट, पृ० ६९-७०)

हिन्दी-विरोध का कारण मातृभाषा प्रेम नहीं है, अंग्रेजी प्रेम है।

बंगाल की तरह तमिलनाड में अनेक विद्वान् और नेता हिन्दी-प्रचार में योग दे रहे हैं। इनमें श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी मुख्य हैं। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी की तरह वह भी अब अंग्रेजी के प्रबल समर्थक बन गए हैं। सर टी० विजयराघवाचारी ने सन् '२८ में हिन्दी को भारतीय शिक्षा-व्यवस्था में अनिवार्य बना देने पर जोर दिया था। श्री राजगोपालाचारी ने दस साल बाद उसी सुझाव पर अमल किया था। दिसम्बर, १९१६ में लखनऊ की एक सभा में गांधीजी के निर्देश से हिन्दी और देवनागरी को लेकर जो प्रस्ताव पास हुआ, उसके समर्थकों में श्री रामस्वामी ऐयर और श्री रंगस्वामी आयंगर थे। ('सरस्वती', फरवरी, १९१७)

भारत की राष्ट्रभाषा देवनागरी लिपि में लिखी जानेवाली हिन्दी होगी—यह प्रस्ताव संविधान सभा में श्री गोपालस्वामी आयंगर ने पेश किया था।

तमिलनाड के हिन्दी-प्रचारकों ने राष्ट्रीय एकता और हिन्दी-प्रचार के लिए जो काम किया है, उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। परिस्थितियाँ अक्सर उनके प्रतिकूल रही है। यह न समझना चाहिए कि आज से तीस साल पहले हिन्दी-प्रचार के लिए परिस्थितियाँ ज्यादा अनुकूल थीं।

दिसम्बर, १९१६ में कांग्रेस का इकत्तीसवाँ अधिवेशन लखनऊ में हुआ। भारतीय कुलियों का विदेश भेजना बन्द करने के विषय में गांधीजी ने एक प्रस्ताव कांग्रेस में उपस्थित किया। आपकी हार्दिक इच्छा थी कि आप हिन्दी में भाषण करें। आपने हिन्दी में भाषण आरम्भ भी कर दिया था। इतने मे मद्रासी प्रतिनिधियों की ओर से आवाज आई—'**English, please**' अर्थात् अंग्रेज़ी में बोलिए। उत्तर में गांधीजी बोले—"आपकी आज्ञा मुझे स्वीकार है, पर एक शर्त है—अगले साल की कांग्रेस तक आपको यह Lingua Franca (अर्थात् राष्ट्रभाषा हिन्दी) अवश्य सीख लेना चाहिए। देखिए, इसमें ग़लती या लापरवाही न हो!" उस समय जान पड़ता था मानो कोई "देवदूत—ईश्वर का कोई प्रतिनिधि—आकर हमें ईश्वरीय आज्ञा सुना रहा है।" ('सरस्वती'; फरवरी, १९१७)। गांधीजी ने हिन्दी और राष्ट्रीय एकता के लिए कितना भगीरथ प्रयत्न किया, उनके इस प्रयत्न का कैसा प्रभाव हिन्दी-भाषियों पर पड़ा, यह द्विवेदीजी के उपर्युक्त विवरण से मालूम हो जाता है।

गांधीजी चाहते थे, साल-भर में लोग हिन्दी सीख लें और कांग्रेस के अधिवेशनों में अंग्रेजी के बदले हिन्दी बोलें। अब भारत को स्वाधीन हुए अठारह साल हो गए; फिर भी नेता कहते हैं, हिन्दी के मामले मे जल्दी न करना चाहिए। ध्यान देने की बात है कि पराधीन भारत में हिन्दी के प्रचार-कार्य से ही कुछ लोग यह शोर करने लगे थे कि उनकी भाषाओं का दमन किया जा रहा है! उस समय गांधीजी मौजूद थे; हिन्दी-प्रचार कार्य उन्हीं की देख-रेख में चल रहा था। केन्द्र में सत्ता कांग्रेस के हाथ में न थी; मद्रास में राजाजी का मंत्रिमण्डल भी कायम न हुआ था। फिर भी आवाज यह उठी कि हिन्दी-प्रचारक दक्षिण की भाषाओं का नाश कर देना चाहते है!

गांधीजी ने सन्' ३५ में इन्दौर साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद से भाषण देते हुए कहा था, "अपनी यात्रा (दक्षिण-यात्रा) के दौरान काका साहब (काका कालेलकर) ने देखा कि कुछ लोग समझते है कि हम उनकी प्रादेशिक भाषाओं का नाश कर देना चाहते हैं और सारे देश में एक ही भाषा चलाना चाहते हैं। कहीं-कहीं हमारा उद्देश्य न समझकर लोगों ने हमारे हिन्दी-प्रचार कार्य का विरोध किया है।" (थॉट्स, पृ० ३८)

आश्चर्य की बात है कि कांग्रेसी मंत्रिमंडल बनने से पहले ही, केन्द्र में सत्ता-परिवर्तन से बहुत पहले, जो लोग हिन्दी से अहिन्दी भाषाओं के लिए ख़तरा पैदा होने की बात कहते थे, वे अंग्रेजी के बारे में चुप रहते थे, अंग्रेज़ी उन्हें लादी हुई भाषा न

मालूम होती थी उसम उन्हें अपनी भाषाओं के लिए खतरा न दिखाई देता था।

सरकारी नौकरियों के उम्मीदवारों के लिए राजभाषा अंग्रेजी, आम जनता की सम्पर्क भाषा हिन्दी—देश की भाषा-सम्बन्धी स्थिति तब भी यह थी, आज भी है। गांधीजी का मत यह था कि भारत की असली राष्ट्रभाषा हिन्दी है, सरकारी तौर पर उसी को राजभाषा बनाना चाहिए।—

गांधीजी की भाषा-नीति का चौथा सूत्र है—कांग्रेस की अपनी राजनीतिक कार्यवाही की भाषा हिन्दी होनी चाहिए।

यह बात देखने में बहुत साधारण मालूम होती है लेकिन वास्तव में है सबसे महत्त्वपूर्ण। भारत की राजनीतिक पार्टियाँ भाषा-समस्या पर प्रस्ताव करके दूसरों को सिखाती रही हैं कि उन्हें क्या करना चाहिए। वे स्वयं अंग्रेजी हटाने के लिए क्या करते रहे हैं इसकी सूचना वे दूसरों को कम देती हैं। आप कल्पना कीजिए यदि कांग्रेस का सारा राजकाज हिन्दी में हुआ करता तो क्या हुकूमत की बागडोर संभालते ही अंग्रेजी हटाने में कांग्रेसी नेताओं को साल भर से ज्यादा देर लगती? ये कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट नेता जो पहले कांग्रेस के ही सदस्य थे, स्वाधीनता प्राप्ति के दो साल पहले तक जो कांग्रेस में थे क्या उससे अलग होने पर अपने यहाँ भी हिन्दी का व्यवहार न करते? यदि ये विभिन्न पार्टियों के नेता अंग्रेजी के बिना अपना काम चलाने के आदी होते, तो क्या संविधान सभा में हिन्दी अंग्रेजी को लेकर इतनी बहस होती? क्या संविधान सभा हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करने के बाद पन्द्रह साल तक अंग्रेजी को चालू रखने का नियम बनाती? क्या पन्द्रह साल बीतने से पहले अंग्रेजी को आगे भी सह राजभाषा—असल में एकमात्र केन्द्रीय राजभाषा—बनाए रखने का कानून पास होता? क्या पन्द्रह साल बीतने पर अंग्रेजी को अनिश्चित काल तक कायम रखने की नौबत आती?

इससे आप समझ लीजिए कि कांग्रेस के अन्दर से अंग्रेजी हटाने का संघर्ष कितना महत्त्वपूर्ण था और यह संघर्ष चलाकर गांधीजी ने कितनी बड़ी वीरता और बुद्धिमत्ता का परिचय दिया था। उन्हें अपने संघर्ष में सफलता नहीं मिली, इससे यह भी समझ लीजिए कि अंग्रेजी के हिमायती इस देश में कितने शक्तिशाली हैं। गांधीजी को हिन्दू मुस्लिम सम्प्रदायवाद खत्म करने में सफलता नहीं मिली, उन्हें देश का विभाजन रोकने में सफलता नहीं मिली, उन्हें सरकार और कांग्रेस के अन्दर से अंग्रेजी हटाने में सफलता नहीं मिली। इन तमाम असफलताओं को लिए हुए वह भारतीय प्रतिक्रियावाद की गोली खाकर संसार से चले गए। लेकिन रास्ता वही है जिस पर वह चले थे और उस रास्ते पर चलकर भारत एक दिन अवश्य विजयी होगा।

दिसम्बर, १९१६। लखनऊ में कांग्रेस का इकत्तीसवाँ अधिवेशन। गांधीजी हिन्दी में बोलना शुरू करते हैं। 'इंग्लिश प्लीज़' की आवाजें आती हैं। वह सदस्यों से कहते हैं—साल भर में हिन्दी अवश्य सीख लीजिए। अगले साल की कांग्रेस में अंग्रेजी न चलनी चाहिए।

१९१८ : वह कहते है, "हमारी राष्ट्रीय सस्थाओं में हिन्दी का ही व्यवहार होना चाहिए। कांग्रेस के नेता और कार्यकर्ता इस दिशा में बहुत-कुछ कर सकते है और उन्हे करना चाहिए। मैं चाहता हूँ कि यह सम्मेलन (हिन्दी साहित्य-सम्मेलन) कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन के समय उसके सामने इस आशय का प्रस्ताव रखे।" (थॉट्स, पृ० १२)

१९२१ : वह बंगाल और दक्षिण के लोगो से ख़ास तौर से कहते है, "मैं आशा करता हूँ कि बंगाली और द्रविड़ लोग दूसरी कांग्रेस में (यानी कांग्रेस के अगले अधिवेशन मे) काम लायक हिन्दी सीखकर आएँगे। हमारी यह महान् सभा जनता की शिक्षक तब तक नहीं बन सकती जब तक वह ऐसी भाषा में न बोले, जिसे ज्यादा-से-ज्यादा जनता समझती हो।" (उप०, पृ० १९)

१९२५ : कांग्रेस का नया विधान, धारा ३३—"जहाँ तक सम्भव होगा कांग्रेस की कार्यवाही हिन्दुस्तानी मे होगी। यदि कोई हिन्दुस्तानी न बोल सके या जरूरत पड़े तो अंग्रेजी तथा प्रान्तीय भाषा का व्यवहार भी किया जा सकेगा।" इस प्रस्ताव मे अंग्रेजी-प्रेमियों पर तगड़ी पाबन्दी न लगाई गई थी, फिर भी जो लोग हिन्दी-हिन्दुस्तानी का व्यवहार करना चाहे, उनके लिए छूट थी।

१९२८ : गांधीजी ने श्री विजयराघवाचारी के इस कथन का उल्लेख किया कि "हम लोग उत्सुकता से उस दिन की राह देख रहे है जब हम हिन्दुस्तानी पहले होंगे, मद्रासी या बंगाली बाद को। वह दिन जल्दी आएगा यदि मद्रासी, जो इस मामले में सबसे ज्यादा गाफिल हैं, बड़ी तादाद में हिन्दी सीखने लगें।" इसके बाद गांधीजी ने 'यंग इंडिया' में लिखा, "दक्षिण के लोगों को हिन्दी-प्रचार सभा के कारण हिन्दी सीखने के लिए हर तरह की सुविधा है। यदि भारत के लिए हमारे हृदय में वैसे ही सच्चा प्यार है जैसे अपने प्रान्तों के लिए है तो हम अवश्य ही जल्दी सीख लेंगे और हमें यह अपमान-जनक दृश्य न देखना पड़ेगा कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की कार्यवाही—पूरी-की-पूरी नहीं तो अधिकांश—अंग्रेजी में ही रही है।" (उप०, पृ० २९)

१९३१ : "दक्षिण के लोग वायदा कर चुके हैं कि अगले साल की कांग्रेस के लिए वे ऐसे प्रतिनिधि भेजेंगे जो हिन्दी में बोलेंगे और हिन्दी समझेंगे। हम अस्वाभाविक परिस्थितियों में न रहते होते तो दक्षिण के लोगों को हिन्दी सीखना बोझ न मालूम होता, व्यर्थ की बात तो और भी नही।" (उप०, पृ० ३०)

१९३७ : मद्रास में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के मंच से उन्होने यह प्रस्ताव पेश किया कि सम्मेलन कांग्रेस से हिन्दी का व्यवहार करने की प्रार्थना करता है। उन्होंने प्रस्ताव पर बोलते हुए कहा, "हम राष्ट्रभाषा हिन्दी के समर्थन में प्रस्ताव पास करते रहें और कांग्रेस पुरानी लीक पर चलती रहे तो हमारे काम की रफ़्तार बहुत धीमी होगी। इस प्रस्ताव में कांग्रेस से अपील की गई है कि वह अन्तर्प्रान्तीय भाषा के रूप में अंग्रेजी का बहिष्कार करे। इसके अनुसार अंग्रेजी को न तो प्रान्तीय भाषा, न हिन्दी की जगह देनी चाहिए।" (उप०, पृ० ५२)

अन्त में अपने और अन्य सहयोगियों के सुदीर्घ प्रयत्नों का सिंहावलोकन करते हुए उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम चरण में लिखा, "१९२५ में कांग्रेस ने अपने कानपुर-अधिवेशन के प्रसिद्ध प्रस्ताव में इस अखिल भारतीय भाषा को हिन्दुस्तानी कहा। तब से कम-से-कम कहने-भर को हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा हो गई है। कहने-भर को इसलिए कि कांग्रेसियों ने भी उस प्रस्ताव पर उस तरह अमल नहीं किया जैसे उन्हें करना चाहिए था, १९२० में जाकर यह कोशिश शुरू हुई कि आम जनता की राजनीतिक शिक्षा के लिए प्रान्तीय भाषाओं का महत्त्व पहचाना जाय, साथ ही एक अखिल भारतीय सामान्य भाषा का महत्त्व पहचाना जाय, जिसे राजनीति में प्रबुद्ध भारत आसानी से बोल सके और जिसे विभिन्न प्रान्तों के सदस्य कांग्रेस के अखिल भारतीय अधिवेशनों में समझ सकें। मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि बहुत से कांग्रेसी जनों ने उस प्रस्ताव पर अमल नहीं किया। और इसलिए यह दृश्य उपस्थित होता है जो मेरी समझ में शर्मनाक है कि कांग्रेसजन अंग्रेजी बोलने की ज़िद करते हैं और दूसरों को भी अपनी खातिर अंग्रेजी बोलने पर मजबूर करते हैं। अंग्रेजी का जादू अभी खत्म नहीं हुआ। उस जादू के असर में हम देश को अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने से रोकते हैं। जनता के लिए हमारा प्रेम एकदम सतही है यदि हम हिन्दुस्तानी सीखने के लिए उतने महीने भी नहीं देना चाहते जितने साल हम अंग्रेजी सीखने में लगाते हैं।" (उप०, पृ० ९२)

भारत स्वाधीन हुआ। गांधीजी ने चेतावनी दी कि "सरकार और सेक्रेटेरियट सावधान न रहें तो सम्भव है कि अंग्रेजी हिन्दुस्तानी की जगह ले ले। इससे भारत की करोड़ों जनता का बेहद नुकसान होगा जो अंग्रेजी समझ न पाएगी।" (उप०, पृ० १९८)। उन्होंने प्रान्तीय भाषाओं को पुनर्जीवित करने की सलाह दी, साथ ही यह सुझाव रखा कि प्रान्तीय सरकारें ऐसे कर्मचारी रखें जो प्रान्तीय भाषा के साथ अन्तर्प्रान्तीय भाषा हिन्दुस्तानी भी जानते हों।

यह सब न हुआ क्योंकि जिन लोगों के हाथ में शासन की बागडोर थी, वे अपने राजनीतिक संगठन में अंग्रेजी का व्यवहार करते थे। जो विरोधी दल संसद में भारतीय लोकतन्त्र के संचालन में शामिल हुए, वे भी अखिल भारतीय सम्पर्क के लिए अंग्रेजी का ही व्यवहार करते थे।

इसलिए जो लोग चाहते हैं कि स्वाधीन भारत में अंग्रेजी का प्रभुत्व खत्म हो, उन्हें पहला कदम यह उठाना चाहिए कि भारत के राजनीतिक दलों के केन्द्रीय दफ्तरों से अंग्रेजी निकालें, उनके अखिल भारतीय अधिवेशनों में अंग्रेजी का व्यवहार बन्द कराएँ, उनका अखिल भारतीय प्रचार-कार्य अंग्रेजी के माध्यम से बन्द कराएँ। सबसे मुश्किल यह पहला कदम ही है। यदि एक बार भारतीय जनता यह कदम उठाने के लिए पार्टियों के नेताओं को बाध्य करे तो दूसरे कदम उठाना बहुत आसान हो जाएगा।

पहले पार्टियों के अन्दर से अंग्रेजी की जड़ काटिए।

फिर लोकसभा में अपने प्रतिनिधियों को भारतीय भाषाओं में बोलने—और

अंग्रेजी छोड़ने—पर मजबूर कीजिए।

इसके बाद नौकरशाहों पर दबाव डालिए कि वे दफ्तरों से अंग्रेजी निकालें। जब नेता लोग अंग्रेज़ी का बहिष्कार कर देंगे तब मन्त्रीजी के सामने कोई फ़ाइल अंग्रेजी में न आएगी। अफसर लोग लोकसभा का अनुसरण करेंगे। इस समय विश्वविद्यालय अखिल भारतीय सेवाओं से नत्थी हैं। शिक्षा का एक उद्देश्य और मुख्य उद्देश्य अफसर तैयार करना है। जब आई० ए० एस० में अंग्रेजी का चलन न होगा, तब विश्वविद्यालयों में भी अंग्रेजी का प्रभुत्व न रहेगा।

पार्टी—लोकसभा—नौकरशाही—युनिवर्सिटियाँ, इस क्रम से अंग्रेज़ी के क़िलों पर हमला करना चाहिए।

गांधीजी की भाषा-नीति का पाँचवाँ सूत्र है—भारत का विकास और राष्ट्रीय एकता की रक्षा प्रादेशिक भाषाओं को दबाकर नहीं, उनके पूर्ण विकास से ही सम्भव है।

गांधीजी ने अपने राजनीतिक जीवन के आरम्भ से ही अंग्रेजी का विरोध किया और प्रान्तीय भाषाओं की हिमायत की। १९०९ में ही उन्होंने प्रान्तीय भाषाओं और राष्ट्र-भाषा का सम्बन्ध अच्छी तरह समझ लिया था। उन्होंने लिखा था, "हिन्दुस्तान में आज-कल हिन्दू, मुसलमान, पारसी वगैरह 'अपने देश' की बात करने लगे हैं। इस समय मैं इस बात पर राजनीतिक दृष्टि से विचार नहीं कर रहा हूँ। भाषा की दृष्टि से यह जरूरी है कि इसके पहले कि हम अपने देश को अपना कहें, हमारे दिलों में अपनी भाषाओं के लिए प्रेम और आदर पैदा होना चाहिए। ऐसा मालूम होता है कि सारे भारत में लोग अपनी भाषाओं की ओर ध्यान देने लगे हैं। यह प्रसन्नता की बात है।" (उप०, पृ० १८८)

इस लेख में गुजरातियों को अंग्रेजी बोलने पर उन्होंने फटकारा। उन्होंने इस बात पर हर्ष प्रकट किया कि लोग गुजराती, मराठी, बँगला, उर्दू आदि की प्रगति के लिए संस्थाएँ बना रहे हैं।

सन् '१५ में संग्रामपुर के विद्यार्थियों के सामने भाषण (जिसका उल्लेख पहले हो चुका है) करते हुए उन्होंने मातृभाषा की अवज्ञा करनेवालों की निन्दा की।

सन् '२७ में जब हिन्दी-प्रचार आन्दोलन शक्तिशाली होने लगा था, उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि "हिन्दी या हिन्दुस्तानी का उद्देश्य यह नहीं है कि वह प्रान्तीय भाषाओं की जगह ले ले। वह अतिरिक्त भाषा होगी और अन्तर्प्रान्तीय सम्पर्क के काम आएगी।" (उप०, पृ० २९)

१९३५ में जब काका कालेलकर ने गांधीजी को बताया कि लोग यह कहते हैं कि हिन्दी-प्रचार का उद्देश्य प्रान्तीय भाषाओं का दमन है, तब गांधीजी ने साहित्य-सम्मेलन के मंच से घोषित किया, "मेरा कहना बराबर यही रहा है कि प्रान्तीय भाषाओं का जरा भी अहित हम नहीं करना चाहते, उनका दमन या नाश करना तो दूर की बात है।" (उप०, पृ० ३८)

गांधीजी स्वयं गुजराती के श्रेष्ठ लेखक थे। उनकी प्रेरणा से गुजराती बुद्धि-

जीवियों ने अंग्रेज़ी का मोह छोड़ा और मातृभाषा की सेवा की। गुजराती भाषा के सेवक अंग्रेज़ी की गुलामी से मुक्त होने के कारण हिन्दी के समर्थक हुए। हिन्दी-भाषी प्रदेशों के नेता, विशेषकर उत्तरप्रदेश (भूतपूर्व संयुक्त प्रान्त) के अधिकांश कांग्रेसी और कम्युनिस्ट नेता गांधीजी की तरह मातृभाषा के सेवक नहीं थे। अंग्रेज़ी का प्रभुत्व कायम रखने में उनका बहुत हाथ रहा है। गांधीजी स्वयं गुजराती के समर्थ लेखक थे, इसलिए वह प्रान्तीय भाषाओं और हिन्दी का सम्बन्ध अच्छी तरह समझते थे।

सन् ३६ में उन्होंने बंगलौर में कहा था, "लोगों ने एक हौवा खड़ा कर रखा है जिसे मैं आप लोगों के दिमाग से निकाल देना चाहता हूँ। क्या हिन्दी की शिक्षा कन्नड़ को हटाकर दी जाएगी? क्या यह सम्भावना है कि वह कन्नड़ की जगह ले ले? इसके विपरीत मेरा कहना है कि हम जितना ही हिन्दी प्रचार करेंगे, उतना ही अपनी मातृभाषाओं के अध्ययन को और सशक्त बनाएँगे, इन भाषाओं की शक्ति और सामर्थ्य को और भी बढ़ा सकेंगे। मैं विभिन्न प्रान्तों में अपने अनुभव के आधार पर यह कहता हूँ।" (उप०, पृ० ५०)

गांधीजी खूब जानते थे कि प्रादेशिक भाषाओं का मुख्य अन्तर्विरोध अंग्रेज़ी से है, न कि हिन्दी से। उन्होंने मद्रास में कहा था, "अगर अंग्रेज़ी ने जनता की भाषाओं की जगह न ले ली होती तो आज वे अत्यन्त समृद्ध अवस्था में होतीं।" (१९३७, पृ० ५७)

गांधीजी की नीति स्पष्ट थी किन्तु कांग्रेस के कुछ नेता, विशेषकर उत्तर प्रदेश के नेता, यह कहते थे कि उच्च शिक्षा और शासन-व्यवस्था में अंग्रेज़ी की तरह हिन्दी भी प्रादेशिक भाषाओं की जगह लेगी। इससे अंग्रेज़ी और भारतीय भाषाओं का मुख्य अन्तर्विरोध गौण हो जाता था, और हिन्दी-अहिन्दी भाषाओं का नया अन्तर्विरोध सामने आ जाता था। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के जो हिमायती प्रादेशिक भाषाओं के हक मारकर उसे अंग्रेज़ी की जगह देने की बात कहते रहे हैं, वे हिन्दी के मार्ग में काँटे बिछाते रहे हैं और इससे लाभ हुआ है अंग्रेज़ी को।

गांधीजी जानते थे कि भारत ऐसा राष्ट्र है जिसमें अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। वह ब्रिटेन या फ्रांस की तरह एक भाषावाला राष्ट्र नहीं है। इसलिए वह इस पक्ष में थे कि भाषाओं के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन हो जिससे प्रदेशों का राजकाज वहाँ की भाषाओं में हो सके। गांधीजी के कहने से जातीय इलाकों के आधार पर कांग्रेस कमेटियों का संगठन किया गया था। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद गांधीजी ने लिखा, "प्रान्तीय भाषाओं को अपना पूर्ण विकास करना है तो भाषा के आधार पर प्रान्तों का पुनर्गठन आवश्यक है। हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा होगी लेकिन वह प्रान्तीय भाषाओं की जगह न लेगी। वह प्रान्तों में शिक्षा का माध्यम न होगी—अंग्रेज़ी शिक्षा का माध्यम हो, इसका सवाल नहीं है। हिन्दुस्तानी का उद्देश्य यह होगा कि वह लोगों को महसूस कराए कि वे भारत के अभिन्न अंग हैं। बाहर के लोग हमें गुजराती, महाराष्ट्री, तमिल आदि कहकर नहीं जानते हैं। उनके लिए हम सब हिन्दुस्तानी हैं। इसलिए हमें सभी विघटनकारी प्रवृत्तियों को

दृढ़ता से रोकना चाहिए। इस मुख्य बात को ध्यान में रखते हुए हम मानेंगे कि भाषावार प्रान्त बनाने से शिक्षा और व्यापार को प्रोत्साहन मिलेगा।" (१९४८; उप०, पृ० २०२)

केन्द्रीय सरकार ने भाषावार प्रान्त बनाने का प्रबल विरोध किया। तमिलनाड और गुजरात के बड़े पूंजीपति यह नहीं चाहते थे कि उनके विशाल प्रान्त खण्डित हों। इनके अंग्रेज़ी अखबारों ने भाषावार प्रान्त-निर्माण का जोरों से विरोध किया। गांधीजी ने कहा था कि भाषावार प्रान्त बनाने से शिक्षा और व्यापार को प्रोत्साहन मिलेगा। गांधीजी की निगाह छोटे व्यापारियों और पूंजीपतियों पर थी जो बड़े प्रान्तों में उदीयमान इजारेदारों से पीड़ित थे। लेकिन दिल्ली की सरकार इन इजारेदारों की बात ज्यादा सुनती थी, गांधीजी और मध्यम पूंजीपतियों की कम। यही कारण है कि उसने प्राणपण से महाराष्ट्र और आंध्र के नये प्रान्त बनाने के आन्दोलन का विरोध किया।

गांधीजी के नाम पर जनता से वोट लेनेवाला, गांधीवाद-विरोधी दिल्ली का सरकारी कांग्रेस-नेतृत्व भाषावार प्रान्त-निर्माण का विरोध करके हिन्दी का अहित और अंग्रेज़ी का हित कर रहा था। कुछ अहिन्दी-भाषियों में यह भय उत्पन्न हुआ कि उनकी भाषाओं का दमन किया जाएगा और उन पर हिन्दी लादी जाएगी। इधर दिल्ली सरकार के नेता जानते थे कि अंग्रेज़ी न आज जानेवाली है, न कल। फिर भी वे बराबर हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का दावा करते जाते थे क्योंकि इसके बिना विशाल हिन्दी-भाषी क्षेत्र से उन्हें वोट न मिल सकते थे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाषावार प्रान्त-निर्माण का विरोध करने में दिल्ली सरकार ने बड़े पूंजीपतियों के दबाव में आकर अपनी नीति निर्धारित की। इन बड़े पूंजीपतियों की साँठ-गाँठ ब्रिटेन के इजारेदारों से भी थी। दिल्ली सरकार भारत के बड़े पूंजीपतियों के अलावा जब-तब ब्रिटेन के इजारेदारों का रुख देखकर भी काम करती थी। ब्रिटिश पूंजीपति चाहते थे कि भारत में अंग्रेज़ी रहे। इससे एक तो भारत सांस्कृतिक रूप से ब्रिटेन के साथ नत्थी रहता है, दूसरे अंग्रेज़ी किताबों की बिक्री के लिए इतना बड़ा बाज़ार ब्रिटिश प्रकाशकों के हाथ में बना रहता है! इसीलिए जो लोग भाषावार प्रान्त बनाने के विरोधी थे, वे अंग्रेज़ी के बहुत बड़े समर्थक थे। दिल्ली सरकार न तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद की दलाल थी, न वह केवल भारत के बड़े पूंजीपतियों की प्रतिनिधि थी। उसने भारत के औद्योगीकरण में, विशेषकर सरकारी उद्योग-धन्धों के निर्माण में, भारत की स्वतन्त्र विदेश-नीति निर्धारित करने में और समाजवादी देशों से मैत्री-सम्बन्ध कायम करने में बहुत बड़ा योग दिया। फिर भी उसने भारत और ब्रिटेन के बड़े पूंजीपतियों के हित में कुछ ग़लत कदम उठाए।

कुछ प्रगतिशील विचारक भाषावार प्रान्त-निर्माण के पक्ष में गांधीजी के विचार बड़े गर्व से उद्धृत करते हैं किन्तु गांधीजी ने अंग्रेज़ी हटाने के बारे में जो कुछ कहा था, उसे वे बड़े प्रेम से नजरन्दाज कर देते हैं। ये विचारक उन मध्यमवर्गी बुद्धिजीवियों के प्रतिनिधि हैं जो केन्द्र में अंग्रेज़ी चालू रखकर अखिल भारतीय नौकरियों के उम्मीदवार हैं।

गांधीजी के नाम की दुहाई देकर केन्द्र में 'फिलहाल' अंग्रेजी चलाते रहने की बात करना हास्यास्पद है।

प्रान्तीय भाषाओं के सम्बन्ध में गांधीजी का यह उदार दृष्टिकोण ध्यान देने योग्य है कि अंग्रेजी की जगह जहाँ अन्तर्प्रान्तीय सम्पर्क के लिए लोग हिन्दी न बोल सकें, वहाँ वे प्रांतीय भाषा का ही व्यवहार करें।

१९४७ में बनारस विश्वविद्यालय में गांधीजी ने हिन्दी में भाषण करते हुए कहा था, "यहाँ मंच पर एक के बाद दूसरा वक्ता आया और मैं अधीरता से राह देखता रहा कि कोई हिन्दी या उर्दू या हिन्दुस्तानी में, या संस्कृत में ही भाषण करे, यह न सही तो मराठी में या और किसी भारतीय भाषा में बोले। लेकिन मुझे यह सौभाग्य प्राप्त न हुआ। क्यों? इसलिए कि हम गुलाम हैं और उन्हीं की भाषा को छाती से चिपकाये हुए हैं जिन्होंने हमें गुलाम बना रखा है।"

विद्यार्थियों का लक्ष्य करके उन्होंने कहा, "वे जरा-जरा-सी बात पर हड़ताल कर देते हैं, भूख-हड़ताल कर देते हैं। वे राष्ट्रभाषा में शिक्षा पाने के लिए क्यों नहीं लड़ते? मुझे बताया गया है कि आंध्र प्रदेश के ढाई सौ विद्यार्थी हैं। उन्हें सर राधाकृष्णन् के पास जाना चाहिए और कहना चाहिए कि विश्वविद्यालय में एक आंध्र विभाग खोला जाय। वे राष्ट्रभाषा नहीं सीखना चाहते तो तेलुगु के माध्यम से शिक्षा पाने की मांग करें।"

(उप०, पृ० ९२-९३)

'राष्ट्रभाषा नहीं सीखना चाहते तो तेलुगु के माध्यम से शिक्षा पाने की मांग करें', इस सूत्र को आज की परिस्थितियों में लागू करें तो हम नेताओं से कहेंगे कि आप हिन्दी नहीं बोल सकते तो अपनी मातृभाषा में भाषण कीजिए। श्री कामराज नाडार इसी नीति का पालन करते हैं और तमिल में बोलते हैं। अनुवाद की व्यवस्था करके उन लोगों की कठिनाई दूर की जा सकती है जो हिन्दी का व्यवहार नहीं कर सकते या जान-बूझकर नहीं करना चाहते।

गांधीजी झरिया गए। सभा में हजारों मजदूर थे। गांधीजी का अभिनन्दन अंग्रेजी में किया गया। इस पर उन्होंने 'यंग इंडिया' में लिखा, "अधिकांश श्रोता आसानी से हिन्दी समझ लेते और बाकी लोग बंगला समझ लेते। उस संघ के पदाधिकारी बंगाली थे। अगर उन्होंने अंग्रेजी का व्यवहार मेरे लिए किया तो बिलकुल अनावश्यक था। वे अभिनन्दन (या भाषण) बंगला में लिख सकते थे और मुझे उसका हिन्दी-अनुवाद दे देते। अंग्रेजी में भी अनुवाद करके दे सकते थे। लेकिन उतनी बड़ी सभा पर अंग्रेजी थोपना उसका अपमान करना था।"

इसके आगे दक्षिण भारत को लक्ष्य करके उन्होंने लिखा, "यह घटना सभाएँ संगठित करनेवालों के लिए हर जगह चेतावनी का काम करे, खास तौर से आंध्र, तमिलनाड, केरल और कर्नाटक के सभा-संयोजकों को सावधान कर दे, यह मैं चाहता हूँ। मैं उनकी कठिनाई समझता हूँ। लेकिन छह साल से उनके बीच हिन्दी-प्रचार सभा

ज़ोरों से काम कर रही है। उनके भाषण प्रान्तीय भाषाओं में होने चाहिएँ और मेरी सुविधा के लिए उनके हिन्दी-अनुवाद दे देने चाहिएं।" (उप०, पृ० २२-२३)

गांधीजी ने यह सब सन् '२७ में लिखा। तब से अब तक हिन्दी-प्रचार सभा लाखों आदमियों को हिन्दी सिखा चुकी है। फिर भी वे या अन्य अहिन्दी-भाषी राष्ट्रभाषा का व्यवहार न कर सकें या न करना चाहें तो उन्हें अपनी मातृभाषा में बोलना चाहिए और उनके भाषण के अनुवाद की व्यवस्था होनी चाहिए।

२७—२८ जून को इस साल बरेली में साहित्य-सम्मेलन का जो अधिवेशन हुआ, उसके प्रस्ताव में कहा गया है, "केन्द्रीय सरकार और हिन्दी-भाषी राज्य-सरकारों से उत्तर प्रदेश सरकार केवल हिन्दी में सम्पूर्ण पत्र-व्यवहार करे तथा इतर भाषी राज्य-सरकारों से पत्र-व्यवहार मूल रूप से हिन्दी में करे और साथ में तत्क्षेत्रीय भाषा में रूपान्तर संलग्न कर दिया करे।" (राष्ट्रभाषा सन्देश, इलाहाबाद; ८ जुलाई, १९६५)

गांधीजी की नीति को वर्तमान परिस्थिति में कैसे अमली रूप दिया जाय, सम्मेलन का सुझाव इसकी बहुत अच्छी मिसाल है। प्रस्ताव में यह नहीं कहा गया कि उत्तर प्रदेश की सरकार अन्य प्रदेशों की सरकार से केवल हिन्दी में पत्र-व्यवहार करे, या हिन्दी के साथ अंग्रेज़ी में अनुवाद भेजे, प्रस्ताव में अंग्रेजी के मुक़ाबले प्रान्तीय भाषाओं को ऊँचा आसन दिया गया है। इस प्रकार अनुवाद की व्यवस्था करके अन्य प्रदेशों की सुविधा का ध्यान रखते हुए अंग्रेज़ी को हटाया जा सकता है।

गांधीजी ने कहा था कि आंध्र के विद्यार्थी राष्ट्रभाषा के माध्यम से शिक्षा पाना नहीं चाहते तो वे तेलुगु में शिक्षा पाने की माँग करें। वे उत्तर प्रदेश के सांस्कृतिक केन्द्र काशी में प्रादेशिक भाषा तेलुगु और हिन्दी को समान अधिकार देने के लिए तैयार थे। पाठक विचार करें, संयुक्त राष्ट्र संघ का काम कैसे चलता है। वह विश्व-संस्था है। उसके सेक्रेटेरियट में न जाने कितनी भाषाओं में बोलनेवालों की बातों का हिसाब-किताब रखना पड़ता है। सेक्रेटेरियट में दुनिया की सभी भाषाओं में कार्रवाई नहीं दर्ज की जाती; न संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अंग्रेज़ी को विश्व-भाषा मानकर केवल उसी में दफ्तर चलाने का नियम बनाया है। उसने अंग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी, चीनी और स्पेनी को बराबर अधिकार देकर उन्हें अपने काम-काज की भाषा बनाया है। हर भाषण का अनुवाद इन भाषाओं में एक साथ किया जाता है।

भारत में जब तक अहिन्दी प्रदेशों के नेता स्वेच्छा से हिन्दी स्वीकार नहीं करते, तब तक यदि हिन्दी, बंगला, तमिल, तेलुगु और मराठी को समान रूप से केन्द्रीय भाषा मान लिया जाय, तो क्या यह समाधान हिन्दी-अहिन्दी नेताओं को मान्य न होना चाहिए?

यदि विश्व-संस्था का दफ्तर एक से अधिक भाषाओं मे चल सकता है तो क्या हम लोकसभा में एक से अधिक भाषाओं में बोलने और पाँच स्वीकृत भाषाओं में भाषण के अनुवाद की व्यवस्था नहीं कर सकते? इसी तरह केन्द्रीय सरकारी दफ्तरों का काम एक से अधिक भाषाओं में हो सकता है।

गांधीजी ने लिखा था, "दक्षिण अफ्रीका जैसे देश में अंग्रेजी और डच भाषाओं की टक्कर थी। अन्त में फैसला यह हुआ कि दोनों भाषाओं को बराबरी का दर्जा देना चाहिए।" (थॉट्स, पृ० ३४)

इसी तरह कनाडा में अंग्रेजी, फ्रांसीसी, बेल्जियम में फ्रांसीसी फ्लेमिश, पाकिस्तान में उर्दू-बंगला, लंका में सिंहली-तमिल भाषाओं की टक्कर है। इन देशों में भाषा-समस्या का एक ही समाधान है कि दो भाषाओं को बराबर अधिकार देकर उन्हें केन्द्रीय भाषाएँ माना जाय।

जो लोग यह समझते हैं कि अंग्रेजी हटाने की माँग दूसरी भाषाओं पर जबरदस्ती हिन्दी लादने की माँग है, उनके विचार और चिन्तन के लिए मेरा उपर्युक्त प्रस्ताव है। इसमें न तो केन्द्रीय सेवाओं के लिए सभी से एक भाषा सीखने का आग्रह है, न भारत की सभी भाषाओं को केन्द्रीय भाषा बना देने की माँग है। यह मध्यमार्गी प्रस्ताव है और अमल में लाया जा सकता है बशर्ते कि पहले कांग्रेस, कम्युनिस्ट पार्टी तथा अन्य दल अपने केन्द्रीय दफ्तरों से अंग्रेजी निकाल दें।

गांधीजी की भाषा-नीति का अन्तिम सूत्र है—हिन्दी-उर्दू बुनियादी तौर से एक ही भाषा है और आगे चलकर इनका एक ही सम्मिलित साहित्यिक रूप होगा।

हिन्दी-उर्दू की बुनियादी एकता के बारे में उन्होंने लिखा था, "हिन्दी और उर्दू या हिन्दुस्तानी में कोई भी फर्क नहीं है। दोनों का व्याकरण एक है। फर्क केवल लिपि का है। विचार कीजिए तो मालूम होगा कि हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी—इन तीन शब्दों से एक ही भाषा का बोध होता है। इनके शब्दकोश देखें तो पता चलेगा कि अधिकांश शब्द एक-से हैं।' (उप० पृ० ५०)

गांधीजी ने जो कुछ लिखा था, वह बोलचाल की भाषा की दृष्टि से सही था। हिन्दी-उर्दू मूलतः एक ही भाषा हैं और आम जनता उनके व्यवहार में कोई भेद नहीं करती।

गांधीजी ने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि उर्दू भाषा और लिपि केवल मुसलमानों की सम्पत्ति नहीं है। "ऐसे काफी हिन्दू और अन्य धर्मों के लोग भी हैं जिनकी मातृभाषा उर्दू है और जो केवल उर्दू लिपि जानते हैं।" (उप०, पृ० १७५)

इससे जो नतीजा निकलता है, वह यह कि उर्दू धार्मिक अल्पसंख्यकों की भाषा न होकर सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों की भाषा है। वह स्वतन्त्र भाषा नहीं, इसलिए उसकी तब तक रक्षा करनी चाहिए जब तक एक ही बोलचाल की भाषा में दोनों शिष्ट रूप घुल-मिलकर एक न हो जाएँ।

देश में हिन्दू-मुस्लिम समस्या अंग्रेजों के हाथ में बहुत बड़ा हथियार थी जिसे वे राष्ट्रीय आन्दोलन को तोड़ने के लिए इस्तेमाल करते थे। उर्दू का सम्बन्ध मुसलमानों के विशेषाधिकारों से जुड़ गया। उर्दू की रक्षा का प्रश्न—विशेष रूप से उसकी लिपि की रक्षा का प्रश्न—धार्मिक अल्पसंख्यकों की रक्षा का प्रश्न बन गया। गांधीजी ने हिन्दी-

हिन्दुस्तानी का नारा देकर हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलाने का भगीरथ प्रयत्न किया। किन्तु भाषा केवल बहाना थी; अलगाव के कारण दूसरे थे। बंगाल में उर्दू लिपि की रक्षा का प्रश्न न था: फिर भी उसका विभाजन हुआ। सिन्धी भाषा के लिए फारसी लिपि का ही संशोधित रूप काम में आता था। फिर भी सिन्ध पाकिस्तान में गया। जिनकी भाषा उर्दू थी, वे यहीं रहे। उर्दू के दमन का नारा लगाकर मुस्लिम जनता को भड़काया गया; साम्राज्यवादियों और उनके साम्प्रदायिक सहायकों ने भाषा-समस्या से लाभ उठाकर राष्ट्रीय आन्दोलन को कमज़ोर किया।

इस परिस्थिति को बदलने का एक ही तरीका था, साम्राज्यवाद के खिलाफ आम जनता का संगठन किया जाय। उत्तर भारत में किसान-सभाओं और मज़दूर-संघों में एक ही भाषा का व्यवहार किया जाय, इन जन-संगठनों में फारसी, संस्कृत शब्दों के व्यवहार पर रोक न लगाकर एक ही लिपि देवनागरी के व्यवहार पर जोर दिया जाय। एक लिपि के माध्यम से जो किसान-मज़दूर अपना राजनीतिक-सांस्कृतिक काम करते, वे अरबी-संस्कृत के शब्दों की छँटाई खुद कर लेते। वे लेखक जो मार्क्सवाद से प्रभावित थे, हिन्दी-उर्दू साहित्य का प्रकाशन एक ही लिपि देवनागरी में करके दोनों के बीच का फासला काम करने में मदद दे सकते थे। गांधीजी गुजराती थे। वह आधुनिक हिन्दी साहित्य से बहुत कम परिचित थे, उर्दू-साहित्य के विकास से और भी कम परिचित थे। उत्तर प्रदेश के प्रगतिशील लेखक गांधीजी की बहुत बड़ी मदद कर सकते थे। लेकिन इन लेखकों की भाषा-नीति में खामियाँ थीं जिनकी चर्चा अगले निबन्ध में होगी।

हिन्दी-उर्दू का भेद नगण्य नहीं था। पंडिताऊ हिन्दी और मौलवियाना उर्दू की निन्दा करके यह भेद समाप्त न किया जा सकता था। कोशों से शब्द चुनकर साल-दो साल में एक सामान्य शिष्ट भाषा गढ़ी न जा सकती थी। गांधीजी भारत की तमाम भाषाओं के लिए एक लिपि के व्यवहार पर ज़ोर देते थे। किन्तु राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी के लिए वह दोनों लिपियों का व्यवहार आवश्यक बतलाते थे। वह जानते थे और कहते थे कि देवनागरी लिपि अधिक वैज्ञानिक है और आगे चलकर वही रहेगी। उर्दू लिपि और उर्दू-साहित्य को सुरक्षित रखने की बात सही थी। किन्तु यदि एक ही किसान-सभा में पचास आदमी हिन्दी में अपना काम करते हैं और दस आदमी उर्दू में, तो इससे किसानों का वर्ग-संगठन कमज़ोर होता है। सारे देश में राष्ट्रभाषा की दो लिपियाँ हों, तो इससे सारे देश का काम कठिन हो जाता है। सारे देश के शिक्षित लोग दोनों लिपियाँ सीखें, राष्ट्रभाषा दोनों ही लिपियों में लिखी जाय, यह बात अव्यावहारिक थी।

व्यावहारिक बात यह थी कि हिन्दी-उर्दू की लिपियों को बराबरी का दर्जा न देकर एक को प्रधान और अन्य प्रादेशिक व्यवहार के लिए स्वीकार किया जाय और दूसरी को अल्पसंख्यकों के लिए आवश्यक मानकर संरक्षण प्रदान किया जाय। यदि उर्दू को मुसलमानों की लिपि मान ही लिया जाय तो भी वह अल्पसंख्यकों की लिपि होगी; उसे देवनागरी का दर्जा देना ग़लत था।

हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायवादियों से भिन्न गांधीजी हिन्दी-उर्दू की बुनियादी एकता में विश्वास करते थे और समझते थे कि जब साम्प्रदायिक तनाव कम हो जाएगा, तब दोनों शैलियाँ घुल मिलकर एक हो जाएँगी। उन्होंने सन् '३७ में लिखा था, "जब तक हिन्दू मुस्लिम तनाव बना हुआ है, तब तक वह कभी फारसी-अरबी शब्दों से लदी हुई फारसी लिपि में लिखी जानेवाली उर्दू का रूप लेता है, कभी संस्कृत शब्दों से लदी हुई देवनागरी लिपि में लिखी जानेवाली हिन्दी का रूप लेता है। जब दोनों के दिल मिलेंगे तब एक ही भाषा के ये दो रूप घुल मिलकर एक हो जाएँगे और इस भाषा में संस्कृत, फारसी, अरबी या अन्य भाषाओं के उतने ही शब्द होंगे जितने उसके पूर्ण विकास और पूर्ण व्यंजना शक्ति के लिए दरकार होंगे।" (वप, पृ० २६-२७)

इन वाक्यों में जोर भाषा की मूल प्रकृति पर है। कितने शब्द किस भाषा से लिये जाएँगे यह भाषा के अपने विकास पर, उसके बोलनेवालों के विकास पर निर्भर है, इसका फैसला कोई नहीं कर सकते। लेकिन दोनों मिलेंगी जरूर, गांधीजी का यह दृढ़ विश्वास था। उनका यह विश्वास बिलकुल सही था। बंगाल के विभाजन से बँगला के दो रूप नहीं हो गए, पंजाब के बँटवारे से दो पंजाबी भाषाएँ नहीं बन गईं। भाषाओं के विकास के नियम साम्राज्यवादी योजनाओं से ज्यादा शक्तिशाली हैं। उर्दू पाकिस्तान की नहीं हिन्दुस्तान की भाषा है। हम उसका संरक्षण करेंगे, साथ ही हिन्दी-उर्दू का भेद मिटाने का प्रयत्न भी करेंगे। हिन्दी-उर्दू लिखने-बोलनेवालों का प्रदेश एक, जाति एक, आर्थिक सम्बन्ध एक। बोलचाल की भाषा के दोनों साहित्यिक रूपों को एक दिन मिलना ही होगा।

गांधीजी की भाषा नीति के ये छह महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं जिन्हें आज की परिस्थितियों में विवेक से लागू करके हम भाषा-समस्या के सही समाधान की ओर बढ़ सकते हैं।

(१९६५)

परिशिष्ट—२

१

प्रेमचन्द और भाषा-समस्या

प्रेमचन्द ने भाषा के सम्बन्ध में काफ़ी विचार किया था और उसके सम्बन्ध में लिखा भी काफ़ी है। जब उन्होंने उन्होंने उर्दू छोड़कर हिन्दी में लिखना शुरू किया था तब भी उनके सामने भाषा का प्रश्न महत्त्वपूर्ण होकर आता था। इसीलिए 'सेवासदन' में भी हम उन्हें इस विषय पर सोचते-विचारते देखते हैं। डॉ० श्यामाचरण मोटर से उतरकर अंग्रेज़ी में अपने देर होने की क्षमा चाहते हैं, तब कुंवर साहब उन्हें याद दिलाते हैं, "डॉक्टर साहब, आप भूलते हैं, यह काले आदमियों का समाज है।" डॉक्टर साहब अंग्रेज़ी को देश की लिंगुआ फ्रांका मानते हैं, परन्तु कुंवर साहब इसका कारण देश के कुछ अंग्रेज़ी-भक्तों को बताते हैं। अंग्रेज़ी से कुंवर साहब को 'ऐसी ही घृणा होती है जैसी किसी अंग्रेज़ के उतारे कपड़े पहनने से।"

उर्दू और हिन्दी का प्रश्न प्रेमचन्द के सामने ताजा था। उसके बारे में कुंवर साहब कहते हैं—"फारस और काबुल के मूर्ख सिपाहियों और हिन्दू व्यापारियों के समागम से उर्दू जैसी भाषा का प्रादुर्भाव हो गया। अगर हमारे देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के विद्वज्जन अपनी ही भाषा में सम्भाषण करते तो अब तक कभी एक सार्वदेशिक भाषा बन गई होती।" दिसम्बर, १६३१ के 'हंस' में एक पुस्तक की आलोचना करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा था, "साहित्य-मंडल ने उर्दू के केन्द्र दिल्ली में हिन्दी-प्रकाशन का भार उठाया है, यह उद्योग प्रशसनीय है।" प्रेमचन्द हिन्दी-उर्दू का भेद मिटाने के पक्ष में थे क्योंकि वास्तव में भाषाएँ दोनों एक हैं। इसके लिए वह काफी उदारता से काम लेना चाहते थे, भाषा शुद्ध ही हो, इसके वह कायल न थे। परन्तु राष्ट्रभाषा को कुछ गिने-चुने आदमियों की न होकर देश के समूह की समझ में आनेवाली होना चाहिए। जैसा उन्होंने 'हंस' में लिखा था, "राष्ट्रभाषा केवल रईसों और अमीरों की भाषा नहीं हो सकती। उसे किसानों और मज़दूरों की भाषा बनना पड़ेगा।" कौन-सी भाषा किसानों और मज़दूरो की भाषा बन सकती है, यह उनकी कहानियों और उपन्यासों के ही किसान-मजदूरों की भाषा देखकर बताया जा सकता है।

अन्य भाषा-भाषियों की सुगमता के लिए वह हिन्दी का शब्दकोश बढ़ाना चाहते थे परन्तु वह ऐसे शब्द लेने के पक्ष में न थे जिनसे हिन्दी हिन्दी न रहे। नवम्बर,

'३५ के 'हंस' मे उन्होंने लिखा था, "इसका ध्यान रखना पड़ेगा कि अपना कोष बढ़ाने की धुन मे वह अपना रूप ही न खो बैठे हिन्दी की एक मर्यादा है, और उसका चाहे जितना भी विस्तार हो, उसकी इस मर्यादा की रक्षा होनी आवश्यक है।" इन शब्दों में उन्होंने अपने जीवन-पर्यन्त के अनुभव और चिन्तन का सार रख दिया है।

सरल भाषा लिखने के पक्षपाती होते हुए भी प्रेमचन्द साहित्यिक की कठिनाइयों को जानते थे। उन्होंने स्वीकार किया है, दर्शन, विज्ञान आदि मे और कथा-साहित्य में भी जहां वह विवेचनात्मक हो जाता है, जन-साधारण की भाषा मे जरा कठिन शब्द अपनाने पड़ते हैं। भाषा-काठिन्य के विरुद्ध कुछ लोगों की तरह आवाज़ उठाकर प्रेमचन्द ने जन-साधारण मे ही अधिकाधिक भाषा और साहित्य के प्रचार पर ज़ोर दिया है। जो लोग उच्चकोटि का गम्भीर साहित्य रचनेवालों की भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयों को न समझकर उन पर तुरन्त ही दुरूहता, अस्वाभाविकता आदि का आक्षेप कर बैठते हैं, उन्हें प्रेमचन्द के इन शब्दों को ध्यान में रखना चाहिए—"जब तक जनता में शिक्षा का अच्छा प्रचार नहीं हो जाता, उसकी व्यावहारिक शब्दावली बढ़ नहीं जाती, हम उनके समझने लायक भाषा में तात्विक विवेचनाएँ नहीं लिख सकते।' शिक्षा का प्रचार होने पर वही कठिन शब्द "जिन्हें देखकर आज हम भयभीत हो जाते हैं, जब अभ्यास में आ जाएँगे तो उनका हौवापन जाता रहेगा।' ('हंस', जनवरी १६३५)

राष्ट्रभाषा के राजनीतिक महत्त्व को वह पूरी तरह स्वीकार करते थे और इसके लिए उन्होंने नेताओं पर यह दोष भी लगाया है कि वे इस सम्बन्ध में अधिक सचेष्ट नहीं रहे। "जब हमारे नेता हिन्दी साहित्य से बेखबर-से हैं, जब हम लोग थोड़ी-सी अंग्रेज़ी लिखने की सामर्थ्य होते ही हिन्दी को तुच्छ और ग्रामीणों की भाषा समझने लगते हैं, तब यह कैसे आशा की जा सकती है कि हिन्दी में ऊँचे दर्जे के साहित्य का निर्माण हो।" ('हंस, जनवरी, १६३६)

फिर भी उनका विचार था देश का साहित्य यदि उन्नति कर सकता है तो राष्ट्रभाषा के द्वारा ही, अन्य उपभाषाओं से नहीं, राष्ट्रभाषा का साहित्य अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता में ठहर सकेगा दूसरा नहीं। "यह स्वप्न देखना कि भारत की सभी प्रान्तीय भाषाएँ संसार की समुन्नत भाषाओं के बराबर हो सकती हैं, भूल है। एक राष्ट्र एक ही भाषा को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय मंचों के सामने खड़ा हो सकता है।" ('हंस', नवम्बर, १६३५)

इससे मालूम होता है राष्ट्रभाषा के प्रश्न को प्रेमचन्द कितना महत्त्वपूर्ण समझते थे और उसके साहित्य की उन्नति के लिए उनमें कैसी उत्कट अभिलाषा थी। उसी लगन से साहित्य रचकर उन्होंने राष्ट्रभाषा का मस्तक भी ऊँचा किया है।

लिपि के सम्बन्ध में उन्होंने विशेष कुछ विवेचनात्मक नहीं लिखा, परन्तु जैसे भाषा के सम्बन्ध में उनकी पहली कसौटी बोधगम्यता की है, उसी प्रकार लिपि के लिए उन्होंने पहले-पहल उसका सरल और सुबोध होना आवश्यक समझा है। इसलिए उन्होंने देवनागरी लिपि का ही समर्थन किया था। "हिन्दुस्तानी भाषा के लिए हिन्दी लिपि रखना

ही सुविधा की बात है।" ('हंस', नवम्बर, १९३५) (१९४०)

२

प्रेमचन्द ने साहित्यकारों के लिए लिखा था कि उन्होंने कौम की तारीख बनाई है, उसकी संस्कृति बनाई है। प्रेमचन्द किस कौम की तारीख बनानेवाले साहित्य-कार थे ? वैसे तो उनके साहित्य का आदर सारे हिन्दुस्तान में हुआ है लेकिन वह खास तौर से हिन्दीभाषी जाति के लेखक थे। वह हिन्दुस्तानी क़ौम की तारीख बनानेवाले साहित्यकार थे। उन्होने हिन्दी और उर्दू दोनों ही में रचनाएँ की। हिन्दी और उर्दू के लेखकों को नजदीक लाने में, हिन्दी और उर्दू के सामन्ती साहित्य का मुक़ाबला करने मे, हिन्दी और उर्दू के नये साहित्य मे आजादी और जनतन्त्र के भाव और विचार भरने में प्रेमचन्द ने हमारी जाति की अद्वितीय सेवा की है। तुलसीदास के बाद हिन्दी के वह सबसे बड़े साहित्यकार थे जिन्हें हमारी किसान-जनता ने अपनाया। जहाँ-जहाँ हिन्दी-उर्दू पढ़नेवालों ने प्रेमचन्द की रचनाओं में रस लिया, वहाँ-वहाँ जातीय एकता का भाव और मजबूत हुआ।

हिन्दुस्तानी क़ौम की एकता मे हिन्दी-उर्दू का विवाद एक बहुत बड़ी बाधा बना हुआ था। प्रेमचन्द इसके लिखनेवालो को दो क़ौमों का लेखक न मानते थे। वह उन्हें नज़दीक लाना चाहते थे जिससे कि एक मिली-जुली साहित्यिक भाषा का चलन हो सके। दिल्ली में हिन्दुस्तानी सभा के स्थापित होने पर उन्होने उसका स्वागत किया था क्योंकि उसमें हिन्दी और उर्दू के लेखक एक साथ बैठते और बहस करते थे। हिन्दी-उर्दू के लेखको का परस्पर मिलना-जुलना और एक साथ भाषा और साहित्य की समस्याओं पर विचार करना उनकी नज़र में कितना जरूरी था यह 'हिन्दुस्तानी सभा' पर उनकी टिप्पणी से ज़ाहिर होता है। इसमें उन्होंने लिखा था, "जब उर्दू का अदीब अपनी कोई रचना ऐसे समाज के सामने पढ़ेगा, जिसमे हिन्दी के लेखक भी शरीक है, तो वह ऐसी भाषा लिखने की कोशिश करेगा, जो हिन्दीवालों की समझ में आए। इसी तरह हिन्दी का लेखक उर्दू के अदीबों की मण्डली में अपनी भाषा को सुबोध रखने पर मजबूर होगा।" इस तरह के परस्पर प्रभाव और आदान-प्रदान से वह एक मिली-जुली साहित्यिक शैली के विकास की आशा करते थे।

इस तरह के प्रयोग की सफलता एक दूसरी बात पर भी निर्भर है और वह यह कि इस तरह की सभाओं में शामिल होनेवाले लेखक किस हद तक जनता के लिए लिखते हैं और किस हद तक अपने जीवन में जनता के नज़दीक हैं। जनता के लिए न लिखने पर साहित्यकार उसी पुरानी लफ़्फ़ाज़ी और उन्ही पुराने अलंकारों की दुनिया में चक्कर लगाता रहता है और तब हिन्दी और उर्दू के लेखक एक-दूसरे से सीखने के बदले एक-दूसरे के कठिन शब्दों को ढूंढने में लग जाते हैं। एक मिली-जुली साहित्यिक भाषा के जरिये क़ौम की सेवा करने और उसको संगठित करने का सवाल पीछे पड़ जाता है। जहाँ पर हिन्दी-उर्दू लेखकों के मिलकर काम करने और सभाएँ चलाने के काम पूरी तरह

सफल नहीं हुए, यही असफलता का मुख्य कारण जनता से लेखकों के अलगाव को समझना चाहिए।

एक साहित्यिक शैली गढ़ने के पक्ष में होते हुए भी प्रेमचन्द उसे गढ़ने की कठिनाइयां भी जानते थे। 'भारतीय साहित्य परिषद्' में हिन्दुस्तानी को जगह न देने पर मौलाना अब्दुल हक की आलोचना का जवाब देते हुए उन्होंने जून, सन् '३६ के 'हंस' में लिखा था, "और जो हिन्दुस्तानी अभी व्यवहार में नहीं आई, उसके और ज्यादा हिमायती नहीं निकलें तो कोई ताज्जुब नहीं। जो लोग हिन्दुस्तानी का वकालतनामा लिये हुए हैं, और उनमें एक इन पंक्तियों का लेखक भी है, वे भी अभी तक हिन्दुस्तानी का कोई रूप खड़ा नहीं कर सके। केवल उसकी कल्पना-मात्र कर सके हैं, यानी वह ऐसी भाषा हो जो उर्दू और हिन्दी दोनों ही के सगम की सूरत में हो, जो सुबोध हो और आम बोलचाल की हो।"

इससे नतीजा यही निकलता था कि एक मिली-जुली साहित्यिक शैली के लिए वक्त की जरूरत थी। हिन्दी को बहुत ज्यादा संस्कृतमय और उर्दू को फारसी-अरबीमय बनाने का विरोध करना सही था लेकिन हिन्दी और उर्दू की जो दो शैलियां बन रही थीं, उन्हें एकाएक छोड़ा नहीं जा सकता था। प्रेमचन्द हिन्दी और उर्दू दोनों में लिखते थे और उनकी हिन्दी-उर्दू में भेद भी रहता था। इस पर कुछ लोगों ने उन पर यह तोहमत लगाई कि वह मुंह से तो हिन्दुस्तानी की हिमायत करते हैं, असल में हिन्दी का प्रचार करते हैं।

'हंस' के 'प्रेमचन्द-स्मृति अंक' में श्री अशफाक हुसेन ने एक दिलचस्प घटना का जिक्र किया है। "अलीगढ़ से 'सुहैल' नाम का एक उर्दू अखबार निकलता है। उसमें छापने के लिए प्रेमचन्दजी ने अपनी दो रचनाएं भेजी थीं, जिनमें एक तो हिन्दी में थी और दूसरी उर्दू में। इसके लिए एक साहब ने प्रेमचन्द के बारे में बहुत-सी उल्टी-सीधी बातें लिख डाली थीं। उनकी हिन्दीवाली रचना में तो संस्कृत के कई शब्द थे और उर्दू-वाली रचना में उससे भी अधिक फारसी के शब्द थे। इसकी आलोचना जिस तरह के लोगों को करनी चाहिए थी, उसी तरह के लोगों ने की थी और कहा था कि 'प्रेमचन्दजी दोरुखी चालें चलते हैं, दोनों तरफ मिले रहना चाहते हैं और दोनों तरफ से अच्छे बने रहना चाहते हैं।' "

अगर प्रेमचन्द का यह दावा होता कि हिन्दी-उर्दू का बायकाट करके, तुरन्त हिन्दुस्तानी रायज की जा सकती है, तो शायद इस आलोचना में कुछ तथ्य होता। लेकिन जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रेमचन्द हवाई सिद्धान्तकार नहीं थे, वह असल में तुरन्त एक मिली-जुली भाषा शैली ईजाद करने की कठिनाइयों को जानते थे। इसलिए हिन्दी और उर्दू दोनों में कुछ हेर-फेर के साथ लिखने की उनकी नीति सही थी, बोलचाल की कौमी जबान हिन्दुस्तानी का समर्थन करना भी ठीक था।

'प्रेमचन्द-स्मृति अंक' में श्री मोहम्मद आकिल ने इस तरह की दूसरी घटना का जिक्र किया है। "इस सिलसिले में देहली के रिसाले 'साकी' ने जो तनकीद की थी कि

प्रेमचन्दजी उर्दू के लिए मरहूम हो चुके हैं, उसके बारे में हँसकर कहने लगे कि 'साक़ी' के एडीटर को मैंने लिखा है कि मैं उर्दू के लिए न सिर्फ़ ज़िन्दा हूँ बल्कि ज़्यादा ज़ोरों से जी रहा हूँ।" प्रेमचन्द उन थोड़े से लेखकों में थे जिनमें हिन्दी-उर्दू को लेकर बढ़ा-चढ़ी का भाव नहीं था। यह भाव तब पैदा होता है जब लेखक के दिमाग़ में हिन्दी-उर्दू के पीछे हिन्दुस्तानी कौम नहीं होती बल्कि हिन्दू धर्म और इस्लाम होता है। प्रेमचन्द ने अपने अमल से दिखलाया कि साहित्य का जातीय रूप समृद्ध करने से, उसमें जनवादी विचारों का समावेश करने से भाषा की समस्या हल करने में मदद मिलती है। प्रेमचन्द के जल्दबाज़ आलोचक, जो तुरन्त हिन्दुस्तानी रायज करना चाहते थे, इस दिशा में ऐसा कोई बड़ा काम नहीं कर पाए।

प्रेमचन्द ने राष्ट्रभाषा और हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में जो भाषण दिए थे, उनमें एक तरफ तो साम्राज्यवादियों की गुलामी के हर रूप से बेहद नफरत ज़ाहिर होती है, दूसरी तरफ हर जगह उनका यह दृढ़ विश्वास भी ज़ाहिर होता है कि हिन्दी और उर्दू एक ही कौम की जबान हैं और इनका एक होना लाज़मी है।

प्रेमचन्द को देश के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में अंग्रेज़ी भाषा की प्रभुता खलती थी। यह उनकी साम्राज्य-विरोधी राष्ट्रीय चेतना, उनके आत्मसम्मान की भावना का ज़बर्दस्त सबूत था। किसी ने साम्राज्यवादियों की अंग्रेज़ी लादने की नीति के खिलाफ, बुद्धिजीवियों में इस नीति के सामने सिर झुकाने की नीति के खिलाफ इतने रोष और तर्क के साथ बग़ावत न की थी जैसे प्रेमचन्द ने। सन् '३४ में बम्बई के राष्ट्रभाषा-सम्मेलन में उन्होंने पशुओं और मनुष्यों में यह भेद बतलाया कि मनुष्य भाषा इस्तेमाल करते हैं, पशु नहीं करते। "समाज की बुनियाद भाषा है।" इस महत्त्व की जगह से अंग्रेजी यहाँ की भाषाओं को हटाने की कोशिश करती रही थी। सारे देश के लोग आपस में किस भाषा का व्यवहार करें, इस बारे में नेताओं वगैरह की उदासीनता का ज़िक्र करते हुए उन्होंने इस सम्मेलन में कहा था—"इस लापरवाही का ख़ास सबब है—अंग्रेज़ी ज़बान का बढ़ता हुआ प्रचार और हममें आत्म-सम्मान की वह कमी, जो गुलामी की शर्म को नहीं महसूस करती।"

किसी भी देश और जाति की उन्नति में यह आत्म-सम्मान की भावना जनता में जोश भर देती है, उसे संगठित होकर नए-नए मोर्चे फतह करने में बेहद मदद देती है। प्रेमचन्द का स्वाभिमान यह देखकर तिलमिला उठता था कि गुलाम देश के बुद्धिजीवी अपने मालिकों की भाषा पर अभिमान करते हैं। अंग्रेजी भाषा के प्रभुत्व को उन्होंने साम्राज्यवादी प्रभुत्व का ही अटूट हिस्सा बतलाते हुए कहा था—"अंग्रेजी राजनीति का, व्यापार का, साम्राज्यवाद का हमारे ऊपर जैसा आतंक है, उससे कहीं ज्यादा अंग्रेज़ी भाषा का है। अंग्रेजी राजनीति से, व्यापार से, साम्राज्यवाद से तो आप बग़ावत करते हैं, लेकिन अंग्रेजी भाषा को आप गुलामी के तौक़ की तरह गर्दन में डाले हुए हैं।"

प्रेमचन्द के इन उचित क्रोध से भरे हुए वाक्यों के सामने कोई दलील कारगर

नहीं हो सकती। सवाल है राष्ट्रीय आत्म सम्मान का। कौन-सा देश, जो स्वाधीन है या स्वाधीनता के लिए लड़ रहा है, हमारी तरह दूसरों की जबान को अपने राजकाज की जबान बनाए हुए है? प्रेमचन्द ने उन लोगों को कड़ी फटकार बताई जो इस गुलामी पर नाज करते थे। उन्होंने तमाम अंग्रेजी-भक्तों पर घड़ों पानी उड़ेलते हुए कहा था—'अंग्रेजी राज्य की जगह आप स्वराज्य चाहते हैं। उनके व्यापार की जगह अपना व्यापार चाहते हैं, लेकिन अंग्रेजी भाषा का सिक्का हमारे दिलों पर बैठ गया है, उसके बिना हमारा पढ़ा लिखा समाज अनाथ हो जाएगा। पुराने समय में आर्य और अनार्य का भेद था, आज अंग्रेजीदाँ और गैर अंग्रेजीदाँ का भेद है। अंग्रेजीदाँ आर्य हैं। उनके हाथ में, अपने स्वामियों की कृपा-दृष्टि की बदौलत कुछ अख्तियार हैं, रोब है, सम्मान है, गैर-अंग्रेजीदाँ अनार्य है और उनका काम केवल आर्यों की सेवा टहल करना है और उनके भोग विलास और भोजन के लिए सामग्री जुटाना है।" प्रेमचन्द ने भारत के अंग्रेजी प्रेमी आर्यों के लिए ये शब्द अठारह साल पहले कहे थे। उनका महत्त्व आज भी कम नहीं हुआ।

प्रेमचन्द हिन्दी-उर्दू को एक जबान मानते थे। राष्ट्रभाषा सम्मेलन वाले भाषण में उन्होंने हिन्दी उर्दू का भेद संस्कृत और फारसी शब्दों के प्रयोग पर निर्भर बतलाया था। इस भाषण में उन्होंने हिन्दी की बोलियों के स्वभाव की तरफ ध्यान दिलाया था, किस तरह वे संस्कृत शब्दों को ज्यों-का त्यों नहीं लेतीं। उन्होंने इस मुनक का जोरों से खण्डन किया कि हिन्दी में संस्कृत शब्दों की भरमार करने से वह सभी प्रान्तों के लोगों के लिए आसान हो जाएगी।

हिंदी-उर्दू की बुनियादी एकता के बारे में प्रेमचन्द कहते हैं—"हमारे सूबे के देहातों में रहनेवाले मुसलमान प्रायः देहातियों की भाषा ही बोलते हैं। जो बहुत से मुसलमान देहातों से जाकर शहरों में आबाद हो गए हैं, वे भी अपने घरों में देहाती जबान ही बोलते हैं। बोलचाल की हिन्दी समझने में न तो साधारण मुसलमानों को ही कोई कठिनाई होती है और न बोलचाल की उर्दू समझने में साधारण हिन्दुओं को ही। बोल चाल की हिन्दी और उर्दू प्रायः एक-सी हैं।"

यहाँ पर प्रेमचन्द ने इस अवैज्ञानिक सिद्धान्त का खण्डन किया है कि भाषा का आधार धर्म है और इसलिए हिन्दुओं की भाषा हिन्दी है और मुसलमानों की भाषा उर्दू है। उन्होंने धर्म के नाम पर भाषा और कौम का बँटवारा करनेवाले साम्राज्यवादी और सामन्ती भाषा-वैज्ञानिकों का खण्डन किया और हिन्दुस्तानी जाति की भाषा और संस्कृति के विकास में बहुत बड़ी मदद की। इस जाति की भाषा की लिपि के लिए वह देवनागरी लिपि के पक्षपाती थे। राष्ट्रभाषा-सम्मेलन में उन्होंने कहा था—"प्रान्तीय भाषाओं को हम प्रान्तीय लिपियों में लिखते जाएँ, कोई ऐतराज नहीं, लेकिन हिन्दुस्तानी भाषा के लिए हिन्दी लिपि रखना ही सुविधा की बात है, इसलिए नहीं कि हमें हिन्दी लिपि से खास मोह है, बल्कि हिन्दी लिपि का प्रचार बहुत ज्यादा है और उसके सीखने

में भी किसी को दिक्कत नहीं हो सकती। और जो लोग उर्दू लिपि के आदी हैं, उन्हें हिन्दी लिपि का व्यवहार करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। अगर ज़बान एक हो जाय, तो लिपि का भेद कोई महत्त्व नहीं रखता।"

हिन्दी-उर्दू को एक करने, कौमी भाषा और संस्कृति का नया विकास करने की ज़िम्मेदारी प्रेमचन्द अगली पीढ़ी पर छोड़ गए थे। उनके बताये हुए रास्ते पर चलकर ही हम उस ज़िम्मेदारी को पूरा कर सकते है। (१९५२)

२

उत्तर प्रदेश की सरकार और हिन्दी

१५ अगस्त, १९६५ की 'उत्तर प्रदेश पंचायती राज्य' नामक पत्रिका में श्रीमती सुचेता कृपालानी का एक लेख छपा है 'उत्तर प्रदेश और राष्ट्रभाषा'। इसमें उन्होंने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के सिलसिले में जो बातें कही हैं, उनका सम्बन्ध राजनीतिज्ञों से अधिक साहित्यकारों से है। आशा है, हिन्दी लेखक उन पर उचित ध्यान देंगे।

पहले तो उन्होंने यह बताया कि हिन्दी का प्रचार ग़लत ढंग से किया गया और वह ग़लत ढंग छोड़ देना चाहिए। फिर उन्होंने बताया कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का सही तरीक़ा क्या है।

जिस तरीक़े से हिन्दी का प्रचार हुआ, उससे अहिन्दी जनता के मन में यह प्रतिक्रिया पैदा हुई—"हम क्यों हिन्दी सीखें?"

"भाषा का प्रचार तलवार से नहीं होता।"

बिलकुल सही बात है। राज्यसत्ता कांग्रेस के हाथ में है। तलवार का किसी ने प्रयोग किया होगा तो वह कांग्रेसी नेता ही होगा। उत्तर भारत में तमिल के विरोध में या अंग्रेज़ी के विरोध में स्टेशनों, डाकख़ानों वग़ैरह पर हमला नहीं हुआ। इस तरह की कारवाई तमिलनाड में हुई। इसे तलवार का प्रयोग कहा जाय या प्रेम प्रदर्शन, यह कांग्रेस नेता तय करें। एक बात निश्चित है कि तलवार का प्रयोग हिन्दी जनता या हिन्दी प्रचारकों ने नहीं किया।

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का सही तरीक़ा उन्होंने यह बताया—

"हिन्दी भाषा को प्रगति पर लाएँ। हिन्दी को उस स्तर पर लाएँ कि हरेक हिन्दी को ख़ुशी से सीखे।"

"अगर भाषा उन्नत हो, भाषा मधुर हो, भाषा सुन्दर हो, भाषा में इतने शब्द हों या भाषा इस स्तर में पहुँची हो कि हमारी हरेक ज़रूरियात को पूरी कर सके तब लोग आप-से-आप भाषा को लेते हैं।"

"हिन्दी को अगर भारत की भाषा बनाना है, भारत की राष्ट्रभाषा बनाना है, तो हिन्दी-प्रेमी बैठकर खोज करें, अनुसंधान करें, किताबें लिखें, लोगों को बैठकर हिन्दी सिखाएँ। ऐसी सुन्दर किताबें लिखी जाएँ, ऐसी भाषा में किताबें लिखी जाएँ कि लोग उसे

ग्रहण करने के लिए आग्रह करें।"

"हिन्दी को लोगों द्वारा ग्राह्य बनाने के लिए तलवार से नहीं बल्कि साहित्य के महत्त्व से, साहित्य की उच्चता और सुन्दरता से और प्रचार और प्रसार करने के सुन्दर तरीके से यह होगी।"

जहाँ तक भाषा के सुन्दर और मधुर होने का सम्बन्ध है, हिन्दी जैसी है, वैसी है। हर व्यक्ति को अपनी भाषा सबसे ज्यादा मीठी लगती है। यदि वह कहे कि दूसरे की भाषा ज्यादा मीठी है तो समझना चाहिए कि उसके संस्कारों में कहीं कोई दोष है। मिठास के कारण कोई अपनी भाषा के मुक़ाबले दूसरी भाषा को महत्त्व नहीं देता।

जहाँ तक भाषा में 'हरेक जरूरियात' के शब्द होने का सवाल है, दस साल तक कांग्रेसी सरकार का शिक्षा-मंत्रालय और उसके विशेषज्ञ यह काम करते रहे हैं। यदि हिन्दी अभी तक आवश्यक शब्द इकट्ठे नहीं कर पाई, तो इसमें दोष सुचेताजी की पार्टी के नेताओं का है। लेकिन राजकाज के लिए उन तमाम शब्दों की ज़रूरत नहीं होती जिन्हें गढ़ने या इकट्ठा करने में दस साल से विशेषज्ञ लग रहे हैं। राजकाज की जरूरियात-भर को तो हिन्दी में शब्द हैं, भले ही हरेक ज़रूरियात के लिए न हों।

जहाँ तक साहित्य की उच्चता का सम्बन्ध है, अंग्रेज़ी काफ़ी उच्च भाषा है। लेकिन आगरा विश्वविद्यालय की बी० एस-सी० परीक्षाओं में जब से अंग्रेजी ऐच्छिक विषय हो गई है, तब से अंग्रेज़ी लेनेवाले छात्रों की संख्या लगभग अस्सी फी सदी कम हो गई है। जो बी० ए० में अंग्रेजी पढ़ते हैं, उनका हाल मत पूछिये। किताबें पढ़े बिना ही बाज़ार से या प्रोफ़ेसर के लिखाये हुए नोट पढ़कर पास होना चाहते हैं। जो छात्र एम० ए० में अंग्रेजी पढ़ते हैं, उनमें निन्यानवे फी सदी ऐसे होते हैं जो किसी तरह पास होना चाहते हैं या डिवीज़न बनाना चाहते हैं। साहित्य-प्रेम से उन्हें कोई वास्ता नहीं है।

अंग्रेज़ी के अलावा भारत की जो दूसरी मधुर भाषाएँ हैं उनके साहित्य को वे फूटी आँखों भी नहीं देखते। आगरा और लखनऊ में ऐसे हिन्दी-भाषी छात्र कम मिलेंगे जिन्होंने रवीन्द्रनाथ की रचनाएँ बँगला में पढ़ी हों। कलकत्ता के बँगलाभाषी युवक सुब्रह्मण्य भारती या वल्लत्तोल की रचनाएँ बड़े चाव से पढ़ते हों, ऐसा भी मेरे देखने में नहीं आया।

भारत की शिक्षा-व्यवस्था नौकरियों से जुड़ी है और नौकरियों की भाषा है अंग्रेज़ी। इसके लिए सुचेताजी की पार्टी के नेता जिम्मेदार हैं, हिन्दी साहित्यकार नहीं।

मान लिया कि हिन्दी भाषा सुन्दर नहीं है और उसका साहित्य घटिया किस्म का है। भारत की किन भाषाओं का साहित्य—अनुवादित हुए बिना—अन्य प्रदेशों में बहुतायत से पढ़ा जाता है? अंग्रेज़ी को भारतीय जीवन में जो महत्त्व दिया गया है, उससे समस्त भारतीय भाषाओं के पठन-पाठन में बाधा पड़ती है, हिन्दी के प्रचार-प्रसार में ही नहीं।

मान लिया, हिन्दी-प्रचारकों के गलत उत्साह के कारण लोग अहिन्दी प्रान्तों में हिन्दी से नाखुश हो गए। बंगाल में बँगला राजभाषा क्यों नहीं है? वहाँ बँगला के व्यवहार

पर किन लोगों ने प्रतिबन्ध लगाया है ? तमिलनाड में तमिल के व्यवहार पर किसने रोक लगाई है ?

हिन्दी प्रचारकों को दोष देना एक बहाना है जिससे केन्द्र और प्रान्तों में अंग्रेज़ी का चलन बना रहे।

खुद उत्तर प्रदेश में राजभाषा हिन्दी का क्या हाल है ?

'राष्ट्रभाषा सन्देश' (प्रयाग) ने २ सितम्बर, १९६४ के अंक में लिखा है, "वास्तविक स्थिति कम-से-कम उत्तर प्रदेश में यह है कि यहाँ निन्यानवे प्रतिशत से अधिक सरकारी काम अंग्रेज़ी में किया जाता है।"

उत्तर प्रदेश भारत का सबसे बड़ा हिन्दीभाषी राज्य है। सारे देश में हिन्दी की स्थिति क्या होगी है, यह बहुत कुछ उत्तर प्रदेश में हिन्दी की स्थिति पर निर्भर है।

उत्तर प्रदेश की मुख्यमन्त्री श्रीमती सुचेता कृपलानी ने हिन्दी भाषा में उच्च साहित्य की आवश्यकता पर जो विचार प्रकट किये हैं, वैसे विचार सन् '३६-'४० में कांग्रेसी नेता पहले भी प्रकट किया करते थे। लेकिन वे हिन्दी लिख-पढ़ लेते थे। सुचेताजी ने अपने उपयुक्त लेख में बताया है कि उन्होंने "मर-मरकर रोज सुबह एक घंटा लगाकर 'रामचरितमानस' पढ़ा। उसमें उन्हें कोई चीज मिली।" लेकिन मालूम होता है, लिखने में उन्हें अब भी कठिनाई होती है।

"मैं हिन्दी लिख नहीं सकती"—श्रीमती सुचेता कृपालानी का यह वाक्य पढ़कर किसे दुःख न होगा ? आशा है अगले चुनाव तक वह अपनी यह कठिनाई भी दूर कर लेंगी। तब शायद हिन्दी साहित्यकारों को वह जो उपदेश देंगी, वे और भी मधुर और लाभप्रद होंगे। (१९६५)

३

भारत का भाषा-संकट

श्री मोहनकुमार मंगलम ने अंग्रेजी में एक बहुत सुन्दर पुस्तक लिखी है जिसका नाम है—'भारत का भाषा-संकट'[1]। जो लोग चाहते हैं कि भारत में अंग्रेजी का प्रभुत्व खत्म हो, उन्हें यह पुस्तक जरूर पढ़नी चाहिए। उत्तर भारत में लाखों आदमी ऐसे हैं जो चाहते हैं कि हिन्दी राष्ट्रभाषा हो। वे चाहते हैं कि विभिन्न प्रदेशों में वहाँ की भाषाएँ राजभाषा के गौरवमय आसन पर प्रतिष्ठित हों। प्रश्न यह है कि वे राजभाषा क्यों नहीं बन पातीं ? कौन-सी शक्ति उन्हें अपने उचित आसन पर बैठने से रोकती है ?

श्री मोहनकुमार मंगलम की पुस्तक के छठे अध्याय में इस विषय का विवेचन किया गया है कि तमिलनाड में तमिल अभी तक क्यों राजभाषा नहीं बन पाई। तमिल को सरकारी तौर पर सन् '५७-५८ में राजभाषा बना दिया गया था किन्तु इसके बाद मद्रास में अंग्रेजी का रुतबा बढ़ा है, कम नहीं हुआ। अधिकांश विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। कुछ साल पहले अंग्रेजी की शिक्षा छठे दर्जे से शुरू होती थी, अब वह तीसरे दर्जे से शुरू होती है। शिक्षा-केन्द्रों में अंग्रेजी का प्रभुत्व अटल है। "माता-पिता सोचते हैं कि बेटे को तरक्की करनी है तो बढ़िया अंग्रेजी सीखकर ही वह आगे बढ़ सकता है। इसलिए जिन स्कूलों में शिक्षा का माध्यम तमिल थी, उनमें छात्रों की संख्या लगातार कम होती गई और वे अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा पाने लगे।"

तमिलनाड की जनता अपने मातृभाषा-प्रेम के लिए प्रसिद्ध है। उसे अपनी भाषा की प्राचीनता और साहित्य की समृद्धि पर उचित गर्व है। फिर क्या कारण है कि स्कूलों और कॉलेजों में तमिल शिक्षा का माध्यम नहीं हो पाती ?

इस प्रश्न का उत्तर श्री मोहनकुमार मंगलम ने बहुत स्पष्ट शब्दों में दिया है। उन्होंने लिखा है : "ऐसा इसलिए होता है कि सरकार और यूनिवर्सिटी-अधिकारियों ने छात्रों के सामने लक्ष्य यह रखा है—'अंग्रेजी खूब अच्छी तरह सीखो जिससे अखिल भारतीय स्तर पर ऊँची नौकरियों के लिए होड़ कर सको और यूनिवर्सिटी में भी कारगर ढंग से शिक्षा प्राप्त कर सको।" (शब्दों पर जोर मूल पुस्तक में है।)

---

१. इंडिया'ज लेंग्वेज क्राइसिस : मोहनकुमार मंगलम, प्रकाशक : न्यू सेंचुरी बुक हाउस मद्रास, पृ० १२२, मू० ५ रु०।

हमारे देश में शिक्षा-संस्थाएँ नौकरियों से जुड़ी हुई हैं। अंग्रेजों ने शासन-तन्त्र चलाने के लिए क्लर्क से लेकर कमिश्नर तक के लिए अंग्रेजी की शिक्षा अनिवार्य कर दी थी। वही स्थिति आज भी है।

श्री मोहनकुमार मंगलम ने दो साल पहले दिया हुआ श्री भक्तवत्सलम का भाषण उद्धृत किया है। इसमें उन्होंने कहा था, "माता पिता चाहते हैं कि उनके बच्चे सरकारी नौकरियाँ पाएँ। राज्य की नौकरियों के मुकाबले में केन्द्रीय नौकरियाँ ज्यादा आकर्षक होती हैं। इसलिए माता-पिता और छात्रों की भी पहली तमन्ना यह होती है कि वे आई० ए० एस० और आई० पी० एस० जैसी केन्द्रीय सेवाओं की परीक्षा में बैठें।" यही कारण है कि तमिलनाड में तमिल राजभाषा नहीं बन पाती। उसे कागजी तौर पर राज-भाषा बना दिया जाता है लेकिन वास्तविक प्रभुसत्ता रहती है अंग्रेजी के हाथ में। श्री मोहनकुमार मंगलम के शब्दों में—'अंग्रेजी की शिक्षा पाये बिना किसी भी तमिलभाषी के लिए केन्द्रीय नौकरी पाने का सवाल नहीं उठता।"

कांग्रेसी नेताओं ने केन्द्र में अंग्रेजी का प्रभुत्व कायम रखकर राज्यों में वहाँ की भाषाओं को पददलित कर रखा है। तमिल-जैसी प्राचीन और सम्पन्न भाषा अंग्रेजी की दासी बनी हुई है। मद्रास में तमिल राजभाषा नहीं बन पाई, इसका कारण यह नहीं है कि हिन्दी उसका दमन और पतन कर रही है, इसका कारण यह है कि कांग्रेसी नेताओं ने साम्राज्यवादियों की चलाई हुई—शासन-तन्त्र और शिक्षा के बारे में अंग्रेजी व्यवहार की—नीति को बरकरार रखा है। इस नीति के लिए केवल हिन्दी-क्षेत्र के नेता जिम्मेदार नहीं हैं—यद्यपि उन्हें ज्यादा शर्म आनी चाहिए क्योंकि वे हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का दावा भी करते हैं।—अहिन्दी क्षेत्रों के नेता भी उतने ही जिम्मेदार हैं।

भारतीय भाषाओं में मुख्य अन्तर्विरोध हिन्दी अहिन्दी का नहीं है, मुख्य अन्तर्विरोध अंग्रेजी और समस्त भारतीय भाषाओं का है। राज्यों में अंग्रेजी के प्रभुत्व का कारण है—केन्द्रीय सेवाओं में उसका व्यवहार।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब तक केन्द्रीय सेवाओं से अंग्रेजी न हटेगी, तब तक तमिल भी मद्रास में व्यावहारिक रूप में राजभाषा न बनेगी। इसलिए समाधान ऐसा होना चाहिए जिससे केन्द्रीय सेवाओं में अंग्रेजी का चलन खत्म हो।

श्री मोहनकुमार मंगलम ने कांग्रेस के पुराने प्रस्ताव का हवाला देते हुए सभी भारतीय भाषाओं को अखिल भारतीय परीक्षाओं का माध्यम बनाने की बात कही है। उनका सुझाव सही है। कमी इतनी है कि उन्होंने केन्द्रीय सेवाओं में केवल परीक्षाओं के लिए भारतीय भाषाओं के ऐच्छिक माध्यम होने का सवाल उठाया है। जब मद्रास के छात्र तमिल में परीक्षा देकर अफसर बनेंगे, तब वे अंग्रेजी का व्यवहार करेंगे, या भारतीय भाषाओं का—इस प्रश्न पर उन्होंने विचार नहीं किया। अखिल भारतीय सेवाओं का माध्यम अंग्रेजी ही रहेगी—इसलिए संकट ज्यों-का-त्यों बना रहता है। परीक्षा आप चाहे जिसमें दे लें, काम अंग्रेजी में ही करना पड़ेगा।

श्री मोहनकुमार मंगलम ने तीन भाषाओंवाले फार्मूले का समर्थन किया है। इस फार्मूले में अंग्रेज़ी का स्थान सुरक्षित है। अंग्रेज़ी का स्थान सुरक्षित रखकर अंग्रेज़ी का प्रभुत्व नहीं खत्म किया जा सकता। फलतः तमिलनाड में भी तमिल को राजभाषा और उच्च शिक्षा का माध्यम भी नहीं बनाया जा सकता।

अंग्रेज़ी की शिक्षा वैकल्पिक हो—यह माँग करनी चाहिए। किसी भी स्वाधीन देश के विद्यालयों में किसी विशेष विदेशी भाषा का अध्ययन सभी छात्रों के लिए अनिवार्य नहीं होता। केन्द्र में अंग्रेज़ी का प्रभुत्व ख़त्म करना चाहिए। उसकी जगह हिन्दी चले या अनेक भारतीय भाषाओं का व्यवहार हो—श्री मोहनकुमार मंगलम जो फ़ैसला करेंगे, मैं उसका समर्थन करूँगा। लेकिन केन्द्र में अंग्रेज़ी चलाते रहने से भारत का भाषा-संकट हल न होगा, उल्टे वह और गहरा होगा और इससे तमिल को उतनी ही हानि होगी जितनी हिन्दी को।

भारतीय भाषाओं को प्रदेशों में राजभाषा का पद न दिया जाय—इसके लिए अंग्रेज़ी-प्रेमी विद्वान तर्क देते हैं कि वे भाषाएँ पिछड़ी हुई हैं। यद्यपि किसी ने भारतीय भाषाओं में एक भाषा लेकर वैज्ञानिक परीक्षा करके यह नहीं दिखाया कि पिछड़ापन किस बात में है—फिर भी यह सर्वमान्य सत्य बन गया है कि अंग्रेज़ी के मुक़ाबले में भारतीय भाषाएँ आम तौर से—और हिन्दी ख़ास तौर से—पिछड़ी हुई हैं।

तमिल विकसित भाषा है या नहीं? उसमें मद्रास राज्य का सरकारी काम हो सकता है या नहीं? उसमें उच्च शिक्षा दी जा सकती है या नहीं?

श्री मोहनकुमार मंगलम ने इन प्रश्नों के परस्पर-विरोधी उत्तर दिये हैं। उनकी समझ में भारत के भाषा-संकट का मुख्य कारण यह है कि सरकारी परवरिश के कारण हिन्दी को विकसित होने का मौका मिला लेकिन अहिन्दी भाषाएँ अविकसित रह गईं। इसलिए समस्या का समाधान यह है कि पहले इन भाषाओं को राजभाषा बना दिया जाय, उन्हें विकसित होने दिया जाय, इसके बाद ही केन्द्र से अंग्रेज़ी हटाने का सवाल उठेगा।

उन्होंने लिखा है, "हमें यह न भूलना चाहिए कि अपनी प्राचीनता, अपनी देन, अपने उत्कृष्ट साहित्य आदि गुणों के बावजूद वे किसी भी समय, बहुत से बहुत, एक संकुचित गुट के विचारों का वाहन ही रही हैं।"

इसका अर्थ है कि वे वर्तमान सभ्य समाज की शिक्षा-संस्कृति-राजनीति का माध्यम बनने के योग्य नहीं हैं।

उनके विचार से अंग्रेज़ों के आने से पहले भारत की संस्कृति प्राचीन होते हुए भी गतिरुद्ध (स्टैगनेन्ट कल्चर ऑफ़ इंडिया) हो चुकी थी। अंग्रेज़ी के प्रभुत्व से भारतीय भाषाओं की प्रगति रुक गई थी, "अर्थात् आधुनिक भाषाओं के रूप में, आधुनिक विचारों को प्रकट करनेवाले माध्यम के रूप में विकसित होने से रोका गया।"

मैं नहीं जानता कि वे आधुनिक विचार कौन से हैं जो तमिल या हिन्दी के माध्यम से प्रकट नहीं किए जा सकते। इतना ज़रूर कह सकता हूँ कि आदरणीय बन्धु मोहनकुमार

मंगलम ने जो विचार इस पुस्तक में प्रकट किये हैं, वे किसी भी भारतीय भाषा में बखूबी प्रकट किए जा सकते हैं।

कुमार मंगलमजी ने यह मत भी बड़ी स्पष्टता से प्रकट किया है कि भारतीय भाषाएँ सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप पूर्णतः विकसित हैं। उन्होंने पुस्तक के पृष्ठ ४० पर लिखा है—

"हकीकत यह है कि (आठवीं अनुसूची में उल्लिखित) सभी भाषाएँ विकसित भाषाएँ हैं। इन्हें करोड़ों आदमी बोलते हैं और मानते हैं कि उच्च शिक्षा का माध्यम बनने के लिए वे पूरी तरह विकसित हैं।"

यदि भारतीय भाषाएँ विकसित हैं तो भाषा-संकट इसलिए नहीं पैदा हो गया कि सरकार ने हिन्दी को ज्यादा विकसित कर दिया है और तमिल पीछे रह गई है। भाषाएँ अविकसित हैं—यह एक बहाना है जो हिन्दी और तमिल, सभी भारतीय भाषाओं के खिलाफ इस्तेमाल किया जाता है। संकट का असली कारण है केन्द्र में अंग्रेजी का प्रभुत्व। इसी प्रभुत्व के कारण तमिल अपने प्रदेश में राजभाषा नहीं बनी, इसी कारण वह शिक्षा का माध्यम नहीं बनी। जो भी केन्द्र में अंग्रेजी कायम रखकर राज्यों से अंग्रेजी हटाने का सपना देखता है वह अपने को और दूसरों को धोखा देता है। जब तक केन्द्रीय सेवाओं में अंग्रेजी का चलन रहेगा, तब तक मद्रास का विद्यार्थी कभी अंग्रेजी छोड़ने को राजी न होगा।

श्री मोहनकुमार मंगलम कम्युनिस्ट पार्टी के पुराने कार्यकर्ता हैं। श्रमिक जनता के आन्दोलन से उनका गहरा सम्बन्ध रहा है। उनसे हम आशा कर सकते हैं कि वे मजदूर वर्ग की एकता और भाषा-समस्या पर भी कुछ कहेंगे। लेकिन उन्होंने इस पर कुछ नहीं कहा।

अखिल भारतीय स्तर पर मजदूरों के संगठन की भाषा अंग्रेजी क्यों है? अखिल भारतीय किसान-सभा के केन्द्रीय दफ्तर की कार्यवाही अंग्रेजी में क्यों होती है (या होती थी)? कम्युनिस्ट पार्टी के नेता सम्पर्क भाषा के रूप में अंग्रेजी का व्यवहार क्यों करते हैं? कम्युनिस्ट पार्टी के केन्द्रीय दफ्तर में अंग्रेजी का व्यवहार क्यों होता है? पार्टी और जन-संगठनों में अंग्रेजी के इस प्रभुत्व से हानि होती है या लाभ? श्री मोहनकुमार मंगलम ने ऐसा एक भी सवाल अपनी पुस्तक में नहीं उठाया। यह उसकी सबसे बड़ी कमजोरी है।

इस देश में जब अंग्रेज आए, तब यहाँ के राजा और नवाब, मिलकर उनसे लड़ने के बजाय, आपस में लड़ते रहे। आपस में लड़ने के लिए वे बारी-बारी से अंग्रेजों की मदद लेते रहे और अंग्रेज बारी-बारी से उन्हें खत्म करके उनका राज्य हड़पते रहे।

वर्तमान काल में जातीय विद्वेष जोर से बढ़ा है। गोआ को लेकर मैसूर के मुख्यमन्त्री ने जितनी सरगर्मी महाराष्ट्र के विरुद्ध दिखाई है उतनी सरगर्मी पुर्तगाल के खिलाफ न दिखाई थी। भाषा की समस्या जातीय समस्या का अंग है। भारतीय भाषाओं के हिमायती आपस में लड़ते हैं और अंग्रेजी की जय बोलते हैं। जातीय विद्वेष का एक रूप भाषागत

विद्वेष है। इस तरह का द्वेष पूंजीपतियों के लिए स्वाभाविक है; पूंजीवादी विचारधारा से प्रभावित मध्यवित्त श्रेणी के बुद्धिजीवियों के लिए यह विद्वेष बहुत कुछ सुखकर और जीवन की मुख्य प्रेरणा है। केवल मज़दूर वर्ग में यह क्षमता है कि वह इस विद्वेष से ऊपर उठकर अन्तर्जातीय भाईचारे के आधार पर राष्ट्रीय एकता दृढ़ करे। इसीलिए अंग्रेजी और मज़दूर वर्ग की अखिल भारतीय एकता का प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

भाषा-संकट क्यों पैदा हुआ, मद्रास में अंग्रेजी क्यों कायम रहती है, संविधान के निर्माताओं की किन गलतियो से प्रादेशिक भाषाओ का चलन न हुआ यह समस्त सूक्ष्म विश्लेषण, कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर अंग्रेज़ी के व्यवहार पर नज़र डालते ही, वकीलों की जिरह की तरह क़ानूनी तौर पर सही परन्तु न्याय के प्रतिकूल मालूम होने लगता है। भला भाषाओं के विकास में 'इम्बैलेन्स' पैदा हो जाने से कम्युनिस्ट पार्टी में अंग्रेज़ी का चलन क्यों हो ?

भारतीय जनतंत्र को चलाने के लिए आसमान से फरिश्ते नहीं आते। वर्तमान युग में जनतंत्र को चलाती हैं पार्टियाँ और पार्टियों के नेता। जब तक देश की राजनीतिक पार्टियाँ अपना अखिल भारतीय काम अंग्रेज़ी में करती है, तब तक न तो वे देश की भाषा-समस्या हल कर सकती है, न दरअसल उन्हें इस समस्या पर बोलने का नैतिक अधिकार है।

श्री मोहनकुमार मंगलम ने लिखा है कि हर नागरिक को यह अधिकार होना चाहिए कि वह लोकसभा में अपनी मातृभाषा मे बोल सके।

मैं इस माँग का समर्थन करता हूँ। हमारे साथी बोलें तो भारतीय भाषाओं में। फिर देखें, हिन्दी और अहिन्दी-भाषियों का कैसा जबर्दस्त अंग्रेजी-विरोधी मोर्चा बनता है। लेकिन वे खुद बोलेंगे अंग्रेजी में; दूसरों के लिए मातृभाषा में बोलने का अधिकार माँगेंगे ! इस तरह सात जन्म में अंग्रेज़ी का प्रभुत्व दूर न होगा।

लोकसभा में भारतीय भाषाओ का व्यवहार कीजिए। जन-संगठनों का अखिल भारतीय काम देशी भाषाओं में कीजिए। अपने केन्द्रीय दफ्तर से अंग्रेज़ी निकालिए। भारत का भाषा-संकट हल करने का यही कारगर तरीका है।